हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—२८

भरत का संगीत-सिद्धान्त

लेखक

श्री कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति

एम ए, शास्त्री

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश

प्रथम सस्करण

१९५९

मूल्य

साढे छ रुपये

मुद्रक

प० पृथ्वीनाथ भार्गव,

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य की समुन्नति एव सवृद्धि के लिए उत्तर प्रदेश शासन ने हिन्दीसमिति के तत्त्वावधान में विविध विषयो के ग्रन्थ प्रकाशित करने की जो योजना वनायी थी, उसी के अन्तर्गत यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। इसमें महर्षि भरत के सगीत-सिद्धान्त का सम्यक् विवेचन किया गया है। इसके लेखक हैं सनातनधर्म कालेज, कानपुर के यशस्वी प्राध्यापक श्री कैलासचन्द्र देव बृहस्पति। यह हिन्दी समिति ग्रन्थमाला का २८वाँ पुष्प है।

लेखक के पूर्वज, कम से कम चार पीढियो से, रामपुर राज्य के दरवार में रहे हैं, अत सगीतसम्वन्धी सस्कार उन्हें प्राय आनुषगिक रूप से ही प्राप्त हुए हैं। उन्हें ऐसे "सद्गुरुओ" के चरणो में वैठकर स्वर-साधना करने का अवसर प्राप्त हुआ है जिन पर आज के अनेक सुप्रसिद्ध एव सुसम्मानित सगीत-शास्त्रियो की भी अपार श्रद्धा है। अनेक विद्वानो की सत्सगति और अभ्रान्त पथ-प्रदर्शन का भी सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ है। इसके सिवा उन्होने भरत के मूल नाटचशास्त्र, शार्ङ्गदेव के सगीतरत्नाकर आदि अनेक ग्रन्थो का वर्षों से अनुशीलन और मनन किया है, जिसकी स्पष्ट छाप हमें इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में देखने को मिलती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ महर्षि भरत के "नाटच-शास्त्र" का अनुवाद नही है। यह उनके सगीतसम्वन्धी सिद्धान्तो का व्याख्यात्मक विवेचन एव मण्डनात्मक विश्लेषण है। भरत मुनि ने सगीत के सम्वन्ध में जो कुछ लिखा, कालगति के प्रभाव से वह दुर्वोध होने लगा था, अत उनके विचारो को स्पष्ट करने के लिए मतग, नान्यदेव, कुभ, शार्ङ्गदेव आदि ने अपनी-अपनी रचनाओ में उनका पर्याप्त विवेचन किया। हिन्दी में

इस विषय पर कोई ग्रन्थ अभी तक नही लिखा गया था। वृहस्पतिजी ने प्रस्तुत पुस्तक की रचना कर इस अभाव की पूर्त्ति कर दी है। मूल विपय का वर्णन और स्पष्टीकरण समाप्त कर चुकने के बाद आपने अन्त के चार अनुबन्धो में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और परमोपयोगी है। ग्रन्थ अत्यन्त परिश्रमपूर्वक और बडी खोज के साथ लिखा गया है। हमें पूरी आशा है कि सगीत के प्रेमियो और उसका विशिष्ट अध्ययन करनेवालो के लिए यह पुस्तक परम लाभदायक प्रमाणित होगी।

भगवतीशरण सिंह

सचिव, हिन्दी समिति

भूमिका

जर्मनी के महाकवि गेटे ने कहा है कि एक महान् चिन्तक जो सबसे बडा सम्मान आगामी पीढियो को अपने प्रति अर्पण करने के लिए बाध्य करता है, वह है उसके विचारो को समझने का सतत प्रयत्न। महर्षि भरत ऐसे ही महान् चिन्तक थे, जिन्हें समझने की चेष्टा मनीषियो ने शताब्दियो से की है, परन्तु जिनके विषय में कदाचित् कोई भी यह न कहेगा कि अब कुछ कहने को शेष नही है। उनके रस-सिद्धान्त पर बडे-बडे कवियो और समालोचको ने बहुत कुछ लिखा है और अभी न जाने कितने ग्रन्थ लिखे जायँगे। उन्होंने सङ्गीत पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही लिखा, उनका ग्रन्थ है नाटच-शास्त्र। अपने यहाँ सङ्गीत नाटच का प्रधान अङ्ग माना गया है। भरत ने नाटच में सङ्गीत का महत्त्व इन शब्दो में स्वीकार किया है—

"गीते प्रयत्न प्रथम तु कार्यं शय्या हि नाटचस्य वदन्ति गीतम्।
गीते च वाद्ये च हि सुप्रयुक्ते नाटच-प्रयोगो न विपत्तिमेति ॥"

अर्थात् नाटच-प्रयोक्ता को पहले गीत का ही अभ्यास करना चाहिए, क्योकि गीत नाटच की शय्या है। यदि गीत और वाद्य का अच्छे प्रकार से प्रयोग हो, तो फिर नाटच-प्रयोग में कोई कठिनाई नही उपस्थित होती।

अत भरत ने अपने नाटचशास्त्र में सङ्गीत पर भी कुछ अध्याय लिखे हैं, किन्तु इन थोडे से ही अध्यायो में उन्होंने सङ्गीत के सब मूलभूत सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर दिया है और उनके साथ ही अपने समय के 'जातिगान' का भी वर्णन किया है। काल-गति से भरतकालीन सङ्गीत में कुछ अन्तर आ गया और उन्होंने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह दुर्बोध होने लगा। मतङ्ग के समय में भी—जिनका काल प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार नवी शती ई० है—भरत के सिद्धान्तो का समझना कठिन हो गया था। फिर भी भरत-सम्प्रदाय के समझनेवाले शार्ङ्गदेव के काल (१३वी शती ई०) तक वर्तमान थे। उसके अनन्तर भरत-सम्प्रदाय का लोप-सा ही हो गया। भरत ने सङ्गीत

---

१ भरत ना शा सा, नि सा म, अध्याय ३५श्लोक ४४१, पृ ६०३

पर जो कुछ लिखा है, वह वहुत ही सक्षिप्त रूप में है। साथ ही उनके समय के सङ्गीत की सज्ञाएँ भी धीरे-धीरे वदलती गयी, इसलिए उनके सिद्धान्त को समझना कठिन हो गया। अतीत में उनके विचारो को स्पष्ट करने के लिए मतङ्ग, नान्यदेव, अभिनव-गुप्त, कुम्भ, शार्ङ्गदेव इत्यादि विद्वानो ने अपने-अपने ग्रन्थो में पर्याप्त रूप से लिखा। इधर बीसवी शती में भरत पर फिर चर्चा प्रारम्भ हुई। श्री क्लेमेण्ट्स्, श्री देवल, प्रो० पराञ्जपे, प० विष्णुनारायण भातखण्डे, श्री कृष्णराव गणेश मुले और प० ओकारनाथ ठाकुर इत्यादि विद्वानो ने भरत के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। श्री कृष्णराव गणेश मुले ने अपने मराठी ग्रन्थ 'भारतीय सङ्गीत' में भरत-सिद्धान्त का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। मैंने कुछ मराठी मित्रो की सहायता से यह ग्रन्थ पढा। इससे मुझे भरत-सिद्धान्त को समझने में वडी सहायता मिली। मैं यह सोचता था कि यदि इसका अनुवाद हिन्दी में हो जाता तो वहुत अच्छा होता। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थ का अभाव मुझे खटकता रहा। यह वडे हर्ष का विषय है कि प० कैलासचन्द्र देव वृहस्पति ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है। आपका 'भरत का सगीत-सिद्धान्त' किसी ग्रन्थ का अनुवाद नही है। आपने भरत के मूल नाट्यशास्त्र, मतङ्ग की वृहद्देशी, शार्ङ्गदेव के सङ्गीत-रत्नाकर इत्यादि ग्रन्थो का वीस वर्ष से अध्ययन और मथन किया है। आप सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं और साथ ही आपको सङ्गीत का क्रियात्मक ज्ञान भी है। अत आप भरत पर लिखने के लिए वहुत ही उपयुक्त अधिकारी हैं। आपने छ अध्यायो में भरत के मुख्य सिद्धान्तो का वहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है और कुछ ज्ञातव्य विषयो पर चार अनुवन्ध भी जोड दिये हैं। आपने मूल ग्रन्थो का परिशीलन तो किया ही है, प्रो० रामकृष्ण कवि के 'भरत-कोश' का भी पूरा उपयोग किया है। ग्रन्थ भर में आपने किसी अन्य ग्रन्थकार का कही व्यक्तिगत खण्डन नही किया है। आपका ग्रन्थ केवल मण्डनात्मक है, इसे पढकर विज्ञ पाठक स्वय नीर-क्षीर-विभेद कर सकेंगे।

भूमिका-लेखक के लिए एक वडी कठिनाई यह होती है कि यदि वह ग्रन्थ के विषयो

पहले अध्याय में लेखक ने ग्राम, श्रुति और स्वर पर विचार किया है। स्वरो के समूह को ग्राम कहते हैं। स्वरो से ग्राम और श्रुतियो से स्वर बने हैं। परस्पर-सम्बद्ध होने के कारण इन सबका एक साथ विचार इस अध्याय में किया गया है। महाराज कुम्भ ने ग्राम की बहुत सुन्दर परिभाषा की है —

— "व्यवस्थितश्रुतियुता यत्र सवादिन स्वरा ।
मूर्च्छनाद्याश्रयो नाम स ग्राम इति सज्ञित ॥"[१]

अर्थात् ग्राम 'सवादी स्वरो' का वह समूह है जिसमें श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में विद्यमान हो और जो मूर्च्छना इत्यादि का आश्रय हो। भरत ने केवल षड्ज और मध्यम ग्राम का वर्णन किया है। उन्होने गान्धार ग्राम की चर्चा नही की है। लेखक ने यह स्पष्ट रूप से बतलाया है कि भरत ने श्रुतियो की व्यवस्था सवादित्व के आधार पर की है। पहले क्रियात्मक रूप से देख लिया कि कौन-कौन स्वर परस्पर सवादी हैं, फिर उन्होने यह जानने की चेष्टा की कि सवादी स्वर कितनी श्रुतियो के अन्तर पर स्थित हैं, फिर क्रमश उन्होने प्रत्येक स्वर की श्रुतिसख्या प्राप्त की।

लेखक ने पहले यह दिखलाया है कि किस प्रकार नवतन्त्री विपञ्ची वीणा पर षड्ज, ऋषभ, भरतोक्त शुद्ध गान्धार, अन्तरगान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद और काकलीनिषाद प्राप्त होते हैं। इस अध्याय का 'श्रुति-दर्शन-विधान' बहुत ही पाण्डित्य-पूर्ण है। इसमें लेखक ने पहले भरत की चतु सारणाएँ विस्तारपूर्वक समझायी हैं और यह दिखलाया है कि उनसे किस प्रकार श्रुतियो की सख्याएँ प्राप्त होती है। इसके अनन्तर लेखक ने यह दिखलाया है कि उनके द्वारा निर्मित 'श्रुतिदर्पण' वाद्य पर किस प्रकार समस्त सारणाएँ सम्पन्न हो जाती हैं और श्रुतियो की सख्याएँ सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकती हैं। यदि यह 'श्रुति-दर्पण' बनवाकर सगीत-विद्यालयो को दे दिया जाय, तो श्रुतियो के समझने में छात्रो का बहुत उपकार होगा। भरत का श्रुति-सम्बन्धी मत नाट्यशास्त्र के एक पृष्ठ में दिया हुआ है, किन्तु वह इतना सक्षिप्त है कि विद्वानो के लिए विवाद का विषय बन गया है। लेखक का स्पष्टीकरण प्रो० मुले के स्पष्टीकरण से बहुत मिलता है। यदि किसी प्रयोगशाला में विज्ञान और गणित के आधार पर इन श्रुतियो का विश्लेषण किया जाय, तो मैं समझता हूँ कि यह विवाद सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

इसके अनन्तर लेखक ने श्रुतियो के परिमाण पर विचार किया है और यह सिद्ध

---

१ भरतकोश पृ० १८९

पर जो कुछ लिखा है, वह वहुत ही सक्षिप्त रूप में है। साथ ही उनके समय के सङ्गीत की सज्ञाएँ भी धीरे-धीरे वदलती गयी, इसलिए उनके सिद्धान्त को समझना कठिन हो गया। अतीत में उनके विचारो को स्पष्ट करने के लिए मतङ्ग, नान्यदेव, अभिनव-गुप्त, कुम्भ, शार्ङ्गदेव इत्यादि विद्वानो ने अपने-अपने ग्रन्थो में पर्याप्त रूप से लिखा। इधर बीसवी शती में भरत पर फिर चर्चा प्रारम्भ हुई। श्री क्लेमेण्ट्स्, श्री देवल, प्रो० पराञ्जपे, प० विष्णुनारायण भातखण्डे, श्री कृष्णराव गणेश मुले और प० ओंकारनाथ ठाकुर इत्यादि विद्वानो ने भरत के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। श्री कृष्णराव गणेश मुले ने अपने मराठी ग्रन्थ 'भारतीय सङ्गीत' में भरत-सिद्धान्त का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। मैंने कुछ मराठी मित्रो की सहायता से यह ग्रन्थ पढा। इससे मुझे भरत-सिद्धान्त को समझने में वडी सहायता मिली। मैं यह सोचता था कि यदि इसका अनुवाद हिन्दी में हो जाता तो वहुत अच्छा होता। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थ का अभाव मुझे खटकता रहा। यह वडे हर्ष का विषय है कि प० कैलासचन्द्र देव बृहस्पति ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है। आपका 'भरत का सगीत-सिद्धान्त' किसी ग्रन्थ का अनुवाद नही है। आपने भरत के मूल नाटचशास्त्र, मतङ्ग की वृहद्देशी, शार्ङ्गदेव के सङ्गीत-रत्नाकर इत्यादि ग्रन्थो का वीस वर्ष से अध्ययन और मथन किया है। आप सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं और साथ ही आपको सङ्गीत का क्रियात्मक ज्ञान भी है। अत आप भरत पर लिखने के लिए वहुत ही उपयुक्त अधिकारी हैं। आपने छ अध्यायो में भरत के मुख्य सिद्धान्तो का वहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया है और कुछ ज्ञातव्य विषयो पर चार अनुबन्ध भी जोड दिये हैं। आपने मूल ग्रन्थो का परिशीलन तो किया ही है, प्रो० रामकृष्ण कवि के 'भरत-कोश' का भी पूरा उपयोग किया है। ग्रन्थ भर में आपने किसी अन्य ग्रन्थकार का कही व्यक्तिगत खण्डन नही किया है। आपका ग्रन्थ केवल मण्डनात्मक है, इसे पढकर विज्ञ पाठक स्वय नीर-क्षीर-विभेद कर सकेंगे।

भूमिका-लेखक के लिए एक वडी कठिनाई यह होती है कि यदि वह ग्रन्थ के विषयो पर अपनी भूमिका में ही बहुत कुछ कह देता है तो वह ग्रन्थकार के साथ अन्याय करता है, क्योकि प्रतिपाद्य विषयो पर ग्रन्थकार का विचार पाठक को ग्रन्थ से ही मिलना चाहिए। यदि वह प्रतिपाद्य विषयो पर कुछ नही कहता, तो भी वह ग्रन्थकार के साथ अन्याय करता है, क्योकि फिर वह ग्रन्थ के प्रति पाठको का ध्यान ही नही आकृष्ट कर सकता। मैने इस उभयापत्ति के मध्य का मार्ग ग्रहण किया है। अत इस भूमिका में कुछ सकेत मात्र कर रहा हूँ जिससे पाठक यह जान जायँ कि प्रतिपाद्य विषय क्या है, परन्तु उनको विस्तृत रूप से जानने की उत्सुकता बनी रहे।

पहले अध्याय में लेखक ने ग्राम, श्रुति और स्वर पर विचार किया है। स्वरो के समूह को ग्राम कहते हैं। स्वरो से ग्राम और श्रुतियो से स्वर वने हैं। परस्पर-सम्वद्ध होने के कारण इन सवका एक साथ विचार इस अध्याय में किया गया है। महाराज कुम्भ ने ग्राम की वहुत सुन्दर परिभाषा की है —

"व्यवस्थितश्रुतियुता यत्र सवादिन स्वरा।
मूर्च्छनाद्याश्रयो नाम स ग्राम इति सज्ञित ॥"[1]

अर्थात् ग्राम 'सवादी स्वरो' का वह समूह है जिसमें श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में विद्यमान हो और जो मूर्च्छना इत्यादि का आश्रय हो। भरत ने केवल षड्ज और मध्यम ग्राम का वर्णन किया है। उन्होंने गान्धार ग्राम की चर्चा नही की है। लेखक ने यह स्पष्ट रूप से वतलाया है कि भरत ने श्रुतियो की व्यवस्था सवादित्व के आधार पर की है। पहले क्रियात्मक रूप से देख लिया कि कौन-कौन स्वर परस्पर सवादी हैं, फिर उन्होने यह जानने की चेष्टा की कि सवादी स्वर कितनी श्रुतियो के अन्तर पर स्थित हैं, फिर क्रमश उन्होंने प्रत्येक स्वर की श्रुतिसख्या प्राप्त की।

लेखक ने पहले यह दिखलाया है कि किस प्रकार नवतन्त्री विपञ्ची वीणा पर षड्ज, ऋषभ, भरतोक्त शुद्ध गान्धार, अन्तरगान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद और काकलीनिषाद प्राप्त होते हैं। इस अध्याय का 'श्रुति-दर्शन-विधान' वहुत ही पाण्डित्य-पूर्ण है। इसमें लेखक ने पहले भरत की चतु सारणाएँ विस्तारपूर्वक समझायी हैं और यह दिखलाया है कि उनसे किस प्रकार श्रुतियो की सख्याएँ प्राप्त होती हैं। इसके अनन्तर लेखक ने यह दिखलाया है कि उनके द्वारा निर्मित 'श्रुतिदर्पण' वाद्य पर किस प्रकार समस्त सारणाएँ सम्पन्न हो जाती हैं और श्रुतियो की सख्याएँ सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकती हैं। यदि यह 'श्रुति-दर्पण' वनवाकर सगीत-विद्यालयो को दे दिया जाय, तो श्रुतियो के समझने में छात्रो का वहुत उपकार होगा। भरत का श्रुति-सम्वन्धी मत नाटचशास्त्र के एक पृष्ठ में दिया हुआ है, किन्तु वह इतना सक्षिप्त है कि विद्वानो के लिए विवाद का विषय वन गया है। लेखक का स्पष्टीकरण प्रो० मुले के स्पष्टीकरण से वहुत मिलता है। यदि किसी प्रयोगशाला में विज्ञान और गणित के आधार पर इन श्रुतियो का विश्लेषण किया जाय, तो मैं समझता हूँ कि यह विवाद सदा के लिए समाप्त हो जायगा।

इसके अनन्तर लेखक ने श्रुतियो के परिमाण पर विचार किया है और यह सिद्ध

---

१ भरतकोश पृ० १८९

किया है कि श्रुतियो का परस्पर अन्तर बराबर नही है। प्रो० मुले ने भी अपने ग्रन्थ में 'श्रुतीचें गणितमूल्य' शीर्षक के अन्तर्गत प्रो० वी० जी० पराजपे के एक लेख के आधार पर गणित द्वारा यह सिद्ध किया है कि श्रुतियो के अन्तर सम नही, विषम है।

दूसरे अध्याय में लेखक ने मूर्च्छना पर विचार किया है। भरत का मूर्च्छना से क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण लेखक ने शास्त्र के प्रचुर प्रमाणो से किया है। मूर्च्छन का अर्थ उभरना या चमकना है। भरत के मत में सप्त स्वरो का क्रमपूर्वक प्रयोग ही मूर्च्छना है—

"क्रमयुक्ता स्वरा सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसज्ञिता।"

लेखक ने यह सिद्ध किया है कि सप्तस्वरता मूर्च्छना का मुख्य लक्षण है। अत भरत-मत से सम्पूर्ण अवस्था को ही मूर्च्छना कह सकते हैं। 'औडुवित' और 'षाडवित' अवस्थाएँ मूर्च्छना नही, तान हैं। इसके अनन्तर लेखक ने षड्ज और मध्यम ग्राम की मूर्च्छनाओ के नाम और स्वर दिये है और दोनो ग्रामो की मूर्च्छनाओ का मण्डल-प्रस्तार द्वारा स्पष्टीकरण किया है। इसके बाद मूर्च्छनाओ पर आश्रित तानो के नाम और 'सरगम' दिये गये हैं।

मूर्च्छनाओ के प्रयोजन को लेखक ने बहुत सुन्दर रीति से समझाया है। इसका इतना विशद और पाण्डित्यपूर्ण वर्णन अन्यत्र नही मिलता।

आपने यह दिखलाया है कि भरतोक्त जाति के वादन के लिए मन्द्र स्थान और तार स्थान में जाने के लिए परावधि निश्चित थी। ये दोनो पराकाष्ठाएँ मत्तकोकिला वीणा पर उस समय सरलतापूर्वक सभव होती थी जब कि तीनो सप्तको में एक विशिष्ट मूर्च्छना उस पर मिली हो। मूर्च्छनाओ का आश्रय लेने से मन्द्र और तार की अवधियो की प्राप्ति हो जाती थी। भरत के अनन्तर मन्द्रावधि और तारावधि के नियम में शिथिलता आ गयी और वादक को यह स्वतन्त्रता मिल गयी कि वह इन दोनो स्थानो में इच्छापूर्वक घूम सके। अत अब अशबाहुल्य को देखकर विद्वान् मूर्च्छना का निश्चय करने लगे। इस सम्बन्ध में लेखक ने मतङ्ग के द्वादश-स्वर-मूर्च्छना-वाद का आलोचनात्मक विवेचन किया है और अन्त में वादन में मूर्च्छना द्वारा किस प्रकार सौकर्य होता था इसे विस्तारपूर्वक समझाया है।

तृतीय अध्याय में जाति-लक्षण पर विचार किया गया है। जाति-गान वस्तुत गान्धर्व-गान था जो बहुत ही प्राचीन समय से चला आ रहा था। भरत ने जाति-गान का आविष्कार नही किया, उसके लक्षण बतलाये है। जाति-गान बहुत ही पावन समझा जाता था और उसके नियमो में कोई हेर-फेर नही किया जा सकता था। जातियाँ

वेदमन्त्रों के समान पवित्र समझी जाती थी। यह बात रघुनाथ की सङ्गीत-सुधा के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है—

"यथैव सामानि ऋचो यजूंपि नैवान्यथा कैश्चिदिह क्रियन्ते ।
सामप्रभूता अति जातयोऽमूरिहान्यथाष्टादश नैव कार्या ॥"[१]

मतङ्ग के समय तक जाति-प्रयोग का इस प्रकार लोप हो गया कि उनके लिए उसकी निश्चित रूप से परिभाषा देना भी कठिन हो गया। आजकल विद्वानो में जातिस्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। मेरी समझ से इसकी अभिनवगुप्त-कृत परिभाषा सर्वोत्तम और ग्राह्य है। उन्होंने कहा है—

"तत्र केय जातिर्नाम। उच्यते—स्वरा एव विशिष्टा सन्निवेशभाजो रक्तिम-दृष्टाभ्युदय च जनयन्तो जातिरित्युक्ता। कोऽसौ सन्निवेश इति चेज्जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेश[२]।"

अर्थात् रञ्जन और अदृष्ट अभ्युदय को निष्पन्न करनेवाले विशिष्ट स्वर विशेष प्रकार के सन्निवेश में जाति कहलाते हैं। इस परिभाषा में दो बातें ऐसी है जो बिलकुल स्पष्ट हैं—

(१) स्वरो का विशेष सन्निवेश या विन्यास।
(२) इस सन्निवेश में रञ्जकता का होना।

स्वरो के विशेष सन्निवेश से क्या तात्पर्य है, इसको अभिनवगुप्त ने स्वय स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है—"जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेश" अर्थात् सन्निवेश से तात्पर्य है जाति के दस लक्षण। वे दस लक्षण निम्नलिखित हैं—

"ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासापन्यास एव च।
अल्पत्व च बहुत्व च षाडवौडुविते तथा[१] ॥"

जिसमें ग्रह, अश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व और औडुवत्व के नियमो द्वारा स्वर-सन्निवेश किया गया हो वह 'जाति' है। जाति-गान सङ्गीत की एक बहुत विकसित अवस्था में प्रादुर्भूत हुआ था। तभी वह इतने लक्षणो द्वारा व्यक्त होता था।

विद्वान् लेखक ने इन दस लक्षणो को इस ग्रन्थ में भली-भाँति समझाया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण अशस्वर है। अश-स्वर के ही महत्त्व को समझने से 'जाति' का रहस्य समझ में आ सकता है। लेखक ने इन सब लक्षणो को समझाते

हुए जाति-गान और वादन पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उन्होने १८ जातियो का विस्तृत वर्णन किया है। इनमें से सात जातियो के नाम सात स्वरो पर है। जातियाँ दो प्रकार की हैं—शुद्ध और विकृत। शुद्ध जातियाँ वे हैं जिनमें कोई स्वर कम नही होता और नामस्वर ही जिनमें अश, ग्रह और न्यास होता है। न्यासस्वर के अतिरिक्त एक, दो या अनेक लक्षणो में विकार होने से ये जातियाँ विकृत कहलाने लगती है।

अशस्वर के सवादी स्वर का कभी लोप नही होता—इस आधार पर ग्रन्थकर्ता ने बहुत सुन्दर रूप से जातियो के प्रकार को समझाया है और विभिन्न आचार्यों के जाति-लक्षण दिखलाकर उन्होंने यह दर्शाया है कि उनमें भरत-परम्परा अक्षुण्ण रही है। अन्त में उन्होने जातियो के ध्यान भी दिये हैं।

चतुर्थ अध्याय में लेखक ने सङ्गीत-रत्नाकर में दिये हुए जाति-प्रस्तारो को विशद रूप से समझाकर लिखा है और उनके अनुसार स्वर-लिपि से जातियो का प्रत्यक्षीकरण किया है। लेखक का यह प्रयत्न स्तुत्य है। इसके द्वारा विद्यार्थी समझ सकता है कि जातियाँ किस प्रकार गायी जाती थी और इन्हें वह गा भी सकता है।

पञ्चम अध्याय में स्वर-साधारण और जाति-साधारण का विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण किया गया है। शार्ङ्गदेव ने स्वर-साधारण के विषय में बहुत ही ठीक कहा है—

"साधारण्यमतस्तस्य यत्तत्साधारण विदु ।"

(अडयार सस्करण, अ० १, पृ० १४७)

अर्थात् जो स्वर न तो पूर्व स्थिति को पूर्णतया छोड चुका हो और न पर-स्थिति को पूर्णतया ग्रहण किये हो, जो दोनो का आधार लिये हो, वह है साधारण 'स्वर'।

"सह आधारणेन वर्तते इति साधारण ।"

(अमरकोश, भानुजी दीक्षित की व्याख्या)

लेखक ने एक मण्डल-प्रस्तार में साधारण स्वरो का श्रुति-स्थान भली-भाँति समझाया है।

छठे अध्याय में लेखक ने राग का विशद वर्णन किया है। इन्होने पहले राग की परिभाषा समझायी है और फिर यह बतलाया है कि भरतोक्त ग्रामराग जाति से उत्पन्न हुए हैं। कल्लिनाथ ने मतङ्ग का उद्धरण देते हुए स्पष्ट कहा है—

"तथा चाह भरतमुनि —जातिसभूतत्वाद् ग्रामरागाणाम्।"

(स० र०, अडयार सस्करण, अध्याय, २, पृ० ८)

जिस रूढ अर्थ में आजकल हम 'राग' शब्द का प्रयोग करते हैं, उसका वस्तुत. 'जाति' पूर्वरूप है। लेखक ने ग्रामरागो का उदाहरण-सहित वर्णन किया है।

लेखक ने कहा है—"जातियो के दस लक्षणो में प्रमुखतया लक्षण 'अश' का वर्णन करते हुए उसके लक्षण में महर्षि ने कहा है कि 'राग का जिसमें निवास होता है और राग जिससे प्रवृत्त होता है वह अशस्वर है।' इससे यह सिद्ध है कि महर्षि जातियो को भी राग ही मानते हैं।"

मेरी समझ में महर्षि ने जहाँ यह कहा है कि "रागश्च यस्मिन् वसति, यस्माच्चैव प्रवर्तते" वहाँ महर्षि ने राग को रूढ अर्थ में नही लिया है, किन्तु यौगिक अर्थ में लिया है। अर्थात् उनका तात्पर्य यह है कि 'अशस्वर' वह है जिसमें जाति की रञ्जकता निवास करती है और जिससे रञ्जकता प्रवृत्त होती है। अत इससे यह सिद्ध करना कठिन होगा कि वह जातियो को भी रूढ अर्थ में राग ही मानते हैं। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि रूढार्थ में प्रयुक्त 'राग' की 'जाति' पूर्वरूप या आधार थी।

इन छ अध्यायो में भरत-सिद्धान्त का पूर्णरूप से प्रतिपादन हुआ है। इनके अनन्तर जो चार अनुबन्ध दिये गये है, वे भी पठनीय और मननीय हैं। पहले अनुबन्ध में भरत-सिद्धान्त में आये हुए पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या है। दूसरे में रस-सिद्धान्त को सक्षेप में समझाया गया है और भिन्न-भिन्न रसो का विशिष्ट स्वर-सन्निवेशो से सम्बन्ध बतलाया गया है। तीसरे में श्रुतियो की अनन्तता और देशी रागो में प्रयोज्य ध्वनियाँ बतलायी गयी हैं और मूर्च्छना तथा आधुनिक ठाठो की स्वर-विश्लेषण द्वारा तुलना की गयी है। चौथे में भारतीय सङ्गीत के १५वी शती ई० तक के शास्त्रकारो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है।

समग्र ग्रन्थ बहुत खोज के साथ लिखा गया है। भरत-सिद्धान्त को समझने के लिए यह अत्युत्तम कृति है। लेखक ने इसकी रचना करके सङ्गीत के विद्यार्थियो का बहुत उपकार किया है। वे हमारे साधुवाद के पात्र है। आशा है, सगीतानुरागियो द्वारा इसका यथोचित आदर होगा।

जयदेव सिह

उद्धरण-संकेत

१	अ०, अध्या०	अध्याय
२	अ० भा०	अभिनवभारती
३	अभिनव०	"
४	अ० स०	अडयार-सस्करण
५	आ०	आचार्य्य
६	क० टी०	सगीतरत्नाकर की कल्लिनाथ-कृत टीका
७	कल्लि०	"
८	का० प्र०	काव्यप्रकाश
९	का० प्र० टी०	काव्यप्रकाश की वामनकृत टीका
१०	कारि०	कारिका
११	का० स०	काशी-सस्करण
१२	गा० स०	गायकवाड सीरीज-सस्करण
१३	ताला०	तालाध्याय
१४	तैत्ति० प्राति०	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
१५	द्वि०	द्वितीय
१६	ध्व०	ध्वन्यालोक
१७	नान्य०	नान्यदेव
१८	ना० शा०	भरतनाट्यशास्त्र
१९	पण्डित०	पण्डितमण्डली
२०	परि०	परिच्छेद
२१.	प्रकी०, प्रकीर्णका०	प्रकीर्णकाध्याय
२२	प्रब०	प्रबन्धाध्याय
२३	ब० स०	बम्बई-सस्करण

२४	भ० को०	भरत-कोश
२५	भ० ना० शा०, भरत०	भरत-नाट्य-शास्त्र
२६	म० यु० स०	मद्रास-युनिवर्सिटी-सस्करण
२७	मोक्ष०	मोक्षदेव
२८	रत्नाकर	सङ्गीत-रत्नाकर
२९	राग०, रागा०	रागविवेकाध्याय
३०	वाद्या०	वाद्याध्याय
३१	वृ०	वृत्ति
३२	शार्ङ्ग०	शार्ङ्गदेव
३३	श्लो०	श्लोक
३४	स०	सस्करण
३५	स० र०	सङ्गीत-रत्नाकर
३६	स० र० टी०	सङ्गीत-रत्नाकर-टीका
३७	सा० द०	साहित्य-दर्पण
३८	सिंह०	सिंहभूपाल
३९	स्व०, स्वरा०	स्वराध्याय

विस्तृत विषय-सूची

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के उपलब्ध सस्करणो के अनुसार महर्षि भरत की आतोद्य-विधि के अन्तर्गत स्वरविधि को स्पष्ट करने की चेष्टा है।

नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि भावी युग में मनुष्य प्राय अबुध होगे, जो होगे भी वे अल्पश्रुत-बुद्धि होगे।* अल्पश्रुत-बुद्धि होते हुए भी आप्त वाक्यो के प्रति अविचल निष्ठा, उनके मनन के लिए सतत धैर्य, भगवान् शकर की कृपा एव सद्गुरुओ के वरद हस्त की छत्रच्छाया के प्रताप से नाट्यशास्त्र की स्वरविधि का मन्थन करके यह नवनीत सहृदयो की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ अनुसन्धान की प्रेरणा

लेखक के वश की चार पीढियाँ रामपुर (भूतपूर्व राज्य) में बीती हैं, उसके विद्वान् पूर्वजो ने वहाँ की राजसभा को सम्मानपूर्वक सुशोभित किया, फलत उसमें शास्त्रानुशीलन के सस्कार आनुवशिक रहे हैं। देशी राज्यो के राजपडित गुणी एव गुणग्राही होते थे और उन्हें बहुश्रुत होना पडता था, फलत सङ्गीतसम्बन्धी सस्कारो के लिए लेखक को इधर-उधर नही भटकना पडा।

ऐसे सद्गुरुओ के चरणो में बैठकर स्वरसाधना करने का अवसर इस अकिञ्चन को प्राप्त हुआ है, जिनके प्रति उन चुने हुए सङ्गीतज्ञो की अपार श्रद्धा आज तक है, जिन्हें गायक या वादक होने के कारण स्वतन्त्र भारत के शासन ने बडे से बडा सम्मान दिया है।

रामपुर-दरबार में गायक स्वर्गीय मिरज़ा नवाबहुसेन सैयद थे। सङ्गीतजीवी जाति में उत्पन्न होने के कारण उनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था। जीवन के अन्तिम क्षणो में उन्होंने अपने प्रिय शिष्य, इस ग्रन्थ के लेखक से कहा था—"सङ्गीत का अभ्यास करो, शास्त्रो को समझो, उन पर श्रद्धा करो और उन ऋषि-मुनियो के अभिप्राय को

---

*भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नरा।
ये चापि हि भविष्यन्ति तेऽप्यल्पश्रुतबुद्धय ॥—नाट्यशास्त्र

समझो, जो नि स्पृह, नि स्वार्थ और सत्यभापी रहे हैं। हम शास्त्र नही जानते, परन्तु हमारा दृढ विश्वास है कि ऋपियो के ग्रन्थो को समझने के लिए जितनी तपस्या की आवश्यकता है, वह वहुत दिनो से नही की गयी है। इसी रामपुर-दरवार में 'पण्डित' कहलानेवाले ऐसे लोग भी कभी-कभी आये हैं, जिन्होने भरत और शार्ङ्गदेव-जैसी महाविभूतियो को श्रद्धा की दृष्टि से देखने की आवश्यकता नही समझी, उनके ग्रन्थो को अस्पप्ट कहा है, उनको उपहासपूर्ण दृष्टि से देखा है। इतना ही नही, उनके प्रति उन्होने ऐसे शव्दो का प्रयोग किया है, जिन्हें सुनकर हमें कष्ट होता रहा है। तुम्हारे पूर्वज विद्वान् एव सङ्गीतमर्मज्ञ रहे हैं, तुम उनके वशधर हो, यदि तुम प्राचीन ग्रन्थो को समझने के लिए तपस्या नही करोगे, तो और कौन लोग करेंगे। विश्वास रखो, परिश्रम व्यर्थ नही जाता। हम न होंगे, परन्तु तुम्हारी सफलता पर हमारी आत्मा को शान्ति मिलेगी और वही हमारी गुरुदक्षिणा होगी। यदि नही करोगे, तो हमारे ऋणी रहोगे और हमारी आत्मा अशान्त रहेगी।"

स्वर एव सज्जनता की मूर्ति वे गुरुवर आज इस लोक में नही हैं, परन्तु उनकी सरल, सुन्दर, सौजन्यमय एव प्रेरक आकृति सदा लेखक के मानसपट पर अकित रही है।

दूसरा प्रेरक व्यक्तित्व रामपुर राज्य के अनुपम ग्रन्थागार के विद्वान् एव यशस्वी प्रवन्धक मौलाना इम्तियाज़ अली खाँ अर्शी का रहा है, जिन्होंने अपने इस अकिञ्चन मित्र से सदा कहा—"भाईजान, आप विरहमन (व्राह्मण) हैं, आप लोगो को न जाने क्या-क्या विरसे (दाय) में मिला है, आपने सस्कृत पढी है, जो देवताओ की जुवान (भाषा) कही जाती है। देवताओ की जुवान गैरमुकम्मल (अपूर्ण) या गैरवाज़ह (अस्पष्ट) नही हो सकती। हम तो यह मान नही सकते कि ऋपि-मुनियो को अपनी वात कहना नही आता था, या उनको जुवान (भाषा) पर उवूर (अधिकार) नही था। हुज़ूर, ज़रा ज़हमत (कष्ट) कीजिए, वडे कामो के लिए वडी रियाज़त (तपस्या) चाहिए, तव कही वुज़ुर्गों (पूर्वपुरुषो) की दौलत मिलेगी। राह मुश्किल है, दिक्कतें भी हैं, लेकिन यह भी तो देखिए कि मगरिवी (पाश्चात्य) दिमाग आपके वुज़ुर्गों को क्या कह रहे हैं। आप उन वुज़ुर्गों के मफहूम (तात्पर्य) को जव तक समझाने में कामयाव (कृतकार्य) नही होते, तव तक आपके कुसूर की सज़ा उन वुज़ुर्गों को मिलती रहेगी, जो वेकुसूर हैं। उनकी रूहो (आत्माओ) को चैन तो तव मिलेगा, जव आप खुद को उनका सही जानशीन (स्थानापन्न या उत्तराधिकारी) सावित करेंगे। आज लोग आपके वुज़ुर्गों के क़ौलो (उक्तियो) को ढोग कह रहे हैं। अपने वारे में तो आप जाने, शर्म मुझे आ रही है।"

वन्धुवर अर्शी महोदय की मर्मवेधी, परन्तु स्नेहपूर्ण ऐसी उक्तियाँ सचमुच इस ब्राह्मण-सन्तान को सदा प्रेरणा देती रही हैं।

२. अनुसन्धान-सम्वन्धी मूल समस्याएँ और निष्कर्ष

आज का अनुसन्धानकर्ता जव तेरहवी शती या उससे पूर्व के ग्रन्थो पर दृष्टिपात करता है, तब उसके समक्ष कुछ विशेष प्रश्न आते हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(क) आज षड्ज एव पञ्चम अचल स्वर माने जाते हैं, जव कि प्राचीन ग्रन्थो में ऋषभ और धैवत अपने स्थान से च्युत नही होते।

(ख) आज स्थूल रूप में ऋषभ और धैवत के दो-दो प्रकार हैं, जिनका कारण स्थान-विच्युति है, इस प्रकार का कोई भेद इन नामो से सम्वद्ध प्राचीन ध्वनियो का नही।

(ग) आज मध्यम के दो स्थूल रूप हैं, जिनमें तीव्रमध्यम मध्यम के उत्कर्ष का परिणाम है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थो में मध्यम के उत्कर्ष की वात कही नही वतायी गयी है।

(घ) आज उत्तर भारत के शुद्ध ऋषभ और पञ्चम में षड्ज-मध्यम-सवाद है, परन्तु प्राचीन षाड्जग्रामिक ऋषभ-पञ्चम में सवाद नही।

(ङ) आज दक्षिण भारत के मध्यम और शुद्धनिषाद (उत्तर भारतीय तीव्र धैवत) में षड्ज-मध्यम-भाव नही, जव कि प्राचीन ग्रन्थो का निषाद मध्यम से नौ श्रुतियो के अन्तर पर होने के कारण उसका सवादी था। कल्लिनाथ जैसे पन्द्रहवी शती ई० के ग्रन्थकार भी मध्यम-निषाद के पारस्परिक सवाद को प्रत्यक्ष मानते हैं।[1]

(च) उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा पर स्थित कोमल 'ग-नि' तथा तीव्र 'रे-ध' में परस्पर सवाद नही है, जव कि इन सज्ञाओ से सम्वद्ध प्राचीन ध्वनियो में परस्पर सवाद अवश्यम्भावी था।

(छ) उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा पर स्थित 'ग-प' में आज षड्जान्तर-भाव (षड्ज एव तीव्र गान्धार का अन्तर) विद्यमान है, जव प्राचीन 'ग-प' में आठ श्रुतियो का अन्तर होने के कारण षड्जान्तर-भाव सम्भव नही।

(ज) मध्यम के साथ षड्जमध्यम-भाव से सवाद करनेवाले निषाद की स्थिति उत्तर भारतीय वीणा में है, परन्तु उसके साथ मेल-पद्धति के शुद्ध (अर्थात् उत्तर भारतीय कोमल ऋषभ) का षड्जान्तर-भाव नही है, जव कि प्राचीनो के 'नि-रे' में सात श्रुतियो का अन्तर होने के कारण षड्जान्तर-भाव अनिवार्य है।

१—शुद्धयोर्मध्यमनिषादयो परस्परं सवादित्वदर्शनात्।
—आचार्य कल्लिनाथ, स० र० म०, स्वरा०, पृ० ९२

(झ) मध्यम एव उत्तर भारतीय आधुनिक ठाठ-पद्धति के तीव्र धैवत में षड्-जान्तर-भाव नही है, जब कि प्राचीनो के मध्यम-धैवत में सात श्रुतियों का अन्तर होने के कारण षड्जान्तर-भाव अनिवार्य है।

(ञ) मध्यम एव मेल-पद्धति के शुद्ध (उत्तर भारतीय कोमल) धैवत में भी षड्जान्तर-भाव नही है, जब कि मध्यम एव उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा के धैवत में षड्जान्तर-भाव है, जो कि प्राचीनो के अनुसार होना चाहिए।

फलत विचारशील मस्तिष्क इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'म-ध' में षड्जान्तर भाव न होने के कारण 'ध' प्राचीन धैवत नही, फलत 'ध' का सवादी 'रे' प्राचीन ऋषभ नही और 'रे' का सवादी 'म' मध्यमग्रामीय त्रिश्रुतिक पञ्चम नही। मध्यम का सवादी न होने के कारण मेल-पद्धति का शुद्ध निषाद (उत्तर भारतीय तीव्र धैवत) प्राचीन निषाद नही और उसका सवादी मेल-पद्धति का शुद्ध गान्धार (अर्थात् उत्तर भारतीय ठाठ-पद्धति का तीव्र ऋषभ) प्राचीन गान्धार नही।

अत यह अखण्डनीय रूप में प्रमाणित होता है कि दाक्षिणात्यो के शुद्ध (।) रे, ग, ध, नि प्राचीन रे, ग, ध, नि नही हैं, फलत "स, रे, रे, म, प, ध, ध" प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक नही।

उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा के तीव्र ऋषभ के साथ पञ्चम का सवाद है, फलत तीव्र ऋषभ प्राचीन ऋषभ नही और इस वीणा के कोमल गान्धार-पञ्चम में षड्जान्तर-भाव है, अत यह कोमल गान्धार प्राचीन गान्धार नही।

इस दृष्टि से विचार करने पर उत्तर भारतीय सरस्वती वीणा पर प्राप्त होनेवाले काफी ठाठ के ऋषभ और गान्धार प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक के 'ऋषभ-गान्धार' से भिन्न हैं। फलत सिद्ध है कि आधुनिक काफी ठाठ भी प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक नही।

विलावल ठाठ में मध्यम-निषाद का सवाद नही, ऋषभ-पञ्चम में सवाद है, अत वह भी प्राचीन षाड्जग्रामिक सप्तक नही।

ऐसी दशा में उत्तर एव दक्षिण की प्रचलित मान्यताओ से सर्वथा मुक्त होकर विचार करना ही अनुसन्धानकर्ता के लिए एकमात्र मार्ग रह जाता है।

३ प्राचीन सङ्गीतशास्त्र की दुर्बोधता एवं उसके कारण

शास्त्र में जो बात न कही गयी हो, परन्तु शास्त्र से जिसका अविरोध हो, शास्त्र जिसकी अभ्यनुज्ञा देता हो अर्थात् जो दूसरे शब्दो में शास्त्र का निष्कर्ष हो, गुरु-शिष्य-परम्परा से उसका उपदेश दिया जाना 'सम्प्रदाय' कहलाता है। जो जिस बात को

भली-भाँति जानता है, वह उसे तत्त्वपूर्वक कहता है, मर्मज्ञ व्यक्ति की वह तत्त्वपूर्ण उक्ति लोकजयी विष्णु के द्वारा सम्प्रदाय कही गयी है।'[1]

रहस्यगर्भ 'सूत्र' अधिकारी व्यक्तियो के लिए ही वोधगम्य होते हैं। तत्त्वज्ञ व्यक्ति उस रहस्य को ऐसे शब्दो में स्पष्ट करते हैं, जिनके द्वारा अल्पज्ञ व्यक्ति भी शास्त्र के तत्त्व से अवगत हो जाते हैं। आचार्य की आवश्यकता इसी लिए होती है। जब किसी क्षेत्र में सम्प्रदाय अथवा गुरु-शिष्य-परम्परा पर आश्रित शिक्षा-पद्धति का लोप हो जाता है, तब शास्त्रो के रहस्य दुर्ग्रह हो जाते हैं।

दशम शती ई० के अन्तिम दशक में महमूद गज़नवी के आक्रमणो का आरम्भ हो गया था। मन्दिरो का विध्वस तथा वलात् धर्म-परिवर्तन भी उसकी योजना के अनिवार्य अङ्ग थे, फलत जहाँ-जहाँ उसके चरण पडे, वहाँ विद्वानो का अभाव होता गया। अलवरूनी ने यह स्वय कहा है कि 'हिन्दू विद्याएँ वहाँ चली गयी जहाँ हमारी पहुँच नही थी।'

१०१३ ई० में कश्मीर की ओर भी महमूद का ध्यान गया और १०१५ ई० में उसने कश्मीर का विनाश पूर्णतया कर डाला। पण्डित हो या मूर्ख, गुणी हो या गँवार, सबको अपने लिए इस्लाम एव मृत्यु में से एक को चुनना था। फलत कश्मीर-जैसा विद्या-केन्द्र भी हिन्दू विद्याओ से शून्य हो गया। इस दयनीय स्थिति से परिचित होने के लिए फिरिश्ता और वदायूनी के इतिहास पढने चाहिए।

यह तथ्य विशेपतया ध्यान देने योग्य है कि अलवरूनी ने हिन्दुओ के तत्कालीन धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, खगोल, फलित-ज्योतिप, रीति-नीति इत्यादि का वर्णन तो अपने ज्ञान के अनुसार किया है, परन्तु सङ्गीत के विपय में वह मौन का आश्रय लिये हुए है। इस्लाम की दृष्टि में त्याज्य ज्योतिप विद्या अलवरूनी की आजीविका का सावन थी, फलत सङ्गीत को त्याज्य समझकर उसने छोडा नही। सत्य यह है कि अलवरूनी जहाँ-जहाँ पहुँचा, वहाँ-वहाँ उसे सङ्गीत के विद्वानो का दर्शन न हुआ।

१०१८ ई० में महमूद ने कन्नौज एव मथुरा का विनाश किया तथा १०२४ ई० में सोमनाथ का मन्दिर लूटा। फलत विद्याओ को दक्षिण में आश्रय ढूंढना पडा।

---

१ शास्त्रानुक्तस्यापि शास्त्रेणाभ्यनुज्ञातस्य शास्त्राविरोधिनोऽर्थविशेषस्य आचार्यशिष्यपरपरया यदुपदेशप्रदान स सप्रदाय इत्येतल्लक्षणलक्षितत्वात्। तथा चोक्तम्--

यो यत्सम्यग्विजानीते स तद्वदति तत्त्वत।
स संप्रदाय कथितो विष्णुना लोकजिष्णुना॥

—कल्लिनाथ, सङ्गीतरत्नाकर, (अडयार सस्करण) भाग ४, पृ० २९।

विकृत ध्वनि मानकर एक स्थान के अन्तर्गत वारह ध्वनियों के लिए क्रमश 'म, रे, रे, ग, ग, म, म, प, ध, ध, नि नि' नाम स्वीकृत किये।

गोपाल नायक ने लिखा है कि यवनो ने—

(१) वीणाओ की सारिकाएँ अचल की।

(२) षड्जमध्यम-भाव की प्रधानता नष्ट हुई, षड्ज-पञ्चम-भाव स्थापित हुआ।

(३) ऋषि-प्रणीत सरल मूर्च्छना-पद्धति लुप्त हुई।

(४) शुद्ध-अशुद्ध का झगडा चला। एक राग की दो 'सरगम' हो गयी, एक 'प्रकट' और एक 'गुप्त'।

(५) 'स रे ग म प ध नि' 'प ध नि स रे ग म' हो गये।

वैजू ने गोपाल से कहा—

"तूने विद्या दी नही, छिना दी। शत्रुओं पर नागपाश डाल। इन्हे श्रुति, स्वर, मूर्च्छना, गमक इत्यादि का रहस्य न वतला। कोई गुणी इस जाति में जन्म लेगा, तो यह भेद खुलेगा।"

ठाठ के प्रताप से प्रत्येक मूर्च्छना के सात स्वरो को 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' कहा जाने लगा। अर्थात् किसी भी स्वर को प्राप्त होनेवाली अवस्था 'अशत्व' एव 'स्थायित्व' 'षड्जत्व' में परिवर्तित हो गयी।

इस एक भयानक परिवर्तन से तेरहवी शती ई० तथा उससे पूर्व लिखे हुए ग्रन्थ दुर्बोध हो गये। भरत के काल से शार्ङ्गदेव के काल तक चले आये षाड्जग्रामिक एव माध्यमग्रामिक शुद्ध सप्तको की पहचान लुप्त हो गयी। सन् १३३६ ई० मे विजय-नगर राज्य की आधार-शिला रखी गयी। उस राज्य के सस्थापक एव महामन्त्री श्री माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अनेक शास्त्रो के साथ ही साथ सङ्गीत के पुनरुद्धार का भी कार्य करना चाहा। उस समय विजयनगर में समस्त देश के पण्डित, कलाकार एव गुणी आने लगे। श्री विद्यारण्य ने उस समय की 'अचल ठाठ' वाली वीणा के आधार पर पचास प्राप्त रागो को पन्द्रह ठाठो में वर्गीकृत किया और 'ठाठ' के लिए मेल शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग माधवाचार्य के द्वारा हुआ।

श्री माधवाचार्य के द्वारा स्थापित मेलो में 'हेजुज्जी' नामक एक मेल भी है, जो ईरानियो के मुकाम 'हिजाज़' से अप्रभावित नही कहा जा सकता। दाक्षिणात्य ग्रन्थो में 'गज़ल' 'गज़लु' और 'कौल' 'कौलु' हो गया है, इसी प्रकार 'हिजाज़' भी 'हेजुज्जी' हुआ है।

श्री माधवाचार्य के अनुयायी रघुनाथ को इसी मेलचक्र में पड़ने के कारण शार्ङ्गदेव की सप्ताध्यायी (रत्नाकर) अस्पष्ट एव अबोध्य दिखाई दी है। रघुनाथ को षाड्जी की वह धैवतादि मूर्च्छना 'उत्तरायता मेल' दिखाई दी है, जो वस्तुत मतङ्ग की 'द्वादश-स्वर उत्तरमन्द्रा' है।

श्री वासुदेव शास्त्री ने स्पष्टरूपेण माना है कि तेरहवी शती तथा उससे पूर्व के सङ्गीत-ग्रन्थ पन्द्रहवी शती तथा उससे पश्चात् के दाक्षिणात्य ग्रन्थकारो के लिए सर्वथा दुर्बोध रहे और वे उन्हें नही समझे। परन्तु वासुदेव शास्त्री 'मेलवाद' को दक्षिण की मौलिकता मानते हैं, जब कि सचमुच वह ईरानी प्रभाव है। सग्रहचूडामणिकर्ता गोविन्द ने दाक्षिणात्य सरस्वती वीणा को वर्तमान रूप दिया है, जिसमें ध्वनित होनेवाली चौबीस श्रुतियाँ ईरानियो के 'चौबीस' हङ्गाम ही हैं।

जिन बारह स्वरो के आधार पर वेङ्कटमखी ने अपने बहत्तर मेलकर्त्ताओ की योजना की है, उनका आधार पूर्वोक्त पर्दे ही हैं।

प्रो० रामकृष्ण कवि-जैसे दाक्षिणात्य विद्वान् भी मानते हैं—"आजकल के गायको ने . विदेशी गान-शैली की छाया का भी अवलम्बन करके अनेक रागो का प्रवर्तन सम्प्रदाय में किया। उनका कारण यह है कि नारद, भरत, मतङ्ग इत्यादि की परम्परा में तीनो स्थानो की समस्त श्रुतियो का वादन करने योग्य वीणा को लेकर प्रत्येक राग के अनुसार (पृथक्-पृथक्) सारिकाओ से प्रत्येक श्रुति-स्थान की स्थापना करके कोण या नख के द्वारा विविध ठाठो से युक्त राग बरते जाते थे। कहा जाता है कि भरत 'मत्तकोकिला', स्वाति 'विपञ्ची', नारद 'महती' और मतङ्ग 'चित्रा' का वादन करते थे। मतङ्ग इत्यादि ने सम्प्रदाय में किन्नरी नामक वीणा का वादन प्रचलित किया। तदनन्तर चिरकाल तक किन्नरीवादन ही मुख्यतया होता रहा।

शार्ङ्गदेव की अपेक्षा अर्वाचीन लोगो ने 'शुद्धमेला' एव 'मध्यममेला' नामक उन वीणाओ का निर्माण करके सम्प्रदाय में प्रयोग किया, जिनमें सारिकाएँ नियत स्थान में स्थित थी।

सोलहवी शती ई० के मध्यकाल में हनुमन्मत पर आश्रित सम्प्रदाय-प्रवर्तित रागो के वादन-सौकर्य के लिए उन-उन रागो में प्रयोज्य श्रुतियो के स्थान में अचल सारिकाओ का निर्माण करके स्वरो के अनुमन्द्र, मन्द्र, मध्य, तार एव तारोत्तर स्थानो का निश्चय करने के पश्चात् बुधो ने अनेक प्रकार की वीणाओ का प्रचलन किया। उसी समय अनुभवसिद्ध रागो के श्रुतिभेद का आश्रय लेकर समानस्वरश्रुतिक राग एक मेल में रखकर सब प्रवर्तक रागो को नियत मेलो में विभाजित कर दिया गया। . ..

विकृत ध्वनि मानकर एक स्थान के अन्तर्गत वारह ध्वनियो के लिए क्रमश 'म, रे, रे, ग, ग, म, म, प, ध, ध, नि नि' नाम स्वीकृत किये।

गोपाल नायक ने लिखा है कि यवनो ने—

(१) वीणाओ की सारिकाएँ अचल की।

(२) षड्जमध्यम-भाव की प्रधानता नष्ट हुई, षड्ज-पञ्चम-भाव स्थापित हुआ।

(३) ऋषि-प्रणीत सरल मूर्च्छना-पद्धति लुप्त हुई।

(४) शुद्ध-अशुद्ध का झगडा चला। एक राग की दो 'सरगम' हो गयी, एक 'प्रकट' और एक 'गुप्त'।

(५) 'स रे ग म प ध नि' 'प ध नि स रे ग म' हो गये।

वैजू ने गोपाल से कहा—

"तूने विद्या दी नही, छिना दी। शत्रुओ पर नागपाश डाल। इन्हें श्रुति, स्वर, मूर्च्छना, गमक इत्यादि का रहस्य न वतला। कोई गुणी इस जाति में जन्म लेगा, तो यह भेद खुलेगा।"

ठाठ के प्रताप से प्रत्येक मूर्च्छना के सात स्वरो को 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' कहा जाने लगा। अर्थात् किसी भी स्वर को प्राप्त होनेवाली अवस्था 'अशत्व' एव 'स्थायित्व' 'षड्जत्व' में परिवर्तित हो गयी।

इस एक भयानक परिवर्तन से तेरहवी शती ई० तथा उससे पूर्व लिखे हुए ग्रन्थ दुर्वोध हो गये। भरत के काल से शार्ङ्गदेव के काल तक चले आये षाड्जग्रामिक एव माध्यमग्रामिक शुद्ध सप्तको की पहचान लुप्त हो गयी। सन् १३३६ ई० में विजयनगर राज्य की आधार-शिला रखी गयी। उस राज्य के सस्थापक एव महामन्त्री श्री माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अनेक शास्त्रो के साथ ही साथ सङ्गीत के पुनरुद्धार का भी कार्य करना चाहा। उस समय विजयनगर में समस्त देश के पण्डित, कलाकार एव गुणी आने लगे। श्री विद्यारण्य ने उस समय की 'अचल ठाठ' वाली वीणा के आधार पर पचास प्राप्त रागो को पन्द्रह ठाठो में वर्गीकृत किया और 'ठाठ' के लिए मेल शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग माधवाचार्य के द्वारा हुआ।

श्री माधवाचार्य के द्वारा स्थापित मेलो में 'हेजुज्जी' नामक एक मेल भी है, जो ईरानियो के मुकाम 'हिजाज़' से अप्रभावित नही कहा जा सकता। दाक्षिणात्य ग्रन्थो में 'गज़ल' 'गज़लु' और 'कौल' 'कौलु' हो गया है, इसी प्रकार 'हिजाज़' भी 'हेजुज्जी' हुआ है।

श्री माधवाचार्य के अनुयायी रघुनाथ को इसी मेलचक्र में पडने के कारण शार्ङ्गदेव की सप्ताध्यायी (रत्नाकर) अस्पष्ट एव अबोध्य दिखाई दी है। रघुनाथ को पाड्जी की वह धैवतादि मूर्च्छना 'उत्तरायता मेल' दिखाई दी है, जो वस्तुत मतङ्ग की 'द्वादश-स्वर उत्तरमन्द्रा' है।

श्री वासुदेव शास्त्री ने स्पष्टरूपेण माना है कि तेरहवी शती तथा उससे पूर्व के सङ्गीत-ग्रन्थ पन्द्रहवी शती तथा उससे पश्चात् के दाक्षिणात्य ग्रन्थकारो के लिए सर्वथा दुर्बोध रहे और वे उन्हें नही समझे। परन्तु वासुदेव शास्त्री 'मेलवाद' को दक्षिण की मौलिकता मानते हैं, जब कि सचमुच वह ईरानी प्रभाव है। सग्रहचूडामणिकर्ता गोविन्द ने दाक्षिणात्य सरस्वती वीणा को वर्तमान रूप दिया है, जिसमें ध्वनित होनेवाली चौबीस श्रुतियाँ ईरानियो के 'चौबीस' हङ्गाम ही हैं।

जिन बारह स्वरो के आधार पर वेङ्कटमखी ने अपने बहत्तर मेलकर्त्ताओ की योजना की है, उनका आधार पूर्वोक्त पर्दे ही हैं।

प्रो० रामकृष्ण कवि-जैसे दाक्षिणात्य विद्वान् भी मानते हैं—"आजकल के गायको ने विदेशी गान-शैली की छाया का भी अवलम्बन करके अनेक रागो का प्रवर्तन सम्प्रदाय में किया। उनका कारण यह है कि नारद, भरत, मतङ्ग इत्यादि की परम्परा मे तीनो स्थानो की समस्त श्रुतियो का वादन करने योग्य वीणा को लेकर प्रत्येक राग के अनुसार (पृथक्-पृथक्) सारिकाओ से प्रत्येक श्रुति-स्थान की स्थापना करके कोण या नख के द्वारा विविध ठाठो से युक्त राग बरते जाते थे। कहा जाता है कि भरत 'मत्तकोकिला', स्वाति 'विपञ्ची', नारद 'महती' और मतङ्ग 'चित्रा' का वादन करते थे। मतङ्ग इत्यादि ने सम्प्रदाय में किन्नरी नामक वीणा का वादन प्रचलित किया। तदनन्तर चिरकाल तक किन्नरीवादन ही मुख्यतया होता रहा।

शार्ङ्गदेव की अपेक्षा अर्वाचीन लोगो ने 'शुद्धमेला' एव 'मध्यममेला' नामक उन वीणाओ का निर्माण करके सम्प्रदाय में प्रयोग किया, जिनमें सारिकाएँ नियत स्थान में स्थित थी।

सोलहवी शती ई० के मध्यकाल में हनुमन्मत पर आश्रित सम्प्रदाय-प्रवर्तित रागो के वादन-सौकर्य के लिए उन-उन रागो में प्रयोज्य श्रुतियो के स्थान में अचल सारि-काओ का निर्माण करके स्वरो के अनुमन्द्र, मन्द्र, मध्य, तार एव तारोत्तर स्थानो का निश्चय करने के पश्चात् बुधो ने अनेक प्रकार की वीणाओ का प्रचलन किया। उसी समय अनुभवसिद्ध रागो के श्रुतिभेद का आश्रय लेकर समानस्वरश्रुतिक राग एक मेल में रखकर सब प्रवर्तक रागो को नियत मेलो में विभाजित कर दिया गया।. ..

विकृत ध्वनि मानकर एक स्थान के अन्तर्गत बारह ध्वनियो के लिए क्रमश 'म, रे, रे, ग, ग, म, म, प, ध, ध, नि नि' नाम स्वीकृत किये।

गोपाल नायक ने लिखा है कि यवनो ने—

(१) वीणाओ की सारिकाएँ अचल की।

(२) षड्जमध्यम-भाव की प्रधानता नष्ट हुई, षड्ज-पञ्चम-भाव स्थापित हुआ।

(३) ऋषि-प्रणीत सरल मूर्च्छना-पद्धति लुप्त हुई।

(४) शुद्ध-अशुद्ध का झगडा चला। एक राग की दो 'सरगम' हो गयी, एक 'प्रकट' और एक 'गुप्त'।

(५) 'स रे ग म प ध नि' 'प ध नि स रे ग म' हो गये।

वैजू ने गोपाल से कहा—

"तूने विद्या दी नही, छिना दी। शत्रुओ पर नागपाश डाल। इन्हें श्रुति, स्वर, मूर्च्छना, गमक इत्यादि का रहस्य न बतला। कोई गुणी इस जाति में जन्म लेगा, तो यह भेद खुलेगा।"

ठाठ के प्रताप से प्रत्येक मूर्च्छना के सात स्वरो को 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' कहा जाने लगा। अर्थात् किसी भी स्वर को प्राप्त होनेवाली अवस्था 'अशत्व' एव 'स्थायित्व' 'षड्जत्व' में परिवर्तित हो गयी।

इस एक भयानक परिवर्तन से तेरहवी शती ई० तथा उससे पूर्व लिखे हुए ग्रन्थ दुर्बोध हो गये। भरत के काल से शार्ङ्गदेव के काल तक चले आये षाड्जग्रामिक एव माध्यमग्रामिक शुद्ध सप्तको की पहचान लुप्त हो गयी। सन् १३३६ ई० में विजय-नगर राज्य की आधार-शिला रखी गयी। उस राज्य के सस्थापक एव महामन्त्री श्री माधवाचार्य (विद्यारण्य) ने अनेक शास्त्रो के साथ ही साथ सङ्गीत के पुनरुद्धार का भी कार्य करना चाहा। उस समय विजयनगर में समस्त देश के पण्डित, कलाकार एव गुणी आने लगे। श्री विद्यारण्य ने उस समय की 'अचल ठाठ' वाली वीणा के आधार पर पचास प्राप्त रागो को पन्द्रह ठाठो में वर्गीकृत किया और 'ठाठ' के लिए मेल शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग माधवाचार्य के द्वारा हुआ।

श्री माधवाचार्य के द्वारा स्थापित मेलो में 'हेजुज्जी' नामक एक मेल भी है, जो ईरानियो के मुकाम 'हिजाज़' से अप्रभावित नही कहा जा सकता। दाक्षिणात्य ग्रन्थो में 'गज़ल' 'गज़लु' और 'कौल' 'कौलु' हो गया है, इसी प्रकार 'हिजाज़' भी 'हेजुज्जी' हुआ है।

श्री माधवाचार्य के अनुयायी रघुनाथ को इसी मेलचक्र में पडने के कारण शार्ङ्गदेव की सप्ताध्यायी (रत्नाकर) अस्पष्ट एव अवोध्य दिखाई दी है। रघुनाथ को पाड्जी की वह धैवतादि मूर्च्छना 'उत्तरायता मेल' दिखाई दी है, जो वस्तुत मतङ्ग की 'द्वादश-स्वर उत्तरमन्द्रा' है।

श्री वासुदेव शास्त्री ने स्पष्टरूपेण माना है कि तेरहवी शती तथा उससे पूर्व के सङ्गीत-ग्रन्थ पन्द्रहवी शती तथा उससे पश्चात् के दाक्षिणात्य ग्रन्थकारो के लिए सर्वथा दुर्वोध रहे और वे उन्हें नही समझे। परन्तु वासुदेव शास्त्री 'मेलवाद' को दक्षिण की मौलिकता मानते हैं, जव कि सचमुच वह ईरानी प्रभाव है। सग्रहचूडामणिकर्ता गोविन्द ने दाक्षिणात्य सरस्वती वीणा को वर्तमान रूप दिया है, जिसमें ध्वनित होनेवाली चौवीस श्रुतियाँ ईरानियो के 'चौवीस' हङ्गाम ही हैं।

जिन वारह स्वरो के आधार पर वेङ्कटमखी ने अपने वहत्तर मेलकर्त्ताओ की योजना की है, उनका आधार पूर्वोक्त पर्दे ही हैं।

प्रो० रामकृष्ण कवि-जैसे दाक्षिणात्य विद्वान् भी मानते हैं—"आजकल के गायको ने विदेशी गान-शैली की छाया का भी अवलम्वन करके अनेक रागो का प्रवर्तन सम्प्रदाय में किया। उनका कारण यह है कि नारद, भरत, मतङ्ग इत्यादि की परम्परा में तीनो स्थानो की समस्त श्रुतियो का वादन करने योग्य वीणा को लेकर प्रत्येक राग के अनुसार (पृथक्-पृथक्) सारिकाओ से प्रत्येक श्रुति-स्थान की स्थापना करके कोण या नख के द्वारा विविध ठाठो से युक्त राग वरते जाते थे। कहा जाता है कि भरत 'मत्तकोकिला', स्वाति 'विपञ्ची', नारद 'महती' और मतङ्ग 'चित्रा' का वादन करते थे। मतङ्ग इत्यादि ने सम्प्रदाय में किन्नरी नामक वीणा का वादन प्रचलित किया। तदनन्तर चिरकाल तक किन्नरीवादन ही मुख्यतया होता रहा।

शार्ङ्गदेव की अपेक्षा अर्वाचीन लोगो ने 'शुद्धमेला' एव 'मध्यममेला' नामक उन वीणाओ का निर्माण करके सम्प्रदाय में प्रयोग किया, जिनमें सारिकाएँ नियत स्थान में स्थित थी।

सोलहवी शती ई० के मध्यकाल में हनुमन्मत पर आश्रित सम्प्रदाय-प्रवर्तित रागो के वादन-सौकर्य के लिए उन-उन रागो में प्रयोज्य श्रुतियो के स्थान में अचल सारिकाओ का निर्माण करके स्वरो के अनुमन्द्र, मन्द्र, मध्य, तार एव तारोत्तर स्थानो का निश्चय करने के पश्चात् वुधो ने अनेक प्रकार की वीणाओ का प्रचलन किया। उसी समय अनुभवसिद्ध रागो के श्रुतिभेद का आश्रय लेकर समानस्वरश्रुतिक राग एक मेल में रखकर सव प्रवर्तक रागो को नियत मेलो में विभाजित कर दिया गया। ..

वेंकटमखी से प्राय सौ वर्ष पश्चात् इस समय प्रयोज्य (दक्षिण भारतीय सरस्वती) वीणा का निर्माण हुआ।

मेल-ज्ञान होने पर प्रत्येक राग के श्रुति स्वर स्थान का नियम साधारण वादकों के लिए स्पष्टतर हो जाता है।

भरत इत्यादि महर्षियों के सम्प्रदाय में सिद्ध अष्टादश जाति नामक प्राचीन विभाग में तारमन्द्रव्यवस्था, षाडवौडुवभेद, स्वर का बहुत्व एव अल्पत्व, ग्रह, अश, न्यास, का विभाग, गायक के लिए सभी स्पष्ट हो जाते हैं। मेल-ज्ञान में वे अन्वेषणीय एव विचारणीय ही होते हैं। जाति-विभाग में वीणा के चल-सारिकायुक्त होने के कारण वादको के लिए श्रुतिस्वरज्ञान का निष्कर्ष आवश्यक होता है।"

४ प्रचलित सगीत-पद्धतियो मे रस एव भाव के प्रति उदासीनता

उत्तर भारतीय एव दाक्षिणात्य दोनो ही पद्धतियो में स्वरविधि की जो शिक्षा प्रचलित है, उसमें रस और भाव के प्रति सर्वथा उदासीनता है। यह नही बताया जाता कि किस-किस स्वर के प्रयोग से किस-किस भाव की अभिव्यक्ति होती है, न इस सम्बन्ध में कुछ निर्देश है कि किस-किस रस में किस-किस राग का विनियोग है। राग का मेल या ठाठ, स्वरो का रागव्यञ्जक सन्निवेश और प्रयोग का समय ही राग-शिक्षा को पूर्ण कर देता है। गायक किस राग के द्वारा किस भाव की अभिव्यक्ति और श्रोताओ के हृदय में किस भाव का उद्रेक कर सकता है, इस सम्बन्ध में आधुनिक ठाठवादी एव उनके उपजीव्य मेलाचार्य सर्वथा मौन का अवलम्बन किये हुए हैं।

प्राचीनो के अनुसार गान्धार एव निषाद करुणा के अभिव्यञ्जक हैं, परन्तु आज 'रे' और 'ध' से करुणा की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। प्राचीन सङ्गीत में 'रे' एवं 'ध' का नाम तक नही मिलता, अत इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सङ्गीतप्रयोज्य प्रचलित ध्वनियो की स्वरसज्ञाएँ किसी कारण से परिवर्तित हो गयी हैं।

उस परिवर्तन के कारणो की खोज करके प्राचीन एव प्रचलित पद्धतियो में रस-सम्बन्धी सिद्धान्तो के सामञ्जस्य का दर्शन करना भी अनुसन्धानकर्ता का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है।

अनुसन्धान के आधार—प्राचीन सम्प्रदाय

आचार्य अभिनवगुप्त (दशम शती ई०) के समय में यह समझा जाता था कि नाट्य-सम्बन्धी प्रमुख सम्प्रदाय तीन हैं, ब्रह्ममत, सदाशिव-मत एव भरत-मत। इन्हें

क्रमश वैदिक परम्परा, आगम-पुराण-परम्परा एव आर्ष-परम्परा कहा जा सकता है। अभिनवगुप्तकालीन एक् उपाध्याय का मत था कि भरत-नाट्यशास्त्र भरत मुनि की कृति नही है, अपितु पूर्वोक्त तीनो सम्प्रदायो की विशेषता पर विचार करके 'ब्रह्ममत' की ससारता का प्रतिपादन करने के लिए किसी ने नाट्यशास्त्र का सग्रह किया है और उसमें तीनो सम्प्रदायो के ग्रन्थो के खण्ड या अश विद्यमान हैं। अभिनवगुप्त ने इन उपाध्याय को 'नास्तिकधुर्य' (नास्तिको में अग्रणी) कहा है।

इन तीनो सम्प्रदायो के ऐसे स्वतन्त्र ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं, जिनमें लौकिक सङ्गीत पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया हो।

उपलब्ध नाट्यशास्त्र में सामवेद से 'गीत' का ग्रहण करनेवाले भगवान् ब्रह्मा हैं। 'भरत' ब्रह्मा के शिष्य हैं। गानयोग में 'नारद' तथा भाण्डवाद्यो में 'स्वाति' का नियोजन करनेवाले भी ब्रह्मा ही है। अप्सराओ की सृष्टि भी उन्होने ही की है और उन्ही को सन्तुष्ट करने के लिए भरत 'अमृत-मन्थन' नामक समवकार का प्रयोग करते हैं।

ब्रह्मा एक दिन देवताओ के सहित जाते हैं और भगवान् शकर की अभ्यर्थना करके उनके सम्मुख 'त्रिपुरदाह' का अभिनय हिमालय में 'भरत' एव उनके शिष्यो द्वारा कराते हैं। शकर प्रसन्न होते हैं और स्वरचित नृत्य का उपदेश 'तण्डु' के द्वारा भरत को दिलाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तण्डु' और 'नन्दी' को एक ही व्यक्ति माना है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में ब्रह्मा को प्रधानता प्राप्त है। नाट्यशास्त्र के प्रारम्भिक श्लोक में ब्रह्मा और शकर को क्रमश प्रणाम किया गया है।

भावप्रकाशनकार शारदातनय ने नाट्यवेद का आदि कर्ता भगवान् शकर को कहा है। स्थावर-जङ्गम सृष्टि की रचना करने से थके हुए ब्रह्मा भगवान् विष्णु के पास विश्रान्ति का उपाय खोजने जाते हैं। भगवान् विष्णु उन्हें भगवान् शकर के पास भेजते हैं। ब्रह्मा की थकान दूर करने के लिए भगवान् शकर स्वरचित नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर के द्वारा ब्रह्मा को दिलाते हैं। नन्दिकेश्वर से नाट्यवेद पढकर ब्रह्मा लौटते और नाट्यवेद के प्रयोक्ता का स्मरण करते हैं। स्मरण करते ही पाँच शिष्यो से युक्त एक मुनि उपस्थित होते हैं। उन्हें देखकर ब्रह्मा कहते हैं—'नाट्यवेद भरत' अर्थात् तुम लोग नाट्यवेद धारण करो। वे नाट्यवेद पढते हैं और उन सबका नाम 'भरत' पड जाता है।

शारदातनय की इस कथा का आधार सदाशिव-सम्प्रदाय का कोई ग्रन्थ रहा होगा, जिसमें ब्रह्मा की स्थिति नाट्य के आविष्कर्ता की न होकर, भगवान् शकर के शिष्यानुशिष्य की है।

नाटचशास्त्र (काशी-सस्करण) ध्रुवाव्याय के अन्त में कहा गया है कि मैंने वह 'गान्धर्व' कहा है, जिसका कथन पहले नारद ने किया है,* परन्तु निर्णयसागर-सस्करण में यह श्लोक ध्रुवाव्याय के अन्त में न होकर गुणाव्याय (तैंतीसवें) अध्याय के अन्त में है, वहाँ 'नारदेन' के स्थान पर 'प्रपितामहेन' पाठ है, जिसके अनुसार 'गान्धर्व' के आदिम वक्ता नारद न होकर 'प्रपितामह' (ब्रह्मा) हैं ।+

अस्तु, नाट्यशास्त्र में स्वरविधि की यह विशेषताएँ हैं—

(क) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित-जैसी वैदिक स्वर-सज्ञाओ की चर्चा तक नही है।

(ख) स्वरो के कुल, वर्ण, द्वीप, ऋषि इत्यादि की कोई चर्चा नही है ।

(ग) श्रुतियो के नाम तथा उनकी जातियाँ नही हैं ।

(घ) 'स्थायी' स्वर एव 'सचारी' स्वर की चर्चा है ।

(ङ) स्वरो की भावव्यञ्जकता का निर्देश है ।

(च) श्रुतियो के मध्यमत्व, आयतत्व, दीप्तत्व की चर्चा अलकारविधि में है, परन्तु सख्या या क्रम के अनुसार विशिष्ट-विशिष्ट श्रुतियो को मध्यम, आयत, दीप्त नही बताया गया । वही आयतत्व विशेष स्वर का 'उत्कर्ष', मृदुत्व स्वरविशेष का 'अपकर्ष' और मध्यमत्व स्वरविशेष की 'स्वस्थान-स्थता' या 'विशुद्धता' है ।

(छ) सात शुद्ध ग्रामरागो की चर्चा है और नाट्य में उनके प्रयोग के अवसर निर्दिष्ट हैं ।

अत इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत जो आतोद्य-विधि वर्णित है, उसका मूल भले ही वैदिक-परम्परा रही हो, परन्तु वह वैदिक एव पौराणिक मार्ग से पर्याप्त सीमा तक स्वतन्त्र 'सम्प्रदाय' है । इस आतोद्य-विधि में पौराणिकता का सर्वथा अभाव है, इसी लिए उसमें आतोद्यविधि के अन्तर्गत कोई शब्द भी गान्धर्व के 'अदृष्ट' फल की ओर सङ्केत नही करता और उसका प्रधान प्रयोजन लोकरञ्जन है ।

फलत यह स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र की आतोद्यविधि, जिसके लिए 'गान्धर्व' और 'सङ्गीत' दोनो शब्दो का प्रयोग नाट्यशास्त्र में है, लौकिक सङ्गीत पर विचार करती है । उसमें सङ्गीत के पश्चात्कालीन दो भेदो—मार्ग और देशी—की चर्चा तक नही है ।

---

* गान्धर्वमेतद् कथित मया हि पूर्वं यदुक्त त्विह नारदेन ।

+ गान्धर्वमेतत्कथित मया च पूर्वं यदुक्त प्रपितामहेन ।

नाट्यशास्त्र के आधार पर प्राचीन सङ्गीत को स्पष्ट करने का प्रयत्न करनेवाले अनुसन्धानकर्त्ता का क्षेत्र इसी लिए निश्चित हो जाता है।

५ भरत-सम्प्रदाय की नाट्यशास्त्रगत विशेषताएँ

(१) नाट्यशास्त्र के अनुसार एक स्थान में मूल ध्वनियाँ दस हैं। स्थूल दृष्टि को वे नौ प्रतीत होंगी, परन्तु विचार करने पर उनकी सख्या दस सिद्ध होती है, हाँ, उनकी सज्ञाएँ नौ है।

षाड्जग्रामिक स्वर ही माध्यमग्रामिक सज्ञाएँ ले लेते है, परन्तु उस अवस्था में षाड्जग्रामिक गान्धार मध्यमग्राम में उपयोगी नही होता और माध्यमग्रामिक काकली निषाद षड्जग्राम में अनुपयोगी होता है।

यदि किसी सारिका-वाद्य में हम सारिकाएँ सरकाये बिना षड्जग्राम एव मध्यमग्राम की आदिम मूर्च्छनाओ के शुद्ध, अन्तर-गान्धार-सहित, काकली-सहित एव साधारण, चारो रूप देखना चाहें, तो हमें उस पर दस पर्दे बाँधने पड़ेंगे।

निम्नस्थ सारणी में यह स्थिति स्पष्ट है—

षाड्जग्रामिक स्वरसज्ञाएँ	सारिकाएँ	माध्यमग्रामिक स्वरसज्ञाएँ
षड्ज———(मेरु) मुक्त तन्त्री		मुक्ततन्त्री (मेरु)– मध्यम
ऋषभ – – – – – – – १	———	– – – – – –त्रिश्रुतिक पञ्चम
गान्धार– – – – – – – २	———	– – – – – –O
अन्तर गान्धार– – – – ३	———	– – – – – –चतुश्रुतिक धैवत
मध्यम – – – – – – – ४	———	– – – – – –निषाद
O – – – – – – – – ५	———	– – – – – –काकली निषाद
पञ्चम – – – – – – – ६	———	– – – – – –षड्ज
धैवत – – – – – – – ७	———	– – – – – –ऋषभ
निषाद – – – – – – – ८	———	– – – – – –गान्धार
काकली निषाद– – – – ९	———	– – – – – –अन्तर गान्धार
षड्ज – – – – – – – १०	———	– – – – – –पञ्चम

माध्यमग्रामिक काकली निषाद की सिद्धि के लिए पाँचवी सारिका है, जिसकी ध्वनि षाड्जग्रामिक षड्ज की अपेक्षा आधुनिक 'तीव्र मध्यम' होगी। दूसरी सारिका पर कोई माध्यमग्रामिक स्वर नही और पाँचवी सारिका पर कोई षाड्जग्रामिक स्वर नहीं है।

नाट्यशास्त्र (वम्बई-सस्करण) के तीसवें अध्याय में कहा गया है कि—"षड्ज एव मध्यम (ग्राम) के गान्धार (अन्तर गान्धार) और निषाद (काकली निषाद) की कृति (स्थापना) में तीन अन्तर स्वरो की सस्था (स्थिति) से स्वरसाधारण होता है।"* इस प्रकार अन्तर स्वर तीन है—१ षाड्जग्रामिक अन्तर गान्धार, (२) माध्यमग्रामिक काकली निषाद, (३) षाड्जग्रामिक काकली निषाद या माध्यमग्रामिक अन्तर गान्धार।

(२) नाट्यशास्त्र के अनुसार स्वरसाधारण के दो प्रकार हैं। पहला स्वर-साधारण दो श्रुतियो के उत्कर्ष से होता है, जिसके परिणामस्वरूप अन्तरगान्धार एव काकलीनिषाद की सिद्धि होती है। दूसरा स्वरसाधारण प्रयोग की सूक्ष्मता का परिणाम होता है, जिसे 'कैशिक' कहा गया है, जिसमें स्वर अपने स्थान से केशाग्र अन्तर उतरता या चढता है, यह केशाग्र अन्तर ही 'प्रमाणश्रुति' है। इस स्वरसाधारण से उत्पन्न स्वरो की स्थिति निरपेक्ष नही होती, अपितु उनका उत्कृष्ट एव अपकृष्ट रूप विशिष्ट स्वरसन्निवेश अर्थात् स्वरप्रयोग के विशिष्ट क्रम का परिणाम होता है, इसलिए वे मूर्च्छनाओ के निर्माण में कारण नही होते।

(३) षड्जग्राम में धैवत, मध्यम ग्राम में पञ्चम एव मध्यम सर्वत्र अविलोपी रहता है।

(४) मूर्च्छनाओ से उत्पन्न तानें षट्स्वर एव पञ्चस्वर होती है। सम्पूर्ण मूर्च्छनाएँ जातियो के सम्पूर्ण, षट्स्वर तानें षाडव और पञ्चस्वर तानें औडुव रूपो का निर्माण करती है। देश-विशेष मे चतु स्वर प्रयोग की ओर भी नाट्यशास्त्र में सकेत है।

(५) औडुवरूप में जिन दो स्वरो का लोप होता है, वे परस्पर सवादी होते हैं।

(६) जातियाँ और उनमे विकार—

जातियो में विकार के कई कारण होते हैं, (१) अशस्वर में परिवर्तन, (२) दो या अधिक जातियो का मिश्रण, (३) अन्य लक्षणो में परिवर्तन।

'अश' स्वर मूर्च्छना का प्रारम्भिक स्वर है। वाद्यविधि मे इसी को 'स्थायी' स्वर कहा गया है, मृदङ्ग इत्यादि वाद्य इसी में मिलाये जाते थे। आज यदि जाति-प्रयोग

---

* स्वरसाधारण चापि ऋयन्तरस्वरसस्थया।
निषादगान्धारकृतौ षड्जमध्यमयोरपि॥

किया जाय, तो सितार और वीणा की चिकारियाँ इसी में मिलायी जायँगी । निरन्तर गूँजते रहने के कारण भी इसका नाम 'स्थायी' है । स्थायी भाव का प्रकाशन भी यही करता है । पाश्चात्यों के 'टोनिक' या 'की-नोट' शब्द इसी के पर्याय हैं ।

एक जाति का एक विशिष्ट 'वर्ण' (स्वरसन्निवेश, स्वरक्रम) जाति का रूप निश्चित करनेवाला स्वर-समुदाय होता है । अंश स्वर का परिवर्तन होने पर भी 'वर्ण' वही रहता है, केवल परिवर्तित 'अंश' या 'स्थायी' स्वर का प्रयोग बहुल हो जाता है ।

आज मेल-पद्धति एवं ठाठ-पद्धति में प्रत्येक स्थायी स्वर को 'सा' कहा जाने लगा है ।

दो या अधिक जातियों के संकर से संकीर्ण या मिश्र जातियों की उत्पत्ति होती है । ऐसी अवस्था में भी वे षाड्जग्रामिक या माध्यमग्रामिक मानी जाती हैं । यदि ऐसी जातियों में 'पञ्चम' लोप्य स्वर रहे तो वह षाड्जग्रामिक मानी जायँगी, क्योंकि मध्यम ग्राम में 'पञ्चम' अविलोपी होता है, यदि 'धैवत' लोप्य स्वर हो, तो वे माध्यमग्रामिक मानी जायँगी, क्योंकि षड्ज ग्राम में धैवत का लोप विहित नहीं । प्रयोज्य पञ्चम एवं धैवत की त्रिश्रुतिकता एवं चतु श्रुतिकता से भी ग्रामविशेष का बोध होता है ।

(७) राग—

शुद्धसाधारित, षड्जग्राम, मध्यमग्राम, षाडव, शुद्धकैशिक, शुद्धकैशिकमध्यम एवं पञ्चम, ये सातों शुद्ध राग जातियों के विकार या संकर का परिणाम हैं । केवल 'षाडव' राग विकृत मध्यमा से उत्पन्न है, अवशिष्ट छहों राग संकीर्ण जातियों से उत्पन्न हुए हैं ।

इस प्रकार हम देखते है कि नाट्यशास्त्र में संकीर्ण जातियाँ एवं उनसे उत्पन्न राग हैं, परन्तु उन जातियों या रागों को किसी एक ग्राम से ही सम्बद्ध माना गया है। किसी जाति या राग को 'द्वैग्रामिक' नहीं कहा गया ।

(८) अन्तर स्वरों का प्रयोग जातियों में केवल आरोह में विहित है ।

(९) एक ही जाति या राग में गान्धार या निषाद के दोनों रूपों का प्रयोग सम्भव नहीं ।

६ उपलब्ध नाट्यशास्त्र

तत्त्वदर्शी महर्षि अपने चिन्तन के परिणामों को सूत्ररूप में कहते रहे हैं । 'सूत्र' अल्पाक्षरयुक्त, सन्देहरहित, सारगर्भ, व्यर्थशब्दहीन, व्यापक एवं अनिन्द्यार्थबोधक होते हैं ।

सूत्र के समस्त सार भाग का विवरण करनेवाली व्याख्या 'वृत्ति', वृत्ति की विवेचना 'पद्धति', शकाएँ उठाकर उनका समाधान किया जाना 'भाष्य', भाष्य के अवान्तर अर्थो का स्पष्टीकरण 'समीक्षा', यथासम्भव सरल अर्थो का सकेत 'टीका', कठिन भाग का सरल शब्दो में स्पष्टीकरण 'पञ्जिका', सूत्र के अर्थ का प्रदर्शन मात्र 'कारिका' तथा उक्त, दुरुक्त एव अनुक्त अर्थो का विवेचन 'वार्तिक' कहलाता है।

भारतीय सिद्धान्त इसी प्रकार प्रौढ शास्त्रो के रूप में विकसित होते रहे है। नाटयशास्त्र एव सङ्गीतशास्त्र के विकास का भी यही क्रम रहा है। आज इन दोनो विषयो के मूलसूत्र अप्राप्य हैं।

यदि आज कोई व्यक्ति 'शाङ्करदर्शन' पर एक ग्रन्थ लिखे, तो उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त तो शकराचार्य के होगे, परन्तु उस कृति को विशिष्ट रूप स्वय लेखक द्वारा प्राप्त होगा।

भारत के गौरवपूर्ण अतीत में अनेक प्रसिद्धिपराङ्मुख आचार्य ऐसे हुए हैं, जिन्होंने प्राचीन मनीपियो के सिद्धान्तो की व्याख्या अत्यन्त सुन्दर रूप में की और अपने यश की चिन्ता न की। अनेक व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, परन्तु उनके कर्ताओ का पता नही।

कारिकाओ, वृत्तियो, व्याख्याओ एव भाष्यो के कारण जब किसी शास्त्र का विस्तार अधिक हो जाता है, तब तत्त्वदर्शी मनीपी लोक पर अनुग्रह करके उस शास्त्र का सक्षेप कर देते हैं। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ऐसे अनेक ग्रन्थ विद्यमान है, जिनमें प्रतिपादित सिद्धान्तो के मूलत उद्भावक महापुरुष उन ग्रन्थो की रचना से कही पूर्व सुदूर अतीत में हुए हैं।

ऐसी स्थिति में 'सक्षेप-ग्रन्थो' की भापा इत्यादि के आधार पर उन महाविभूतियो के अस्तित्व-काल का निश्चय किया जाना उचित नही, जिनके सिद्धान्तो का प्रतिपादन इन ग्रन्थो में है।

लौकिक सङ्गीत पर विचार करनेवाला उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ 'नाटयशास्त्र' है। भावप्रकाशनकार शारदातनय ने लिखा है कि नाटय-सम्बन्धी विस्तृत सिद्धान्तो के दो सग्रह, 'द्वादशसाहस्री' एव 'पट्साहस्री', किये गये।

द्वादशसाहस्री आज अनुपलब्ध है और पट्साहस्री का ही एक रूप उपलब्ध 'नाटयशास्त्र' है।

पट्साहस्री के वर्तमान रूपो में पाठ-भेद, विषय-प्रतिपादन में क्रमभेद तथा अध्यायो के क्रम में भी भेद पाया जाता है। कुछ प्रतियो में किसी विषय का विवेचन पद्य में है, तो अन्य प्रति में उसी नियम का विवेचन गद्य में है।

इस प्रकार पट्साहस्री के प्रमुख रूप दो हैं, एक प्राचीन और दूसरा नवीन। उद्भट और लोल्लट इत्यादि व्याख्याकारों का आधार प्राचीन रूप एवं शंकुक, कीर्तिधर एवं अभिनवगुप्त की व्याख्या का आधार नवीन रूप है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कहा है कि 'नास्तिकधुर्य उपाध्याय' ने (उपलब्ध) नाट्यशास्त्र को एक संग्रहग्रन्थ माना है, भरत मुनि की कृति नहीं माना। सदाशिव-मत, भरतमत एवं ब्रह्ममत के विवेचन द्वारा ब्रह्ममत की ससारता प्रतिपादित करने के लिए उन-उन मतों के प्रतिपादक ग्रन्थों के खण्डों का प्रक्षेप (संग्रह) करके इस शास्त्र का निर्माण किया गया है।

आचार्य अभिनवगुप्त यद्यपि इस धारणा से सहमत नहीं, तथापि यह सिद्ध है कि आचार्य अभिनवगुप्त के काल, ईसा की दशम शती में भी नाट्यशास्त्र को पश्चात्कालीन संग्रह माननेवाले विचारक विद्यमान थे।

नाट्यशास्त्र के उपलब्ध रूप में अनेक स्थानों पर आनुवंश्य संग्रह-श्लोकों का अस्तित्व प्रमाणित करता है कि यह एक संग्रह-ग्रन्थ है, जिसका आधार कोई प्राचीन ग्रन्थ और वंश-परम्परागत सामग्री है।

नाट्यशास्त्र में 'नाट्यवेद' की चर्चा है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में श्रोता मुनिवृन्द-ग्रथित 'नाट्यवेद' की चर्चा करते हैं। आतोद्यविधि में 'गान्धर्व-कल्प' नामक एक ग्रन्थ की चर्चा है,* जो सामगान करनेवालों से सम्बद्ध प्रतीत होता है और जिसमें 'मध्यम' को अविनाशी माने जाने की बात कही गयी है।

शारदातनय के अनुसार 'पञ्चभारतीयम्' नामक एक ग्रन्थ का अस्तित्व भी था, जो सम्भवतः पाँच भरतों के सिद्धान्तों का संग्रह-ग्रन्थ रहा होगा। शारदातनय ने भरत के पुत्र पाँच बताये हैं। नाट्यशास्त्र में भरतपुत्रों की संख्या सौ है।

नाट्यशास्त्र की जातियों में मतभेद का संकेत भी मिलता है। कैशिकी जाति में कभी ऋषभ को भी अपन्यास स्वर मानने की बात इस मतवैविध्य की ओर इङ्गित करती है।

नाट्यशास्त्र के काशी-संस्करण एवं बम्बई-संस्करण के अट्ठाईसवें अध्याय में जातियों का वर्णन पद्य में है, परन्तु नाट्यशास्त्र के जिस रूप पर आचार्य अभिनवगुप्त ने टीका की है, उसमें जातियों का वर्णन गद्य में है।

नाट्यशास्त्र की भाषा में 'अपाणिनीय' प्रयोग प्रायः नहीं हैं। इस दृष्टि से नाट्य-

---

* गान्धर्वकल्पे विहित सामगैरपि मध्यम । —नाट्यशास्त्र

शास्त्र का वर्तमान रूप बहुत अधिक प्राचीन नही प्रतीत होता, तथापि उसमें वर्णित सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन हैं।

७ भरत और आदिभरत

अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में राघवभट्ट ने 'भरत' एव 'आदिभरत' दोनो के ही उद्धरण दिये हैं। भाण्डारकर-प्राच्य-सस्थान में सुरक्षित 'नाटच-सर्वस्व-दीपिका' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ को 'आदिभरत' की टीका समझा जाता है। इसके अनुसार आदिभरत में पाँच स्कन्ध, वत्तीस अध्याय और दो सौ इक्कीस प्रकरण थे एव श्लोक-सख्या छ सहस्र थी।

'रत्नाकर' के टीकाकार कल्लिनाथ ने 'भरत' के कुछ ऐसे उद्धरण दिये हैं, जो वर्तमान सस्करणो में नही मिलते। सात ग्रामरागो की चर्चावाला जो पाठ कल्लिनाथ को प्राप्त था, उसमें शुद्ध, भिन्न, वेसर, गौड एव साधारण रागो का भी विनियोग नाटच मे निर्दिष्ट था। शुद्धा, भिन्ना, गौडी, वेसरा एव सावारणी गीतियाँ दुर्गामत मे सम्बद्ध हैं जो रागो के पाँच प्रकार वना देती हैं।*

अत यह सिद्ध है कि नाटचशास्त्र के अनेक सस्करण थे, जो परम्परागत सिद्धान्तो के सग्रहमात्र थे। उनमें पौर्वापर्य का निश्चय किया जाना कठिन है।

नाटचशास्त्र के वर्तमान रूप को अभिनवगुप्त ने भरतसूत्र कहा है, नान्यदेव भी नाटचशास्त्र के जातिलक्षणो को सूत्र ही कहते हैं।

आदिनाटचशास्त्र

मत्स्यपुराण में नाटचशास्त्र के प्रवर्तक भरत मुनि की चर्चा है। देवलोक में भरत मुनि ने 'लक्ष्मी-स्वयवर' नाटक की योजना की। उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी, परन्तु देवसभा में स्थित पुरूरवा के रूप पर मुग्ध होकर वह अपना अभिनय भूल गयी। अत भरत मुनि ने क्रुद्ध होकर उर्वशी और पुरूरवा दोनो को ही शाप दे दिया। इस प्रकरण मे भरत मुनि का नाम पाँच बार आया है।

कालिदास ने इस कथा की ओर सकेत किया है और भरत मुनि के नाम एव कृति

---

* तथा चाह भरत —

पूर्वरङ्गे तु शुद्धा स्याद् भिन्ना प्रस्तावनाश्रया। वेसरा मुखयो कार्या गर्भे गौडी विधीयते ॥
साधारिताऽवमर्शे स्यात् सन्धौ निर्वहणे तथा। —कल्लि०, स० र० टी०, राग०, अ० म०, पृ० ३२

का उल्लेख किया है। नयी खोजो के अनुसार कालिदास का काल ई० पू० प्रथम शती निश्चित हो चुका है।

वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड एव उत्तरकाण्ड को आधुनिक विचारक वाल्मीकि की कृति न मानकर प्रक्षिप्त भाग मानते हैं, परन्तु यदि इन काण्डो को प्रक्षिप्त माना जाय, तो भी इनकी भाषा इन दोनो काण्डो को पाणिनि की अपेक्षा पुरातन सिद्ध करती है। आज के विद्वान् पाणिनि को ईसा से ७०० पूर्व किसी समय का व्यक्ति मानते हैं।

अयोध्याकाण्ड से युद्धकाण्ड तक भी वाल्मीकि-रामायण में सङ्गीत की जो चर्चा है, वह वाल्मीकि का भरत-सिद्धान्तो से परिचित होना भली भाँति सिद्ध करती है।

रामायण के वर्तमान रूप में 'प्रक्षेप' हैं, परन्तु सङ्गीत-विषयक चर्चा रामायण में अत्यन्त स्वाभाविक ढग से आयी है, उन सभी स्थलो को अकारण प्रक्षिप्त नही माना जा सकता।

वाल्मीकिरामायण में 'मत्तकोकिला' एव 'विपञ्ची' जैसी प्राचीनतम वीणाओ की चर्चा है, परन्तु 'किन्नरी' जैसी सारिकायुक्त वीणा की चर्चा नही है।

शुद्ध सात जातियो की चर्चा है, जिससे सिद्ध है कि चार षाड्जग्रामिक एव तीन माध्यमग्रामिक जातियो से वाल्मीकि परिचित थे। विकृत अथवा ससर्गज जातियो की कोई चर्चा वाल्मीकि-रामायण में नही।

इस दृष्टि से भी यह सिद्ध है कि रामायण की रचना उस काल में हुई जब कि शुद्ध जातियो का प्रचलन था और किन्नरी-जैसे सारिकायुक्त वाद्यो का जन्म नही हुआ था।

रामायण में सङ्गीत-शास्त्र की जिन परिभाषाओ का उल्लेख हुआ है, वे निम्न-लिखित हैं —

		काण्ड	सर्ग	श्लोक
१	गान्धर्व	अयो०	२	३५
२	सङ्गीत	किष्कि०	२८	३६-३७
३	आतोद्य	.. सुन्दर०	१०	४९
४	समाज	. अयोध्या०	५१	२२
५	गीत	. ,,	१२	७७
६	गीत	.. बाल०	४	२७
	स्वरविधि—			
७	स्थान	.. बाल०	४	१० }
		. सुन्दर०	४	१० }

८	स्वर	सुन्दर०	४	१०
९	श्रुति	अयोध्या०	६५	२
१०	मूर्च्छना	उत्तर०	९३	१३
११	स्थानमूर्च्छन	बाल०	४	१०
१२	जाति	"	४	४८
१३	करण	उत्तर०	७१	१५
	तत वाद्य—			
१४	वीणा	अयोध्या०	३९	२९
१५	मत्तकोकिला	किष्कि०	१	१५
१६	विपञ्ची	सुन्दर०	१०	४१
	सुषिर वाद्य—			
१७	वेणु	किष्कि०	३०	५०
१८	शख	युद्ध०	४२	३९
	अनवद्ध वाद्य—			
१९	दुन्दुभि	युद्ध०	४२	३९
२०	भेरी	"	४४	१२
२१	पटह	सुन्दर०	१०	३९
२२	मृदङ्ग	"	१०	४२
२३	डिण्डिम	"	"	४४
२४	पणव	"	"	४३
२५	मुरज	"	११	६
२६	मड्डुक	"	१०	३८
२७	आडम्बर	"	"	४५
२८	चेलिका	"	११	६
	वादनोपकरण—			
२९	कोण	युद्ध०	४२	३४
	तालविधि—			
३०	मात्रा	उत्तर०	२४	७

३१ कला	उत्तर०	२४	७
३२ लय	वाल०	२	१८
३३ प्रमाण	उत्तर०	१४	२
३४ ताल	"	"	"
३५ समताल	उत्तर०	७१	१५
३६ अक्षरसम	वाल०	२	१८
३७ मार्ग	"	४	३६
३८ शम्या	अयोध्या०	९१	४९
३९ गीति	उत्तर०	७१	१८
नृत्यविधि—			
४० नृत्य	सुन्दर०	११	५
४१ अङ्गहार	"	१०	३६
नाट्यविधि—			
४२ रङ्ग	युद्ध०	२४	४३
४३ नाटक	वाल०	६	१२ }
	अयो०	६९	४ }
शास्त्रज्ञ—			
४४ पूर्वाचार्य	उत्तर०	१४	२
४५ लक्षणज्ञ	"	१४	५-६
४६ कलामात्राविशेषज्ञ	"	"	"
सङ्गीतज्ञ पात्र—			
१ राम	अयोध्या०	२	१५
२ सीता	"	३९	२९
३ रावण	युद्ध०	२४	४२-४३
गंधर्व—			
१ नारद	अयोध्या०	९१	४
२ तुम्बुरु	"	"	"
	"	"	"

अप्सराएँ—

१	अलम्बुषा	अयोध्या०	९१	४७
२	मिश्रकेशी	,,	,,	,,
३	पुण्डरीका	,,	,,	,,
४	वामना	,,	,,	,,

इस स्थिति से यह निश्चित हो जाता है कि महर्षि वाल्मीकि आदिम नाट्यशास्त्र के विपय से भली भाति परिचित थे, फलत हमारी दृष्टि में नाट्यवेद के आदिप्रवक्ता भरत वाल्मीकि से पूर्ववर्ती थे। निम्नलिखित कारण हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं—

(क) नाट्यशास्त्र में उपलब्ध अनुश्रुति महर्षि भरत को महाराज नहुष का समकालीन बताती है, जो भगवान् राम से पीढियो पूर्व हुए है और आधुनिक अनुसन्धानो के परिणामस्वरूप एक वैदिककालीन नरेश सिद्ध हो चुके हैं।

(ख) नाट्यशास्त्र के काशी-सस्करण में भगवान् वाल्मीकि को नाट्यवेद के श्रोता ऋषियो में गिनाया गया है। इससे सिद्ध है कि नाट्यशास्त्र का सग्रहकार भी महर्षि वाल्मीकि का उपजीव्य (श्रद्धेय) किसी 'भरत' को मानता था।

(ग) वाल्मीकि के टीकाकार राम ने उत्तरकाण्ड में प्रयुक्त 'पूर्वाचार्य' शब्द का अर्थ 'भरत' किया है। अत इस टीकाकार को उपलब्ध अनुश्रुति भी भरत को वाल्मीकि की अपेक्षा पूर्वाचार्य सिद्ध करती है।

(घ) कालिदास एव मत्स्यपुराण के अनुसार भी नाट्य के आदिम प्रयोक्ता 'भरत' ही हैं।

(ङ) वाल्मीकिरामायण का अन्त साक्ष्य भरत के सिद्धान्तो से वाल्मीकि का पूर्णतया परिचित होना सिद्ध करता है।

हमारी दृष्टि में वाल्मीकि, पाणिनि से कही पूर्ववर्ती हैं और भरत वाल्मीकि से भी पूर्व हुए हैं।

ईसा से पूर्व किसी न किसी शताब्दी में वाल्मीकि या भरत-जैसी महाविभूतियो को कही न कही 'फिट' कर देना हमारे वश की बात नही।

८ भरत-सिद्धान्तो पर विदेशी प्रभाव ?

भारतीय वाङ्मय जब ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानो के विचार का विपय बना, तव उन्होंने भारतीय सस्कृति के उस मूल को खोजना चाहा, जिसकी जड़ें सुदूर अतीत में न जाने कहाँ तक चली गयी हैं। उनकी अपनी विशिष्ट मान्यताएँ उन्हें

अतीत में एक विशिष्ट सीमा तक ले गयी, जिसके अन्तर्गत उन्होंने भारतीय वाङमय की अमर कृतियों को काल की दृष्टि से किसी न किसी शताब्दी में कहीं न कहीं ठीक इसी भाँति पटक दिया, जिस भाँति कोई भारवाहक थककर चूर हो जाता है और गन्तव्य स्थान तक पहुँचने से पूर्व ही मार्ग में कहीं भी सिर पर लदे भार को पटककर हाँफने लगता है।

यह ठीक है कि किसी सीमा तक पर्याप्त सामग्री के अभाव के कारण उन विचारकों के मार्ग में कठिनाइयाँ थीं, परन्तु साथ ही साथ यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि वे अनेक विशेषताओं का श्रेय पराधीन भारत की शासित जाति को न देकर अपने पूर्वजों के गुरु 'यूनान' जैसे देशों को देना चाहते थे।

शासक जाति शासित जाति का स्वाभिमान एवं आत्म-विश्वास नष्ट करने के लिए सब कुछ करती है। भारतीय नाटकों पर यूनान का प्रभाव सिद्ध करने में कुछ सज्जनों ने एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया, जब कि यूनान में 'प्रेक्षागृह' जैसी कोई वस्तु नहीं थी, सात्त्विक अभिनय के लिए कोई स्थान नहीं था और यवनिका होती ही नहीं थी। सन्तोष का विषय है कि पिछली पीढ़ी के जर्मन विद्वान् वेबर ने अपने जीवन में ही यह मान लिया था कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप में हुई है, भले ही उस पर ग्रीक प्रभाव हो।

मनुस्मृति के अनुसार तो संस्कारों के लोप एवं ब्राह्मणों के अदर्शन के परिणाम-स्वरूप 'यवन' एवं 'शक' जातियों का क्षत्रियत्व नष्ट हो गया। 'मानव' धर्म का प्रभाव हटने के कारण 'यवन' 'शक' इत्यादि जातियों को वृषलत्व की प्राप्ति हुई। इसका अर्थ तो यह है कि यवनों (यूनानियों) पर ही आरम्भ में मनु के आचार का प्रभाव पड़ा, जो सम्भवतः राजनीतिक कारणों से शनैः-शनैः कम होता गया।

जिन्हें पाश्चात्यों का नाम सुने बिना सन्तोष न होता हो, उनको सन्तुष्ट करने के लिए इतना पर्याप्त है कि प्रो० वेर्नर या एगर ने अपनी अरिस्तोतिली के विकास की पुस्तक में भारतीय विद्वानों का यूनान में पहुँचना भारत पर सिकन्दर के आक्रमण से कहीं पूर्व सिद्ध किया है। प्रो० उर्विक ने प्लातोन की रिपब्लिक नामक पुस्तक पर भारतीय सिद्धान्तों का प्रभाव सिद्ध किया है।

यूनान और भारत के सम्बन्धों पर जिन पाश्चात्य विद्वानों ने विचार किया है, वे संस्कृत एवं ग्रीक दोनों भाषाओं से परिचित थे। आवश्यकता है कि हम भारतीय इन दोनों भाषाओं का अध्ययन करके इस विषय पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करें।

भरत के रसोन-सिद्धान्तों को अस्पष्ट एवं श्रुति-विभाग-सिद्धान्त को आडम्बर मात्र घोषित करके कुछ पाश्चात्य सज्जनों ने सन्तोष-लाभ किया, तो कुछ मूर्तियाँ

भरत की 'प्रमाणश्रुति' को पायथोगोरस का प्रसाद सिद्ध करने मे जुट गयी । ग्रीक एव सस्कृत दोनो भाषाओ से अपरिचित कुछ 'म्यूजिक-टीचर' आज भी कुछ ऐसी ही अनर्गल बातें यदा-कदा लिख डालते हैं ।

उन्नीसवी शती के अन्त एव बीसवी शती के आरम्भ में भारत के शिक्षित कहे जानेवाले समुदाय का पर्याप्त भाग अपने आपको पाश्चात्यो की दृष्टि में 'प्रगतिवादी' एव 'भारतीयो का आधुनिकतम सस्करण' सिद्ध करने में लगा था । वह स्वय को उस वर्ग से पृथक् करके दिखाना चाहता था, जो पाश्चात्यो की दृष्टि में रूढिवादी था । इस 'आधुनिकतम' भारतीय ने प्रत्येक उस 'नारे' को दुहराने में अपनी विशालहृदयता एव निपुणता—इतिकर्त्तव्यता समझी, जो पश्चिम मे उठा हो ।

भारतीय मूलग्रन्थो से अपरिचय, सस्कृत भाषा के पठन-पाठन की परम्परा के ह्रास, प्राचीन सम्प्रदायो के लोप एव मैकाले-महोदय की शिक्षा-योजना के परिणाम-स्वरूप बडी-बडी मनोरञ्जक बातें कहनेवाले व्यक्ति भारत में ही उत्पन्न हुए ।

इस स्थिति से सङ्गीतक्षेत्र भी अछूता न रहा । नाट्यशास्त्र को अपने दर्शन से कृतकृत्य करने के पूर्व ही पडितम्मन्य मनीषियो (!) ने उसे अस्पष्ट घोषित कर डाला । कुछ सज्जनो ने यह व्यवस्था दे दी कि सस्कृत भाषा के शब्द अनेकार्थवाची होते हैं, फलत ग्रन्थो के वास्तविक तात्पर्य का समझा जाना सम्भव नही ।

किन्ही महानुभाव ने यह लिख दिया कि नाट्यशास्त्र में 'सङ्गीत' शब्द नही, तो किसी ने यह स्थापना कर डाली कि नाट्यशास्त्र में 'राग' शब्द नही, हो भी तो प्रचलित अर्थ में नही । इतना अवकाश किसे था कि नाट्यशास्त्र को स्वय पढकर 'सङ्गीत' और 'राग' शब्दो को उसमें देखे । जिस नाट्यशास्त्र में एक नही सात 'राग' विद्यमान है, 'राग' एव 'सङ्गीत' शब्दो का प्रयोग एक से अधिक स्थानो पर है, उस नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में ऐसे सज्जन भी विचार करते, भाषण देते पाये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध कम से कम इस जीवन में तो नाट्यशास्त्र के साथ सम्भव नही ।

यदि कोई सज्जन ग्रेजुएट भी है, सङ्गीत की भी कोई परीक्षा उन्होने पास कर ली है, सङ्गीत के दुर्भाग्य एव अपने सौभाग्य से किसी प्रतिष्ठित कही जानेवाली सस्था में सङ्गीत के अध्यापक भी नियुक्त हो गये हैं, तो उन बेचारो को भाषण भी देने पडते हैं । भाषण में कुछ न कुछ तो कहा ही जाना चाहिए । कही जाय, तो कोई विचित्र एव मौलिक बात कही जाय । फलत षड्जग्राम, गान्धारग्राम पर सङ्कट आता है, इनके विलक्षणतम भाषण स्वय इनके लिए भी अस्पष्ट स्पष्टीकरण (!) होते हैं । ऐसा भी होता है कि दवदुर्विपाक से महर्षि भरत पर पायथोगोरस की छाया पडने लगती है ।

हिन्दी, संस्कृत, इंगलिश एवं ग्रीक भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् पण्डित भोलानाथ शर्मा एम० ए० (बरेली-कालेज, संस्कृत-विभाग) का कथन है कि पाइथोगोरस के किसी भी ग्रन्थ का आज अस्तित्व नहीं, प्राचीन ग्रीक ग्रन्थों के उद्धरणों एवं अनुश्रुतियों के आधार पर ही उसकी चर्चा होती है। ऐसी स्थिति में पाइथोगोरस का प्रभाव भरत पर ढूंढनेवाले व्यक्तियों की गणना संसार के प्रमुखतम आश्चर्यों में होनी चाहिए। वाल्मीकि एवं आदिभरत से पूर्व 'पाइथोगोरस' का अस्तित्व सिद्ध होना अभी शेष है।

९. महर्षि भरत के स्वर और आधुनिक भौतिक विज्ञान

सङ्गीतप्रयोज्य ध्वनियों के सम्बन्ध में आधुनिक भौतिक विज्ञान ने कुछ सिद्धान्त निश्चित किये हैं। हमें उन सिद्धान्तों के प्रति कोई विरोध या अनुरोध नहीं है।

महर्षि भरत के सङ्गीत पर विचार करनेवाले अनुसन्धानकर्त्ता के सम्मुख मूल प्रश्न यह आता है कि आधुनिक सूक्ष्मतम वैज्ञानिक उपकरणों के अभाव में प्राचीन महर्षि स्वरसम्बन्धी सनातन सिद्धान्तों तक किस विधि से पहुँचे, उस आर्षविधि की खोज ही अनुसन्धानकर्त्ता का लक्ष्य होना चाहिए।

महर्षि भरत की सारणाविधि के परिणामस्वरूप हमें श्रुतियों के तीन परिमाण प्राप्त हुए हैं। व्यावहारिक सुविधा के लिए हमने इनका नाम 'क', 'ख', 'ग' किया है, ये परिमाण क्रमशः छोटे होते गये हैं। 'ख' और 'ग' मिलकर प्रायः 'क' के समान हो जाते हैं। चतुःश्रुतिक स्वरों में इनका क्रम 'ग, क, ख, ग', त्रिश्रुतिक स्वरों में 'क, ख, ग' और द्विश्रुतिक स्वरों में 'ख, ग' होता है। काकलीनिषाद एवं अन्तरगान्धार निषाद एवं गान्धार की शुद्ध अवस्था से 'ग, क' अन्तर पर रहते हैं।

सारणाविधि के परिणामस्वरूप ज्ञात श्रुतियों में एक सप्तक के अन्तर्गत पांच 'क', सात 'ख' एवं दस 'ग' श्रुतियाँ होती हैं।

'ग' श्रुति 'प्रमाणश्रुति' है, जो प्रत्येक चतुःश्रुतिक स्वर के आदि एवं अन्त में त्रिश्रुतिक धैवत और ऋषभ तथा द्विश्रुतिक गान्धार एवं निषाद के अन्त में रहती है।

इस प्रमाणश्रुति का ज्ञान ही स्वरों के भरतोक्त आयतत्व एवं मृदुत्व का ज्ञान कराता है और सङ्गीतप्रयोज्य ध्वनियों की अनन्तता का साधक है।

१०. मौलिकता का दावा नहीं

पूर्व पुरुषों के सिद्धान्तों की व्याख्या करनेवाला व्यक्ति मौलिकता का दावा नहीं किया करता, वह तो पूर्वोक्त तथ्यों को केवल स्पष्ट करने के लिए सचेष्ट मात्र होता है। लेखक को ग्रन्थ-सामग्री की मौलिकता का गर्व इसी लिए नहीं है। ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है, उनके आधारों को उद्धृत करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है।

ग्रन्थ लिखने का मुख्य प्रयोजन हिन्दी-पाठको के समक्ष कुछ तथ्यो को उद्घाटित करना है, किसी व्यक्ति-विशेष या वर्गविशेष का खण्डन नही । संस्कृत-ग्रन्थो के यथास्थान उद्धरण उन अनुसन्धानकर्त्ताओ के लिए उपयोगी सिद्ध होगे, जो इस दिशा में सचमुच कुछ कार्य करना चाहते हैं।

खण्डनात्मक पद्धति उस वर्ग के पाठको के मन में ग्रन्थ के प्रति एक आक्रोश उत्पन्न करती है, जो किसी व्यक्ति या वर्गविशेष के प्रति जन्मना अथवा चिरकाल से श्रद्धा रखते हैं, फलत इस ग्रन्थ को आधुनिक विचारको के खण्डन से दूर रखा गया है। यदि जिज्ञासु पाठको एव अधिकारी विद्वानो ने सरल भाव एव मर्मस्पर्शिनी दृष्टि से प्रस्तुत कृति का मूल्याङ्कन किया, तो इसके अकिञ्चन कर्त्ता को प्रसन्नता होगी।

जातियो एव ग्रामरागो को गेय एव वादनीय रूप से प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न इस ग्रन्थ के लेखक द्वारा किया जा चुका है। वाग्गेयकार की सीमाओ एव कर्त्तव्यो का ध्यान रखते हुए इनके उदाहरणो की रचना एव शिक्षा का कार्य यथासम्भव हो रहा है। तथापि व्यक्ति की सीमाएँ होती हैं, इन कार्यों के लिए राजकीय सहायता अनिवार्य-अपेक्षित होती है। भगवान् आशुतोष को यदि इस शरीर से कुछ कार्य लेना है, तो साधन स्वय जुट जायॅगे—

गुणहीन व्यक्ति, गुण को परख नही सकता और एक गुणी दूसरे गुणी के प्रति मत्सरी होता है। ऐसा सरल व्यक्ति विरल होता है, जो गुणी भी हो और गुणरागी भी। श्री ठा० जयदेवसिहजी के रूप में मुझे ऐसे ही सरल एव विरल व्यक्तित्व का स्नेहमय सम्पर्क प्राप्त हुआ है। वे सगीतमर्मज्ञ तो है ही, ऐसे कई शास्त्रो के साथ भी उनका प्रगाढ परिचय है, जिनके अच्छे ज्ञान के अभाव मे किसी को प्राचीन सङ्गीतशास्त्र के स्पर्श का भी अधिकार नही है। उन्होने इस ग्रन्थ के भूमिका-लेखन के लिए अपनी कठिन परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करके कुछ समय निकाल ही लिया, यह उनके विद्याव्यसन एव गुणरागित्व का प्रमाण है।

सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश के सञ्चालक एव हिन्दी-समिति के सचिव श्री भगवती-शरणसिहजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नही, प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन जिनकी सङ्गीताभिरुचि एव गुणग्राहिता का परिणाम है।

अन्तत —

आपरितोषाद् विदुषा साधु न मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्यय चेत ॥

कैलासचन्द्र देव बृहस्पति

मङ्गलाचरणम्

गिरिजापाङ्गविलासवशीकृतहृदयमधीनमधीरम् ,
विरहितछद्मवेषमचिरम्प्रकटीकृतगौरशरीरम् ।
छलनगतञ्छलितन्नगतनयावचनचातुरीक्रीतम् ,
नौमि शङ्कर प्रियासखीजनललित कविकुलगीतम् ॥ १ ॥
चञ्चलयुवतिदृगञ्चलसञ्चितमदिरमधुरसङ्केताम् ,
प्रियतमपदपल्लवनतनयनामालिविनोदमुपेताम् ।
चन्द्रमौलिसितहासकण्टकितरोमामरुणकपोलाम् ,
नौमि पार्वतीमीशविलोकनविरहितसशयदोलाम् ॥ २ ॥
जलनिधिमन्थनमधुरपरिणति हरिपरिणयमुपनीताम् ,
कङ्कणकिङ्किणिनूपुरशिञ्जितमदिरामुपमातीताम् ।
मुकुलितनलिनविलोचनरुचिरामतिपुलकितगतिधीराम्,
नौमि सिन्धुजामिन्दीवरतनुसौरभरुचिरसमीराम् ॥ ३ ॥
अलिकुलकोकिललालनललिते यमुनातीरनिकुञ्जे ,
मधुगुञ्जनजितगीतगुञ्जिते मञ्जुलसुषमापुञ्जे ।
राधारूपधरामतिमधुरा मुरलीध्वनिसवीताम् ,
नौमि माधव मोदयन्तमनिश प्रियतमा पुनीताम् ॥ ४ ॥
गङ्गातुङ्गतरङ्गकेलिललित गजवदनमुदारम् ,
लम्वकरग्रहपतितकुसुमकुलविरचितसुन्दरहारम् ।
जननीकन्ठसमर्पणमनस वालसुलभकृतिलोभम् ,
नौमि गणेश मुदितमहेश विमलवुद्धिवलशोभम् ॥ ५ ॥

प्रथम अध्याय

ग्राम

जिन महर्पियो को सत्य का साक्षात्कार हो चुका हो, उन्हें 'आप्त'[1] कहा जाता है। 'आप्त' महापुरुषो के वाक्य 'शब्द'[2] कहलाते हैं। नैयायिको ने 'प्रत्यक्ष' इत्यादि प्रमाणो में 'शब्दप्रमाण' की भी गणना की है।[3] भारतीय विचारक श्रुतिवचनो एव आप्तवाक्यो को 'शब्दप्रमाण' के रूप में ग्रहण करते आये हैं। नाटच के क्षेत्र में महर्पि भरत 'आप्त' हैं।

महर्पि भरत का प्रधानतया प्रतिपाद्य विपय नाटच है। कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या कर्म ऐसा नहीं, जो नाटच में न आता हो[4], अत उसके अन्तर्गत महर्पि ने गीत, वाद्य और नृत्य का भी वर्णन किया है।

महर्पि के अनुसार नाटच के प्रयोक्ता को पहले गीत में परिश्रम करना चाहिए, क्योकि 'गीत' नाटच की शय्या है, गीत और वाद्य भली-भाँति प्रयुक्त होने पर नाटच-प्रयोग में कोई विपत्ति नही आती।[5]

१—आप्तस्तु यथार्थवक्ता।

—अन्नभट्ट, शब्दपरिच्छेद, तर्कसग्रह

२—आप्तवाक्य शब्द। —अन्नभट्ट, शब्दपरिच्छेद, तर्कसग्रह

३—यथार्थानुभवश्चतुर्विध। प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधम्। प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्।

—अन्नभट्ट, प्रत्यक्षपरिच्छेद, तर्कसग्रह

४—न तच्छ्रुत न सा विद्या न स न्यायो न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाटचेऽस्मिन्न दृश्यते॥

—भरत०, व० स०, प्रथम अध्याय, पृ० १२

५—गीते प्रयत्न प्रथम तु कार्य्य शय्या हि नाटचस्य वदन्ति गीतम्।
गीते च वाद्ये च सुप्रयुक्ते नाटचप्रयोगो न विपत्तिमेति॥

—भरत०, व० स०, अध्याय ३२, पृ० ६०३

'पूर्वरङ्गविधि'[६] एव 'ध्रुवागान'[७] में 'गीत', 'वाद्य' और 'नृत्य' का प्रयोग विहित है, फलत महर्षि भरत ने गीत, वाद्य और नृत्य का वर्णन सूत्ररूप में किया है, परन्तु उनके द्वारा किया हुआ विषय-प्रतिपादन सक्षिप्त होते हुए भी इतना पूर्ण है कि 'गीत', 'वाद्य' एव 'नृत्य' इत्यादि के सम्बन्ध में विचार करनेवाले पश्चाद्वर्ती प्रत्येक आचार्य ने महर्षि भरत के वचनो को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है।

'गीत', 'वाद्य' एव 'नृत्य' ही क्यो, नाट्यविद्या से सम्बद्ध किसी भी विषय में महर्षि भरत की सम्मति प्रमाण मानी जाती है। व्याकरण के क्षेत्र में जिस प्रकार पाणिनि, कात्यायन या पतञ्जलि 'मुनि' कहलाते है,[८] उसी प्रकार भरत भी नाट्य एव तत्सम्बन्धी क्षेत्रो में 'मुनि' कहे जाते है। यही नही, इन क्षेत्रो में 'मुनि' शब्द भरत का पर्यायवाची माना जाता है।[९]

जिस प्रकार श्री शङ्कर एव श्री रामानुज-जैसे आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) को प्रमाण मानकर अपने-अपने दार्शनिक विचारो का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार नाट्य एव तत्सम्बद्ध विषयो पर विचार करते समय विभिन्नमार्गीय आचार्यों ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए महर्षि भरत के वचनो का आश्रय लिया है।

'भरतनाट्यशास्त्र' पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी है[१०], परन्तु वे मिलती नही।

६—यस्माद्रङ्गप्रयोगोऽय पूर्वमेव प्रयुज्यते।
तस्मादय पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमा ॥

—भरत०, ब० स०, अध्याय ५, पृ० ६८

७—ध्रुवासञ्ज्ञानि तानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजै।
गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकश. ॥
या ऋच पाणिका गाथा स्सप्तरूपाङ्गमेव च।
सप्तरूपप्रमाण च तद् ध्रुवेत्यभिसञ्ज्ञितम् ॥

—भरत०, ब० सं०, अध्याय ३२, पृ० ५३२

८—मुनित्रय नमस्कृत्य तदुक्ती परिभाव्य च।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीय विरच्यते ॥ —सिद्धान्तकौमुदी मङ्गलाचरण

९—तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपरनामनी।

—भरतनाट्यशास्त्र, ब० स० की भूमिका में सम्पादक द्वारा उद्धृत 'अभिनवभारती' का वाक्य

१०—व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुका। भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधर पर ॥ —आचार्य्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १३

श्री अभिनवगुप्ताचार्य के द्वारा की हुई व्याख्या उपलब्ध तो है, परन्तु उसका कुछ अश अमुद्रित होने के कारण सर्वजनसुलभ नही। तथापि भरत के रससम्बन्धी सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति' पर मीमासक आचार्य्य भट्ट लोल्लट, नैयायिक आचार्य्य शङ्कुक, सांख्यवादी आचार्य्य भट्ट नायक एव आलङ्कारिक आचार्य्य श्री अभिनवगुप्ताचार्य्य की व्याख्याओ से, 'रस' का विचार करनेवाले सज्जन सर्वथा परिचित हैं।[११]

शताब्दियो की पराधीनता एव तज्जन्य दुष्प्रभावो के कारण हमारी अनेक विद्याओ एव कलाओ का पतन हुआ और वे परम्पराएँ नष्ट हो गयी, जो श्री अभिनवगुप्ताचार्य्य-जैसी महाविभूतियो को जन्म देती थी, फलत अनेक प्राचीन ग्रन्थ हमारे लिए दुर्बोध हो गये।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए दृष्टि में निर्मलता, हृदय में सौम्यता तथा प्रत्येक प्रकार के सयम की आवश्यकता होती है।[१२] शुद्ध, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचारी एव निर्द्वेष व्यक्ति विद्या का पात्र होता है।[१३] विज्ञान के प्रति अविज्ञाता की असूया होती है,[१४] वह स्वय समझ तो सकता नही और अपना दोष आचार्य्य पर डालता है और कहता है

११—इद हि भरतसूत्र तट्टीकाकृद्भिर्भट्टलोल्लट-श्रीशङ्कुक-भट्टनायकाभिनवगुप्तपादैश्चतुर्भि क्रमेण मीमासान्यायसांख्यालङ्कारमतरीत्या चतुर्धा व्याख्यातम्।
—आचार्य्य वामन, 'काव्यप्रकाश'—टीका

१२—विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम। गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्य्यवती तथा स्याम्। ..

अर्थात्—विद्या ने ब्राह्मण से आकर कहा—तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरी निधि हूँ। ईर्ष्यालु, कुटिल, असयत व्यक्ति को मेरा उपदेश न कर, (तब) मैं बलशालिनी होऊँगी।" —यास्ककृत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण।

१३—यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं मेधाविन ब्रह्मचर्य्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।

अर्थात्—जिसे तू शुद्ध, अप्रमत्त, मेधावी, ब्रह्मचर्य्ययुक्त देखे, जो तुझसे द्रोह न करे, हर किसी (अपात्र) के हाथ में मुझे देता न फिरे, ऐसे निधिरक्षक को मेरा उपदेश कर। —यास्ककृत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण

१४—नित्य ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया। —यास्ककृत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण

कि आचार्य्य स्वय तो समझता नही, मुझे क्या समझायेगा।[१५] इसी लिए शास्त्र में उस व्यक्ति को विद्यादान के लिए सुपात्र नही माना गया, जो श्रद्धापूर्वक आचार्य्य के चरणों में बैठकर विद्याग्रहण के लिए सचेष्ट न हो।[१६]

अस्तु, आज महर्षि भरत-जैसे 'आप्त' महात्मा के सङ्गीतसम्बन्धी वाक्यो को समझने के लिए 'श्रद्धा' की और भी आवश्यकता है।

हमारे विचार का विषय वह सङ्गीत है, जिसकी उत्पत्ति का आधार तो अवश्य 'वेद' है, परन्तु जो लौकिक विनोद का साधन भी है। अतएव यज्ञ-यागादिक में प्रयोज्य स्वरो और उनके प्रयोगो पर विचार न करके हम अपने आपको भरत मुनि के उस 'तौर्यत्रिक' तक सीमित रखेंगे, जिसका प्रयोजन जनमनोरञ्जन है।

इस तौर्यत्रिक का फल 'अदृष्ट' भी है, यह पारलौकिक कल्याण का भी साधन है, परन्तु यह उस 'नाटच' का अङ्ग है, जिसकी उत्पत्ति ही 'क्रीडनीयक' के रूप में हुई है,[१७] भले ही उसे पञ्चम वेद की सज्ञा दी गयी हो।[१८]

भगवान् ब्रह्मा ने नाटच के लिए 'पाठच' ऋग्वेद से, 'गीत' सामवेद से, 'अभिनय' (नृत्यसहित) यजुर्वेद से तथा 'रस' अथर्ववेद से लिये।[१९]

भगवान् ब्रह्मा के अनुसार नाटच मे कही 'धर्म' तो कही 'क्रीडा', कही 'अर्थ' (धन) तो कही 'शान्ति', कही 'हास्य' तो कही 'युद्ध' और कही 'काम' तो कही 'वध' है।[२०]

इसमे धर्मात्माओ के लिए धर्म्म, कामरूपी लक्ष्य की सिद्धि करनेवालो के लिए काम, दुर्विनीतो के लिए निग्रह, प्रमत्तो का दमन, नपुसको की धृष्टता को बढावा, अपने आपको शूर समझनेवालो के लिए उत्साह, अबोध व्यक्तियो के लिए ज्ञान, विद्वानो के

१५–स ह्यनवबुध्यमान आत्मीय दोपमाचार्य्ये एवावसृजति–स्वयमेव तावदय न वुध्यते, किमस्मान् वोधयिप्यति।

—दुर्गाचार्य्य, निरुक्त के पूर्वोक्त वाक्य पर टीका

१६–नानुपसन्नाय। —यास्कक्रुत निरुक्त, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ प्रकरण

१७–महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्त किल पितामह। क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्य श्रव्य च यद् भवेत्॥ —भरत०, व० स०, अ० १, पृ० २

१८–नाटचाख्य पञ्चम वेद सेतिहास करोम्यहम्। —भरत०, व० स०, अ० १, पृ० २

१९–जग्राह पाठचमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ —भरत०, व० स०, अ० १, पृ० २

२०–क्वचिद् धर्म क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थ क्वचिच्छम। क्वचिद्धास्य क्वचिद्युद्ध क्वचित्काम क्वचिद्वध॥ —भरत०, व० स०, अ० १, पृ० ११

लिए विदग्धता, ऐश्वर्य्यशाली व्यक्तियो के लिए विलास, दु खी के लिए धैर्य्य, धन कमानेवालो के लिए धन और उद्विग्नचित्त व्यक्तियो के लिए सान्त्वना है।[२१]

दु खी, शोकार्त, श्रान्त एव तपस्वी (वेचारे) व्यक्तियो को विश्रान्ति देने के लिए भगवान् ब्रह्मा ने नाटच की सृष्टि की।[२२] सुख-दु ख से युक्त लोक का स्वभाव ही आङ्गिक, वाचिक इत्यादि अभिनयो से युक्त होने पर नाटच कहलाता है।[२३]

'गीत' नाटच का अङ्ग ही नही, प्राण है,[२४] अत उसका प्रयोजन नाटच से भिन्न नही, 'वाद्य' एव 'नृत्य' गीत के उपरञ्जक एव उत्कर्पविधायकमात्र है,[२५] अत तौर्य्यत्रिक (गीत, वाद्य और नृत्य) के अदृष्ट फल में पूर्णतया विश्वास करते हुए भी हमारा दृष्टि-कोण प्रधानतया लौकिक रहेगा।

ग्राम, स्वर, श्रुति

'ग्राम' शब्द समूहवाची है, जिस प्रकार कुटुम्व में लोग मिल जुलकर मर्यादा की रक्षा करते हुए इकट्ठे रहते है, उसी प्रकारसव ादी स्वरो का वह समूह ग्राम है, जिसमें श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में विद्यमान हो और जो मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम, अलकार इत्यादि का आश्रय हो।[२६] ग्राम तीन है, पड्ज-ग्राम, मध्यम-ग्राम और गान्धार-ग्राम।

२१–धर्मो धर्मप्रवृत्ताना काम कामार्थसेविनाम्। निग्रहो दुर्विनीताना मत्ताना दमन-क्रिया॥ क्लीवाना धार्ष्टचजननमुत्साह शूरमानिनाम्। अवोधाना निवोधश्च वैदग्ध्य विदुपामपि॥ ईश्वराणा विलासश्च स्थैर्य्यं दु खार्दितस्य च। अर्थोप-जीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्॥ —भरत०, व० स०, अ० १, पृ० ११

२२–दु खार्ताना श्रमार्ताना शोकार्ताना तपस्विनाम्। विश्रान्तिजनन काले नाटच-मेतद् भविष्यति॥ —भरत०, व० स०, अ० १, पृ० १२

२३–योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित। सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतोनाटच मित्यभि-धीयते॥ —भरत०, व० स०, अ० १, पृ० १२

२४–प्राणभूत तावद् ध्रुवागान प्रयोगस्य।
—आचार्य्य अभिनव०, अभिनवभारती, वडोदा-सस्करण, तृतीय खण्ड, पृ० ३८६

२५–नृत्त वाद्यानुग प्रोक्त वाद्य गीतानुवर्ति च।
—आचार्य्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १५

२६–समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसयुतौ। यथा कुटुम्विन सर्वे एकीभूय वसन्ति हि। सर्वलोकेपु स ग्रामो यत्र नित्य व्यवस्थित। पड्जमध्यमसज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल॥ —मतङ्ग, भ० को०, पृ० १८९

महर्षि भरत ने 'षड्ज-ग्राम' और 'मध्यम-ग्राम' का वर्णन किया है।[२७] वैस्वर्य, अतितारत्व एव अतिमन्द्रत्व के कारण 'गान्धारग्राम' महर्षि भरत के द्वारा चर्चा का विषय नही बना है।[२८] कुछ आचार्यों ने गान्धारग्राम और तज्जन्य रागो का वर्णन करके लौकिक विनोद के लिए भी उनके प्रयोग का विधान किया है,[२९] परन्तु अन्य आचार्यों ने लौकिक विनोद के लिए ग्रामजन्य रागो का प्रयोग निषिद्ध बताया है।[३०] नारद की सम्मति में गान्धारग्राम का प्रयोग स्वर्ग में ही होता है।[३१]

महर्षि भरत के अनुसार षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषादवान् सात स्वर हैं।[३२]

श्रुतियाँ बाईस हैं।[३३] (षड्ज के पश्चात् से तार षड्ज तक) सप्तक में श्रुतियो का क्रम तीन, दो, चार, चार, तीन, दो, चार है।[३४] षड्जग्राम में षड्ज चतु श्रुति, ऋषभ

व्यवस्थितश्रुतियुता यत्र सवादिन स्वरा । मूर्च्छनाद्याश्रयो नाम स ग्राम इति सज्ञित ॥

—महाराज कुम्भ, भ० को०, पृ० १८९

२७—स्वरा ग्रामौ मूर्च्छनाश्च . —भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३१

२८—द्वौ ग्रामौ भरतेनोक्तौ ग्रामो गान्धारपूर्वक । अतितारातिमन्द्रत्वाद् वैस्वर्य्यान्नोपदर्शित ॥ —आचार्य्य अभिनवगुप्त, भ० को०, पृ० १८९

२९—नारदेन तदनुसारिणा नान्यदेवेन (च) गान्धारग्रामजातरागा उपदिष्टा', नारदेन यज्ञोपयोगिन । नान्यदेवेन लौकिकविनोदे च ते प्रयोज्यन्ते ।

—प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५४२

लक्ष्मीनारायणाख्योऽय सङ्गीताम्भोधिपारग । गान्धारमूर्च्छनाग्राम व्यवहारक्षम यथा । करोति लक्ष्ययोगेन पूर्वलक्षणयोगत ॥

—लक्ष्मीनारायण, भ० को०, भूमिका, पृ० ११

३०—ते लौकिकविनोदेष्वप्रशस्ता इति सोमेश्वरेणोक्तम् ।

—प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५४२

३१—गान्धारग्रामस्य केवल स्वर्गे प्रयुक्तत्व नारदेनाभिहितम् ।

—प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५४२

३२—षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा। पञ्चमो धैवतश्चैव सप्तमश्च निषादवान् ॥ —भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३२

३३—तत्र वा द्वाविंशतिश्रुतय । —भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३३

३४—तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च । द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम् । —भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३३

त्रिश्रुति, गान्धार द्विश्रुति, मध्यम चतुःश्रुति, पञ्चम चतुःश्रुति, धैवत त्रिश्रुति, निषाद द्विश्रुति होता है।[15]

मध्यम-ग्राम में पञ्चम तीन श्रुति का रह जाता है और उसकी षड्जग्रामीय अन्तिम श्रुति को ग्रहण कर लेने के कारण धैवत चतुःश्रुतिक हो जाता है, अर्थात् मध्यमग्राम में मध्यम चतुःश्रुति, पञ्चम त्रिश्रुति, धैवत चतुःश्रुति, निषाद द्विश्रुति, षड्ज चतुःश्रुति, ऋषभ त्रिश्रुति एवं गान्धार द्विश्रुति रहता है।[16]

निषाद जब दो श्रुतियाँ चढ जाता है, तब 'काकली' निषाद और गान्धार जब दो श्रुति चढ जाता है, तब 'अन्तर गान्धार' कहलाता है। षड्ज की दो श्रुतियाँ ग्रहण कर लेने पर भी निषाद 'षड्ज' नही कहलाता, इसी प्रकार मध्यम की दो श्रुतियाँ ले लेने पर भी गान्धार की सज्ञा 'मध्यम' नही होती।[17]

जिन दो स्वरो में नौ अथवा तेरह श्रुतियो का अन्तर हो, वे परस्पर सवादी है। जैसे, षड्जग्राम में 'षड्ज-पञ्चम', 'ऋषभ-धैवत', 'गान्धार-निषाद' और 'षड्ज-मध्यम' परस्पर सवादी हैं। मध्यम-ग्राम में 'षड्ज-पञ्चम' का परस्पर सवाद नही रहता, अपितु 'ऋषभ-पञ्चम' परस्पर सवादी हो जाते हैं। वहाँ अन्य सवाद षड्ज-ग्राम-जैसे ही रहते हैं।[18]

मडल-प्रस्तारो मे षड्जग्राम एव मध्यमग्राम

निम्ननिर्दिष्ट मण्डल-प्रस्तारो में दोनो ग्रामो और उनमें स्थित स्वरो की स्थिति स्पष्ट है —

३५—षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिस्तथा। द्विश्रुतिश्चैव गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुति ॥ चतुःश्रुति पञ्चम स्याद् धैवतस्त्रिश्रुतिस्तथा। निषादो द्विश्रुतिश्चैव षड्जग्रामे भवन्ति हि ॥ —भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३४

३६—चतुःश्रुतिस्तु विज्ञेयो मध्यम पञ्चम पुन । त्रिश्रुतिर्धैवतस्तु स्याच्चतुःश्रुतिक एव हि ॥ निषादषड्जौ विज्ञेयौ द्विचतुःश्रुतिसम्भवौ। ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्याद् गान्धारो द्विश्रुतिस्तथा ॥ —भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३४

३७—तत्र द्विश्रुतिप्रकर्षणान्निषादवान् काकलीसज्ञो निषाद, न षड्ज। द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात्। साधारण प्रतिपद्यते। एव गान्धारोऽप्यन्तरस्वरसज्ञो न मध्यम। तयोरन्तरस्वरत्वात्। —भरत०, ब० स०, अध्याय २८, पृ० ४३७।

३८—ययोश्च नवत्रयोदशक परस्परत श्रुत्यन्तरे (र ?) तावन्योन्यसवादिनौ। यथा षड्ज-पञ्चमौ, ऋषभ-धैवतौ, गान्धार-निषादौ, षड्ज-मध्यमाविति षड्जग्रामे।

मण्डल-प्रस्तार (१)
षड्ज-ग्राम

(का० नि०) स

१ २ ३ ४ ५ ६

नि २२ — ७ रे

२१ — ८

ध २० — ९ ग

१९ — १०

१८ — ११ (अ० ग)

१७ १६ १५ १४ १३ १२

प म

मण्डल-प्रस्तार (२)
मध्यम-ग्राम

(का नि) स

१ २ ३ ४ ५ ६

नि २२ — ७ रे

२१ — ८

ध २० — ९ ग

१९ — १०

१८ — ११ (अ० ग)

१७ १६ १५ १४ १३ १२

प म

प्रस्तारो में एक से वाईस तक अक श्रुतियो के वोधक है। दोनो में केवल एक अन्तर

मध्यमग्रामेऽप्येवमेव षड्जपञ्चमवर्ज पञ्चमर्षभयोश्चात्र सवाद इति। अत्र श्लोक —

सवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च।
षड्जग्रामे च षड्जस्य सवाद पञ्चमस्य च॥

—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३२

है। षड्जग्राम में 'पञ्चम' सत्रहवी श्रुति पर और मध्यमग्राम में सोलहवी श्रुति पर स्थित है। इस स्थितिभेद से दो परिणाम हुए है —

(अ) षड्ज-ग्राम में षड्ज-पञ्चम का पारस्परिक त्रयोदश श्रुत्यन्तर (४+१३=१७, तेरह श्रुतियो का अन्तर), जो षड्ज-ग्राम में षड्ज-पञ्चम के पारस्परिक सवाद का कारण था, मध्यमग्राम में द्वादश श्रुत्यन्तर (४+१२=१६) रह गया है, क्योकि मध्यमग्राम में पञ्चम सोलहवी श्रुति पर स्थित है। फलत मध्यम-ग्राम में षड्ज-पञ्चम में सवाद नही रहा है।

(आ) ऋषभ-पचम परस्पर दस श्रुतियो के अन्तर (७+१०=१७) के कारण षड्ज-ग्राम में एक दूसरे से सवाद नही करते थे, परन्तु मध्यमग्राम में पञ्चम के सोलहवी श्रुति पर उतर आने से ऋषभ-पञ्चम में नौ श्रुतियो का अन्तर (७+९=१६) रह जाने के कारण परस्पर सवाद हो गया है।

जो सवादी स्वर महर्षि भरत ने गिनाये है, उनके अतिरिक्त भी कुछ सवाद स्वरो में विद्यमान हैं। जैसे, 'म-नि', 'अन्तर-गान्धार-धैवत', 'प-स' और 'काकली-निषाद-अन्तर-गान्धार' में भी नव श्रुत्यन्तर होने के कारण परस्पर सवाद है। इसी प्रकार 'म-स' एव 'अन्तर-गान्धार-काकली-निषाद' में भी तेरह श्रुतियो का अन्तर होने के कारण सवाद हैं।[१] आधुनिक तीव्र गान्धार ही प्राचीन 'अन्तर-गान्धार' है, जो षड्ज से सात श्रुति दूर है।

२९—यद्यपि जिन दो स्वरो में महर्षि भरत ने उदाहरणस्वरूप सवाद बताया है, उनकी श्रुतिसख्या समान है, तथापि परस्पर सवादी स्वरो में समानश्रुतिकता का अनिवार्य बन्धन महर्षि भरत ने सवादसम्बन्धी नियम में नही लगाया है।

मतङ्ग का कथन है—सवादिनस्तु पुन समश्रुतिकत्वे सति त्रयोदशनवान्तरे वा अन्योन्य बोद्धव्या। (स० र०, अ० स०, स्वरा०पृ० ९४ पर सिहभूपाल द्वारा उद्धृत) अर्थात्—समश्रुतिक होने पर जिन दो स्वरो में नौ अथवा तेरह श्रुतियो का अन्तर हो, उन्हें परस्पर सवादी जानना चाहिए।

मतङ्ग का यह मत प्रत्यक्षविरोधी होने के कारण पश्चाद्वर्ती आचार्य्यों को मान्य नही हुआ, क्योकि चतु श्रुतिक मध्यम और द्विश्रुतिक निषाद में सवाद प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार चतु श्रुतिक अन्तरगान्धार और त्रिश्रुतिक धैवत में भी परस्पर प्रत्यक्ष सवाद है।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने भी इस सम्बन्ध में दो मतो का उल्लेख किया है। उनका कथन है —

एक बात और दर्शनीय है। षड्ज-अन्तर गान्धार, मध्यम-धैवत, गान्धार-मध्यम-ग्रामीय पञ्चम एव पञ्चम-काकली-निषाद में सात श्रुतियो का अन्तर है।

इसी प्रकार 'नि-स', 'ग-म', 'म-प', 'त्रिश्रुतिक प-ध' में चार श्रुतियो का अन्तर है।

षड्जग्राम की सिद्धि

यदि हम एक ऐसा तानपूरा लें, जिसकी डाँड बीच से उठी न होकर सपाट हो, अटक भी सपाट हो और इस तानपूरे में नौ खूंटियाँ लगाकर नौ तार चढा लें, तो इन नौ तारो के कारण इसे 'नवतन्त्री वीणा' कहा जा सकता है। भले ही इसकी सम्पूर्ण आकृति पुरातन नवतन्त्री वीणा-जैसी नही है।

इस वीणा पर एक-जैसी मोटाई और लम्बाई के नौ तार चढाकर सुगमतापूर्वक महर्षि भरत का 'षड्ज ग्राम' प्राप्त किया जा सकता है। विधि निम्नोक्त है —

(क) प्रथम तार को उसकी मन्द्रतम रञ्जक ध्वनि में मिला लिया जाय। यह 'षड्ज' है।

(ख) पाँचवाँ तार 'मध्यम' और छठा तार 'पञ्चम' में मिला लिया जाय।

मिथ सवादिनौ तौ स्तो निगावन्यविवादिनौ। रिधयोरेव वा स्याता तौ तयोर्वा रिधावपि॥ —स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० ९२

अर्थात् (१) निषाद-गान्धार परस्पर सवादी परतु और स्वरो के विवादी होते हैं। (२) अथवा केवल ऋषभ और धैवत के विवादी होते हैं और ऋषभ-धैवत इन निषाद-गान्धार के विवादी होते हैं।

यहाँ आचार्य्य कल्लिनाथ का कथन है —

ननु निगयोरितरान्पञ्चापि स्वरान्प्रति विवादित्वमुक्तम्, तदनुपपन्नम्, शुद्धयोर्मध्यम-निषादयो परस्पर सवादित्वदर्शनादित्यपरितोषेण पक्षान्तरमाह—रिधयोरेव वेति। प्रथममन्यविवादिनावित्यविशेषेण कथन तु समश्रुतिकयोरेव संवाद इति मतानुसारेण। —स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० ९२

अर्थात्—'निषाद-गान्धार' को अन्य पाँचो स्वरो का विवादी बताया जाना अनुचित है, क्योकि शुद्ध मध्यम और निषाद में परस्पर सवादित्व दिखाई देता है, इसी अपरितोष को समाप्त करने के लिए आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने इस दूसरे मत का उल्लेख किया है, जिसमें 'गान्धार-निषाद' को केवल ऋषभ-धैवत का विवादी बताया गया है। प्रथम मत का उल्लेख उन्होने समश्रुति स्वरो को ही परस्पर सवादी माननेवालो की दृष्टि से किया है।

(ग) पाँचवें तार को थोडी देर के लिए 'षड्ज' मानकर आठवाँ तार इस नवीन षड्ज के मध्यम में मिला लिया जाय। यह प्रथम तार पर स्थापित षड्ज की अपेक्षा भरतोक्त निषाद है।

(घ) आठवें तार को थोडी देर के लिए 'षड्ज' मानकर तीसरे तार पर इस नवीन षड्ज का 'मन्द्र मध्यम' मिला लिया जाय। यह प्रथम तार पर बोलनेवाले षड्ज की अपेक्षा महर्षि भरत का गान्धार है।

(ङ) चौथा तार वहाँ मिला लिया जाय, जहाँ प्रथम तार पर बोलनेवाले 'षड्ज' का तीव्र गान्धार बोलता हो। यह महर्षि भरत का अन्तर गान्धार है।

(च) चौथे तार को 'षड्ज' मानकर सातवाँ तार उसके 'मध्यम' और नवाँ तार 'पञ्चम' में मिला लिया जाय। ये दोनो स्वर प्रथम तार पर बोलनेवाले 'षड्ज' की अपेक्षा भरतोक्त 'धैवत' और 'काकली-निषाद' हैं।

(छ) सातवें तार को षड्ज मानकर दूसरा तार उसके 'मन्द्र मध्यम' में मिला लिया जाय। यह प्रथम तार पर बोलनेवाले षड्ज की अपेक्षा भरतोक्त ऋषभ है।

इन तारो को क्रमश छेडने पर आपको षड्ज, ऋषभ, भरतोक्त शुद्धगान्धार, अन्तर-गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद और काकली निषाद सुनाई देंगे।

नवतन्त्री वीणा पर स्वरो के ये स्थान प्राचीन हैं,[४०] जिनकी उपलब्धि का प्रकार तर्कसङ्गत एव वैज्ञानिक रूप में ऊपर दिखाया गया है। यह सब क्रिया वीणा-प्रस्तार में निर्दिष्ट है—(दे० ब्लाक, पृष्ठ १२ के ऊपर)

मध्यमग्राम

यदि आप नवतन्त्री पर मध्यमग्राम सुनना चाहते हैं, तो इसी अवस्था में आप नवतन्त्री का पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ तार छेडिए, आपको क्रमश मध्यम, त्रिश्रुतिक पञ्चम, धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ और गान्धार मिल जायँगे।

नवतन्त्री वीणा को षड्जग्राम में मिला लेने पर षड्जग्राम के षड्ज, ऋषभ, अन्तर-गाधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ही क्रमश मध्यमग्राम के मध्यम, पञ्चम,

---

४०–विपञ्च्या नवतन्त्रीषु स्वरास्सप्त तथापरौ। काकल्यन्तरसञ्ज्ञौ च द्वौ स्वराविति-मानि च॥ —महाराज नान्यदेव, भ० को०, पृ० ६२८
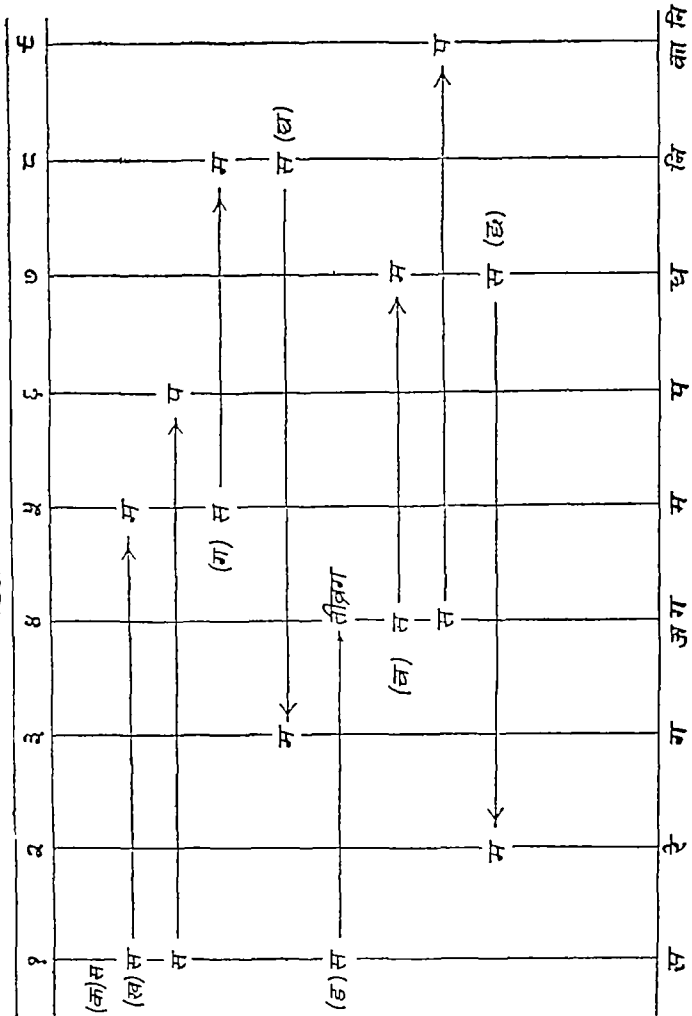
धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ और गान्धार वन जाते हैं।[41] 'स-म', 'रे-त्रिश्रुतिक प', 'अन्तरगान्धार–ध', 'म-नि', 'प-स', 'ध-रे', 'नि-ग' का वह पारस्परिक सवाद, जो नौ

४१–द्विश्रुतिप्रकर्पाद् धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छनाग्रामयोरन्यतरत्वम्। तद्वशान्मध्यमादयो यथासख्येन निपादादिमत्त्व प्रतिपद्यन्ते।

—भरत०, व० स०, (का० स०) अ० २८, पृ० ४३५

श्रुतियो के अन्तर पर आधारित है, सिद्ध हो जाता है। एक जोडे में दिये हुए स्वर एक दूसरे का प्रतिनिधित्व कर सकने के कारण भी परस्पर सवादी है।[४२]

दो स्वरो में सवाद का कारण होने पर नौ श्रुतियो का अन्तर 'षड्ज-मध्यम-भाव' एव तेरह श्रुतियो का अन्तर 'षड्ज-पञ्चम-भाव' कहलाता है। षड्ज और अन्तर-गान्धार में पाये जानेवाले सात श्रुतियो के अन्तर को हम 'षड्जान्तर-भाव' कहेंगे।

नवतन्त्री वीणा पर स्वरो की सारणा में हमने 'अन्तर-गान्धार' की सिद्धि षड्जान्तर-भाव, पञ्चम और काकली-निषाद की सिद्धि षड्ज-पञ्चम-भाव एव अन्य सभी स्वरो की सिद्धि षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर की है। हमने महर्षि भरत के द्वारा बतायी हुई स्वरो की श्रुतिसख्या के आधार पर स्वरो के रूप प्राप्त किये है। ग्रामस्थित स्वरो की प्राप्ति के लिए प्रत्येक स्वर की श्रुतियों की सख्या जानना ही पर्याप्त है, श्रुतियो के परिमाण और उनके क्रम का ज्ञान 'ग्राम-ज्ञान' का 'परिणाम' होता है 'कारण' नही। महर्षि भरत ने श्रुतियो की सारणा का अधिकारी वह व्यक्ति माना है, जो दोनो ग्रामो के स्वरूप से परिचित हो।[४३]

यदि आप नवतन्त्री पर दो सप्तक सुनना चाहते हैं, तो मेरु (अटक) और घुड्च (घोडी) के बीच में डाँड पर एक बिलकुल सपाट पर्दा इस प्रकार बाँधिए कि तार उससे निकटतम स्थिति में रहें, परन्तु स्वय पर्दे से छू न जायं। इस पर्दे पर दबाकर तारो को जब छेडा जायगा, मध्य सप्तक सुनाई देगा।

यदि तार-सप्तक सुनने की भी इच्छा हो, तो मध्य-सप्तकवाले पर्दे और घुड्च के ठीक मध्य में एक पर्दा और बाँध दीजिए और इस पर तार-सप्तक सुन लीजिए।

गान्धार धैवतीकुर्याद् द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् यदि ।
तद्वशाद् मध्यमादीश्च निषादादीन् यथास्थितान् ॥
ततो ऽभूद्यावतिथ्येषा षड्जग्रामस्य मूर्च्छना ।
जायते तावतिथ्येषा मध्यमग्राममूर्च्छना ॥

—दत्तिल, म० र०, अ० स०, स्वरा०, सिंह० पृ० १०९

४२—यथा हि मध्यमग्रामे मन्योञ्चरिवयोस्तथा ।
विषमश्रुतिकत्वेऽपि मिथ सवादन मतम् ॥

—महाराज कुम्भ, भ० को०, पृ० ७६५

४३—द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छने षड्जग्रामाश्रिते कार्ये ।

—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३३

सितार पर षाड्जग्रामिक सप्तक

सितार या वीणा पर आजकल जिस क्रम के अनुसार पर्दे वँधे हुए है, **वह क्रम कुछ बहुत अधिक प्राचीन नहीं,** तथापि सुविधा के लिए हम इस क्रम के अनुसार ही यहाँ षड्जग्राम की सिद्धि देखेंगे। पर्दों के प्राचीन क्रम के सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जायगा।

(अ) किसी सितार पर केवल वाज का तार रहने दें, पर्दे सब हटा दें। वाज के तार को इतना खीचें कि वह कर्णमधुर ध्वनि में कही भी वोलने लगे। **यह ध्वनि मन्द्र मध्यम है।**

(आ) अटक और घुडच के ठीक बीचोबीच एक पर्दा इस प्रकार वाँघे कि उस पर **मध्य मध्यम** बोलने लगे।

(इ) मुक्त तार अर्थात् केवल मेरु के सहारे बोलनेवाले तार की ध्वनि को 'षड्ज' मानकर एक पर्दा वहाँ वाँघें, जहाँ इस नवीन षड्ज का 'पञ्चम' बोलता हो। यह ध्वनि **मध्य सप्तक का 'षड्ज'** है।

(ई) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ **मध्य सप्तक के षड्ज का पञ्चम** बोलता हो।

(उ) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ मध्य सप्तक के मध्यम को 'षड्ज' मानने से उसका 'मध्यम' बोलता हो। यह **मध्य सप्तक का निषाद** है।

(ऊ) मध्य सप्तक के निषाद को 'षड्ज' मानकर एक पर्दा अटक की ओर वहाँ वाँधें, जहाँ इस नवीन 'षड्ज' का अवरोहगतिक मध्यम बोलता हो। यह **मध्यम मध्य सप्तक का 'गान्धार'** है।

(ए) एक पर्दा वहाँ वाँधें, जहाँ मध्य सप्तक के षड्ज की अपेक्षा तीव्र गान्धार बोले। यह मध्य सप्तक का भरतोक्त **अन्तर गान्धार** है।

(ऐ) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ 'अन्तर गान्धार' को षड्ज मानने पर इस नवीन षड्ज का 'मध्यम' बोलता हो। यह **मध्य सप्तक का धैवत** है। मध्य सप्तक के मध्यम को षड्ज मानने पर यह धैवत उसका अन्तर गान्धार होगा।

(ओ) एक पर्दा वहाँ बाँधें, जहाँ 'अन्तर गान्धार' को षड्ज मानने पर इस नवीन षड्ज का पञ्चम बोलता है। यह **मध्य सप्तक का तीव्र या काकली निषाद** है।

(औ) धैवत के पर्दे को 'षड्ज' मानकर एक पर्दा अटक की ओर वहाँ बाँधिए, जहाँ इस नवीन षड्ज का अवरोहगतिक मध्यम बोलता हो। यह **मध्य सप्तक का भरतोक्त ऋषभ** है।

निम्नलिखित प्रस्तार में पूर्वोक्त क्रिया स्पष्ट है —
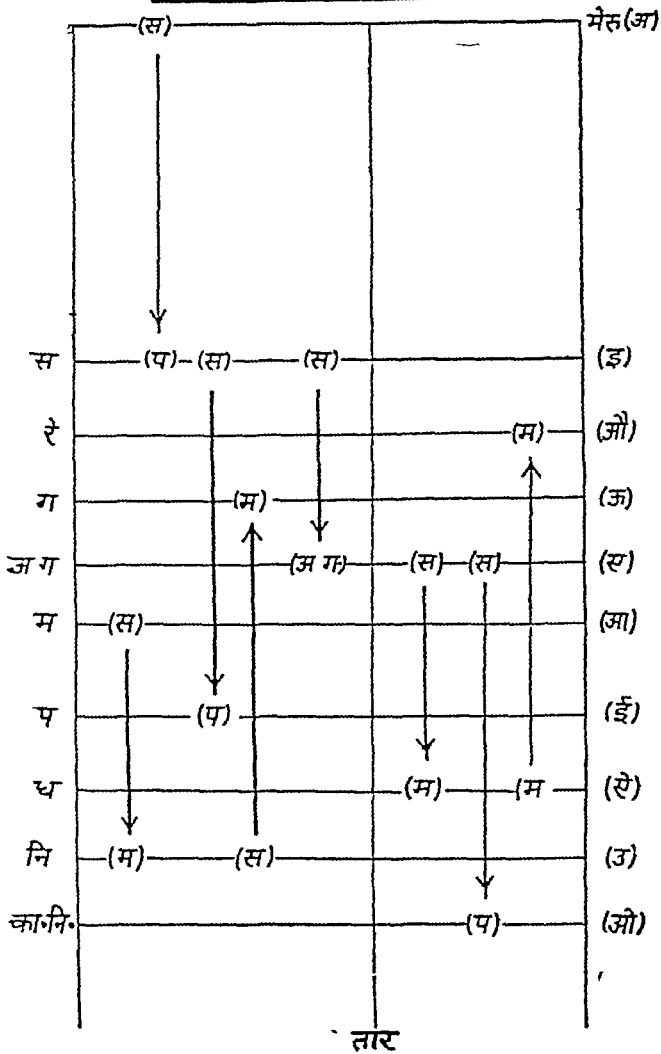
मन्द्र एव तार स्थानो के पर्दे इन्ही स्वरो के सहारे बाँधे जा सकते हैं।

नवतन्त्री के तारो की भाँति सितार के इन पर्दों पर 'मध्यम-ग्राम' प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् 'स, रे, अन्तर ग, म, प, ध, नि' के पर्दों पर ही मध्यमग्रामीय 'म, प, ध, नि, स, रे, ग' की उपलब्धि हो सकती है।

'श्रुति-निदर्शन' या 'श्रुतिदर्शन-विधान'

षड्ज-ग्राम से मध्यम-ग्राम प्राप्त करने की एक और विधि भी है। यदि षड्ज-ग्रामीय 'ऋषभ' को थोडी देर के लिए 'षड्ज' मानकर षड्जग्रामीय पञ्चम को इतना उतारा जाय कि वह इस नवीन षड्ज का मध्यम हो जाय, तो षाड्जग्रामिक सप्तक मध्यम-ग्रामीय स, रे, ग, म, प, ध, नि में परिवर्तित हो जायगा। हम आगे चलकर देखेंगे कि यह मध्यम-ग्राम की चतुर्थ मूर्च्छना का आरोह है।

इसी लिए महर्षि भरत ने कहा है —

"मध्यमग्राम में पञ्चम को एक श्रुति उतार देना चाहिए। (इस उतरे माध्यम-ग्रामिक) पञ्चम की एक श्रुति को चढाने और उतारने से अथवा (माध्यमग्रामिक पञ्चम को चढाकर षाड्जग्रामिक बनाये हुए पञ्चम के) 'मार्दव' (उतारने) और 'आयतत्व' (चढाने) से जो 'अन्तर' होता है, वह 'प्रमाणश्रुति' (षड्जग्राम एव मध्यमग्राम के अन्तर में) प्रमाणभूत श्रुति है।"[४४]

४४—षड्जग्रामे तु श्रुत्यपकृष्ट पञ्चम कार्य्यं। पञ्चमश्रुत्युत्कर्षादपकर्षाद्वा यदन्तर मार्दवायतत्वाद् वा तत्प्रमाणश्रुति। —भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३३

'आयतत्व' का परिणाम स्वर का चढना होता है। प्रातिशाख्य का कथन है —

'आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चै कराणि शब्दस्य।'

—तैत्ति० प्राति०, म० यु० स०, अध्या० २२, पृ० १७८

माहिषेय भाष्य में इसकी व्याख्या है —

"आयाम प्रसारित्व दारुण्य दृढत्व तस्माच्छरीरस्य आयाम कार्य्य अङ्गाना दृढत्वम्। खमिति कण्ठ स चोक्त पुरस्तादिति। तस्य च कार्श्यम्। एवयुक्तस्य उच्चशब्दो भवति।"

अर्थात्—'आयाम' का अर्थ 'प्रसारित्व' (विस्तारयुक्तता) और 'दारुण्य' का अर्थ 'दृढत्व' है, अतएव शरीर का 'आयाम' और अङ्गो का दृढत्व करना चाहिए। 'ख' का अर्थ 'कण्ठ' पहले बताया जा चुका है। उस कण्ठ की 'कृशता' करनी चाहिए। इस अवस्था से युक्त व्यक्ति का शब्द ऊँचा होता है।

महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने भी तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का पूर्वोक्त सूत्र उद्धृत करके उसका अर्थ किया है —

" 'आयामो' गात्राणा निग्रह, 'दारुण्य' स्वरस्य दारुणता रूक्षता, 'अणुता खस्य' कण्ठस्य सवृतता। उच्चै कराणि शब्दस्य।"

—महाभाष्य, नि० सा० स० १९३५ ई०, द्वितीय खण्ड, पृ० २६

चतु.सारणाएँ

सारणाएँ करने के लिए हम दो वीणाएँ लें, जो सर्वथा एक-जैसी हो, अर्थात् उनके तार एक-जैसे हो, षाड्जग्रामिक सप्तक उनमें समानध्वनिक रूप में मिला हो, दोनो को

अर्थात्—आयाम=गात्रो का निग्रह, दारुण्य=स्वर की दारुणता, अर्थात् रूक्षता, 'ख' की अणुता=कण्ठ की सवृतता (सिकुडना) स्वर को ऊँचा करनेवाले हैं।

'मार्दव' का परिणाम स्वर का उतरना है। प्रातिशाख्य का कथन है —

"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैं कराणि शव्दस्य।"

—तैत्ति० प्राति०, म० यु० स०, अध्याय २२, पृ० १७८

माहिषेय भाष्य में इसकी व्याख्या है —

"अन्ववसर्ग सहार मार्दव प्रस्रसनम् उरुता तस्मात् शरीरस्य सहार कार्य्यं। अङ्गाना प्रस्रसन कण्ठस्य स्थूलता एवयुक्तस्य नीचशव्द उत्पद्यते।"

अर्थात्—अन्ववसर्ग=सहार (शिथिलता), मार्दव=प्रस्रसन (ढीला छोडना)। अत शरीर (अङ्गो) का सहार (सहरण, शिथिलता) करना चाहिए। अङ्गो को ढीला छोड़ने एव कण्ठ की स्थूलता (विवृतता, विस्तार) से युक्त (व्यक्ति) का नीचा शव्द उत्पन्न होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने इस सूत्र की व्याख्या निम्नलिखित की है—

"अन्ववसर्गो गात्राणा शिथिलता। मार्दव स्वरस्य मृदुता स्निग्धता। उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैं कराणि शव्दस्य।"

—महाभाष्य, पूर्वोक्त स०, द्वितीय खण्ड, पृ० २६

अर्थात्—अन्ववसर्ग=गात्रो की शिथिलता, मार्दव=स्वर की मृदुता या स्निग्धता, 'ख' की उरुता=कण्ठ की महत्ता (विस्तार, विवृतता) शव्द को नीचा करनेवाले हैं।

शरीर या गात्रवीणा में हृदय, कण्ठ एव मूर्धा में उत्पन्न होनेवाले स्वर क्रमश उच्चतर होते हैं। मन्द्र, मध्य, तार स्थानो के उत्पादक हृदय, कण्ठ एव मूर्धा भी शरीर में क्रमश ऊँचे हैं, परन्तु दारवी वीणा में स्थिति विपरीत है। मेरु से नीचे की ओर जितना जायँगे, स्वरो में उतनी ही उच्चता आती जायगी। दारवी वीणा की इसी स्थिति को समक्ष रखते हुए नाटचशास्त्र में कहा गया है —

आयतत्व तु चेन्नीचे मृदुत्व तु विपर्य्यये।
स्वस्वरे मध्यमत्व च श्रुतीनामेष निर्णय॥

—भरत०, व० स०, अ० २९, पृ० ४५८

अर्थात्—(अपने वास्तविक स्थान की अपेक्षा) नीचे की स्थिति में श्रुति का आय-

छेडने का 'कोण' भी एक-जैसा हो। मूर्च्छना भी एक-जैसी हो।[४५] वादन के समय तारो पर आघात भी एक-जैसा हो। सारणा एक ही व्यक्ति करे, तो अच्छा है, क्योकि

तत्व, विपरीत (अपने वास्तविक स्थान की अपेक्षा ऊँची) स्थिति में मृदुत्व तथा अपने स्वर पर श्रुतियो का मध्यमत्व होता है, यह निर्णय है।

यह श्लोक सप्त रूपो में प्रयोज्य अलकारो के प्रसङ्ग में है और इसका अभिप्राय दारवी वीणा पर श्रुतियो के 'आयतत्व' एव 'मृदुत्व' का बोध करानेवाली उच्च (मेरु की ओर) एव नीच (घुडच की ओर) स्थिति को बताना है।

निष्कर्ष यह है कि भाष्य-वाक्य कण्ठ में 'आयतत्व' एव 'मृदुत्व' का बोध करा रहे हैं और नाटयशास्त्र दारवी वीणा में।

४५—द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्ड*मूर्च्छने षड्जग्रामाश्रिते कार्य्ये।

—भरत०, ब० स०, पृ० ४३३

*उपवादनदण्ड का दूसरा नाम 'कोण' या 'कुणप' भी है। महाराज कुम्भ का कथन है —

कोण कुणप इत्यपि ।
वीणादिवादनादण्ड प्रवीणैरुपवर्ण्यते ॥ —भ० को०, पृ० १५१

दुन्दुभि या नगाडे को बजाने के साधन 'चोब' को भी कोण कहा जाता है। इसी लिए महाराज कुम्भ ने उपर्युक्त श्लोक में 'वीणा' के साथ आदि शब्द का प्रयोग किया है। निम्न श्लोक उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—

मन्थायस्तार्णवाम्भ प्लुतिकुहरचलन्मन्थरध्वानधीर
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसघट्टचण्ड ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूत कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवात
केनास्मत्सिहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ ॥

—वेणीसहार, प्रथम अङ्क

कोणो वीणादिवादनम् ।

—अमरकोश, प्रथमकाण्ड, श्लोक ६

कोणो वाद्यप्रभेदे स्याद् वीणादीना च वादने ।

—मेदिनी

वीणादि वाद्यते येन तद्धनुराकृति काष्ठ कोण उच्यते ।

—महेश्वर कृत 'अमरविवेक' नामक (अमरकोश की) टीका

पूर्वोक्त स्थल में महर्षि भरत ने जिन दो वीणाओ की ओर निर्देश किया है वे 'उपवादनदण्ड' अर्थात् 'कोण' के द्वारा वजायी जानेवाली है।

तार, कोण (वादनदण्ड) और इन्द्रिय की विगुणता से स्वरो में अवाञ्छनीय न्यूनता या अधिकता हो जाती है।[४६]

प्रो० रामकृष्ण कवि का कथन है कि महर्षि भरत की वीणा 'मत्त-कोकिला' कही गयी है—

भरतो मत्तकोकिलाम् अवादयदिति प्राहु ।

—भ० को०, पृ० ५१९

एतत्करण मत्तकोकिलाख्यवीणाया भरतेन निर्दशितम् । अत्र मुख्यवीणाया यत्र गुरु त भङ्क्त्वा लघुद्वयरूपेण विपञ्च्यादिषु युगपद्वादन रूपमिति भाव ।

—भ० को०, पृ० ५५६

मत्तकोकिला नामक वीणा में इक्कीस तार होते हैं। मन्द्र, मध्य और तार सप्तक में सातो स्वर प्राप्त होने के कारण यह सब वीणाओ में मुख्य कही गयी है। अन्य वीणाएँ इसी का अङ्ग हैं और उनका 'करण' इत्यादि 'धातुओं' के द्वारा मत्तकोकिला का उपरञ्जन है। इस सबध में आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

तन्त्रीणामेकविंशत्या कीर्तिता मत्तकोकिला ।
मुख्येय सर्ववीणाना त्रिस्थानै सप्तभि स्वरै ॥
सम्पन्नत्वात्तदन्यास्तु तस्या प्रत्यङ्गमीरिता ।
करणैश्चित्रयन्त्यास्तास्तस्या स्युरुपरञ्जिका ॥

—स० र०, अ० स०, वाद्या०, पृ० २४८

महर्षि भरत ने 'नवतन्त्री' विपञ्ची के वादक को 'वैपञ्चिक' कहकर 'वैणिक' को उससे भिन्न कहा है। उनके शब्द हैं—

तते कुतपविन्यासो गायन सपरिग्रह ।
वैपञ्चिको वैणिकश्च वशवादस्तथैव च ॥

—भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४२०

इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार अपने परिग्रह में गायन (गायक) प्रधान है, उसी प्रकार तन्त्रीवादको में वैणिक है। वैपञ्चिक (विपञ्चीवादक) और 'चैत्रिक' (चित्रावादक) का कार्य्य 'वैणिक' के वादन का उपरञ्जनमात्र है। वैणिक का अर्थ 'मुख्य वीणा का वादक' है। शार्ङ्गदेव के अनुसार मुख्य वीणा और मत्तकोकिला समानार्थवाची शब्द है और 'मत्तकोकिला-वादक' की सज्ञा प्रधानतया 'वैणिक' है।

४६–एतेपा च स्वराणा न्यूनाधिकत्व तन्त्रीवादनदण्डेन्द्रियवैगुण्यादुपजायते ।

यहाँ 'इन्द्रियवैगुण्य' शब्द ध्यान देने योग्य है। 'बधिर' या अन्य विकलेन्द्रिय व्यक्ति (जिसके हाथ इत्यादि में विकार हो) महर्षि भरत के अनुसार सारणा का पात्र नहीं।

जिस वीणा पर सारणा-क्रिया की जायगी, उसे हम सुविधा के लिए 'चल वीणा' और दूसरी को अचल वीणा कहेंगे।

प्रथम सारणा

चल वीणा के 'पञ्चम' को इतना उतारा जाय कि वह अचल वीणा के 'ऋषभ' के साथ षड्ज-मध्यम-भाव से सम्बद्ध हो जाय।[४७] इस प्रक्रिया से चल वीणा का पञ्चम अपनी मूल स्थिति से अर्थात् अचल वीणा के पञ्चम की अपेक्षा जितना उतरेगा, उतना अन्तर 'प्रमाणश्रुति' है।

चल वीणा के पञ्चम को आपने जितना उतारा है, उतना ही चल वीणा के प्रत्येक स्वर को उतार दीजिए।[४८] ऐसी स्थिति में चल वीणा का प्रत्येक स्वर अचल वीणा के स्वरो की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतर जायगा। यह 'प्रथम सारणा' है।[४९]

द्वितीय सारणा

अब चल वीणा के 'गान्धार' और 'निषाद' को इतना उतारिए कि वे क्रमश अचल वीणा के 'ऋषभ' और 'धैवत' में मिल जायँ।[५०] अवशिष्ट स्वरो को भी चल वीणा पर

४७—तयोरेकतरस्या माध्यमग्रामिकी कृत्वा पञ्चमस्यापकर्षे श्रुतिम् ।

—भरत, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३३

४८—तामेव पञ्चमवशात् षाड्जग्रामिकी कुर्य्यात् ।

—भरत०, व०, स०, अ० २८, पृ० ४३३

यह क्रिया कुछ कठिन नही। चल वीणा के षड्ज को इतना उतारिए कि उसका सवाद उतरे हुए पञ्चम से होने लगे। तत्पश्चात् सवाद के आधार पर षड्ज से मध्यम, मध्यम से निषाद, निपाद से गान्धार, षड्ज से अन्तर गान्धार, अन्तर गान्धार से धैवत और धैवत से ऋषभ की स्थापना करना हम जान ही चुके हैं। इतना कर लेने पर 'चल-वीणा' पर षाड्जग्रामिक सप्तक फिर प्राप्त हो जायगा। चलवीणा का पञ्चम चल-वीणा के षड्ज की दृष्टि से षाड्जग्रामिक एव अचलवीणा के षड्ज की दृष्टि से माध्यम-ग्रामिक होगा।

४९—एव श्रुत्यपकृष्टा भवति ।

—भरत० व० स०, अ० २८, पृ० ४३३

५०—पुनरपि तद्वदेवापकर्षाद् गान्धारनिषादवन्ताावितरस्या धैवतर्षभौ (ऋषभ-धैवतौ?) प्रविशत (द्वि)श्रुत्यधिकत्वात् ।

—भरत० व० स०, अ० २८, पृ० ४३३

उसके नवीन 'गान्धार' और 'निषाद' को ध्यान में रखते हुए षाड्जग्रामिक अनुपात से यथास्थान मिला लीजिए। इस द्वितीय सारणा के सम्पन्न होने पर आप देखेंगे कि चल वीणा के स्वर अचल वीणा के स्वरों की अपेक्षा दो श्रुति उतरे हुए हैं।

तृतीय सारणा

चल वीणा के 'ऋषभ' और 'धैवत' को इतना उतारिए कि वे क्रमश अचल वीणा के 'षड्ज' और 'पञ्चम' के साथ एक-रूप हो जायें।[५१] अन्य स्वरो को भी षाड्ज-ग्रामिक अनुपात से यथास्थान मिला लीजिए। अब आपकी चल वीणा का सप्तक अचल वीणा के सप्तक की अपेक्षा तीन श्रुति उतरा हुआ होगा।

चतुर्थ सारणा

चल वीणा के 'मध्यम', 'पञ्चम' और 'षड्ज' को इतना उतारिए कि वे क्रमश अचल वीणा के 'गान्धार', 'मध्यम' और 'निषाद' में मिल जायें।[५२] अवशिष्ट स्वरो को भी षाड्जग्रामिक अनुपात में यथास्थान मिला लीजिए, अब चल वीणा का सप्तक अचल वीणा के सप्तक की अपेक्षा चार श्रुति उतरा हुआ होगा।

पूर्वोक्त विधि से सारणाएँ करने पर चल वीणा हमें एक समय एक ही सारणा प्रदर्शित करती है, क्योकि हम उस पर प्रथम सारणा को मिटाकर दूसरी, दूसरी को मिटाकर तीसरी और तीसरी को मिटाकर चौथी सारणाएँ करते हैं। फलत बाईसो श्रुतियाँ एक समय हमारे समक्ष नही आ पाती।

परवर्ती आचार्यो ने बाईस श्रुतियाँ सिद्ध करने के लिए 'श्रुतिवीणा' का आश्रय लिया था[५३], परन्तु एक ऐसा उपाय भी है, जिससे चारो सारणाएँ एव उनके परिणाम-

---

यहाँ कुछ लोग 'तद्वत्' शब्द से भ्रम में पड जाते हैं। 'तद्वत्' क्रियाविशेषण है। महर्षि पाणिनि के सूत्र "तेन तुल्य क्रिया चेद् वति" की वृत्ति देखिए।

५१—पुनस्तद्वदेवापकर्षाद् धैवतर्षभावितरस्या पञ्चमषड्जौ प्रविशत (त्रि) श्रुत्यधिकत्वात्।
—भरत, ब० स०, पृ० ४३३

५२—तद्वत्पुनरपकृष्टाया च तस्या पञ्चममध्यमषड्जा इतरस्या मध्यमगान्धारनिषादवन्त प्रवेक्ष्यन्ति चतु श्रुत्यधिकत्वात्।
—भरत, ब० स०, पृ० ४३३–४३४

५३—द्वे वीणे सदृशौ कार्य्ये यथा नाद समो भवेत्।
तयोर्द्वाविंशतिस्तन्त्र्य ।
—आचार्य शार्ङ्ग०, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० ६९

स्वरूप बाईसो श्रुतियाँ भी हमारे समक्ष रहती हैं और एक ही वाद्य पर सारणाएँ सम्पन्न हो जाती हैं।

श्रुतिदर्पण पर चतु सारणाविधि

एक ऐसा तानपूरा लीजिए, जिसकी डाँड सपाट हो, अर्थात् बीच से उठी हुई न हो। इस तानपूरे पर पर्दे भी सपाट हो, अर्थात् वे पर्दे सितार के पर्दों की भाँति बीच से उठे हुए न हो। तानपूरे में पाँच खूँटियाँ हो, पाँच तार एक-जैसे चढा लीजिए। पर्दे सीधे रहें, अर्थात् पर्दे के प्रत्येक भाग से 'अटक' और 'घुडच' समान दूरी पर हो। घुडच सीधी हो, तनिक भी आडी-तिरछी न हो।

इस तानपूरे को हम अब 'श्रुतिदर्पण' कहेंगे। इस पर नियमपूर्वक षड्जग्राम के अनुसार पर्दे मिला लीजिए।

'श्रुतिदर्पण' पर चढे हुए पाँचो तारो को समान ध्वनि में मिला लीजिए।

'श्रुतिदर्पण' के बायी ओरवाले तार को हम पहला तार कहेंगे, अन्य तार क्रमश दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ तार कहलायेंगे।

मूल सप्तक

पहले तार को षड्ज इत्यादि के पर्दों पर दबाकर छेडने से जो सप्तक बोलेगा, उसे हम मूल सप्तक कहेंगे, जो पूर्वोक्त पद्धति के अचल सप्तक का काम देगा।

प्रथम सारणा

दूसरे तार को इतना उतारिए कि मूल सप्तक के ऋषभ के साथ दूसरे तार के पचम का सवाद षड्ज-मध्यम-भाव से होने लगे। इतना करने पर आप देखेंगे कि दूसरा तार मूल सप्तक के तार की अपेक्षा 'कुछ' उतरा हुआ है, यह 'कुछ' अन्तर ही महर्षि भरत की भाषा में प्रमाणश्रुति का अन्तर है।

किसी भी पर्दे पर पहले और दूसरे तार को दबाकर छेडा जाय, प्रमाणश्रुति का यह अन्तर दोनो तारो की ध्वनि में स्पष्ट सुनाई देगा। अर्थात् दूसरे तार पर ध्वनित होनेवाला सप्तक मूल सप्तक की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतरा हुआ होगा।

द्वितीय सारणा

तीसरे तार को इतना उतारिए कि उसके गान्धार की ध्वनि मूल सप्तक के 'ऋषभ' की ध्वनि में मिल जाय। इतना करने पर आप देखेंगे कि तीसरे तार का 'निषाद' मूल

सप्तक के 'पञ्चम' में स्वत मिल गया है। तीसरे तार पर वोलनेवाला षाड्जग्रामिक सप्तक अव मल सप्तक की अपेक्षा दो श्रुति उतरा हुआ है।

सारणायुक्त श्रुतिदर्पण

श्रुति - प्रस्तार
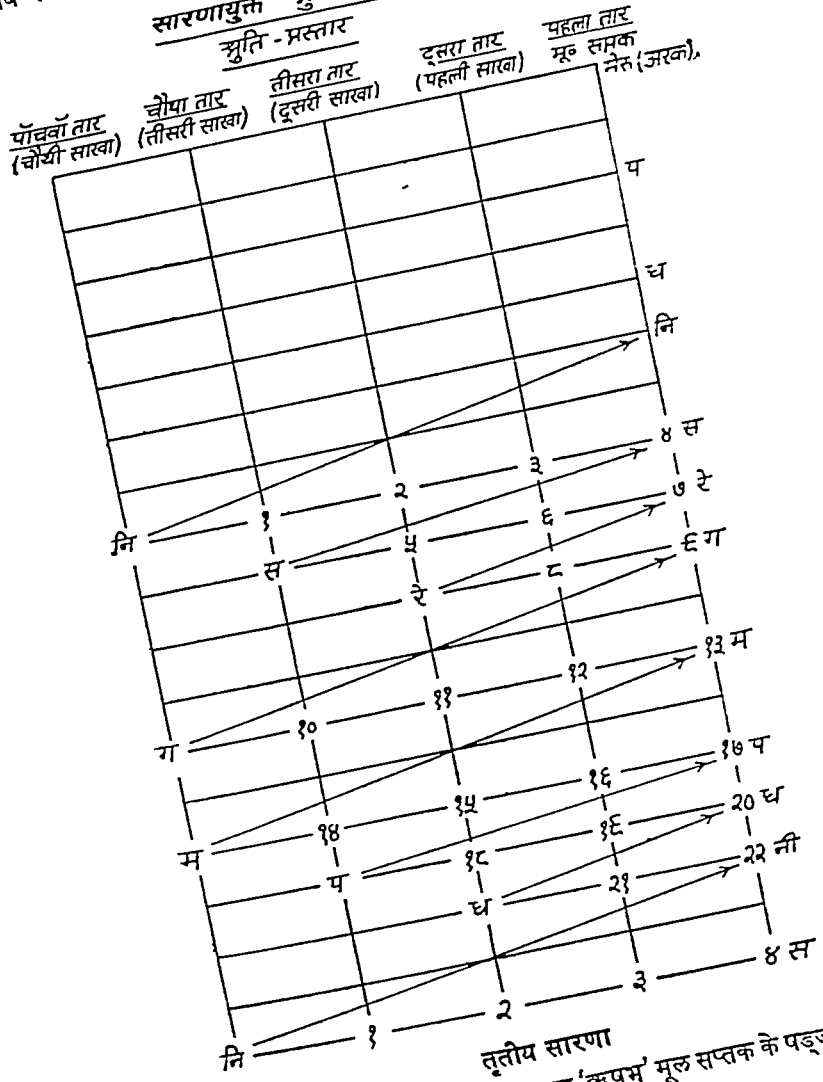
तृतीय सारणा

...को इतना उतारिए कि उसका 'ऋषभ' मूल सप्तक के षड्ज

ऐसा करने से चौथे तार का 'धैवत' प्रथम तार के 'पञ्चम' में स्वत मिल जायगा। चौथे तार पर मिला हुआ षाड्जग्रामिक सप्तक अब मूल सप्तक की अपेक्षा तीन श्रुति उतरा हुआ है।

चौथी सारणा

पाँचवें तार को इतना उतारिए कि उसका 'मध्यम' मूल सप्तक के 'गान्धार' में मिल जाय। यह हो जाने पर पाँचवें तार के 'पञ्चम' और 'षड्ज' क्रमश मूल सप्तक के 'मध्यम' और 'निषाद' में स्वत मिल जायंगे। इस स्थिति में पाँचवें तार पर ध्वनित होनेवाला सप्तक मूल सप्तक की अपेक्षा चार श्रुति उतरा हुआ है।

(गत पृष्ठ (ब्लाक) में निर्दिष्ट श्रुति-दर्पण-प्रस्तार पर सारणाओ के परिणाम-स्वरूप बाईसो श्रुतियाँ प्रत्यक्ष हैं।)

'श्रुति-दर्पण' पर प्रदर्शित श्रुति-प्रस्तार में आपको 'ऋषभ' की तीन, 'गान्धार' की दो, 'मध्यम' की चार, 'पञ्चम' की चार, 'धैवत' की तीन, 'निषाद' की दो और 'षड्ज' की चार श्रुतियाँ स्पष्ट दृष्टि-गोचर होगी। ऋषभ सातवी, गान्धार नवी, मध्यम तेरहवी, पञ्चम सत्रहवी, धैवत बीसवी, निषाद बाईसवी और षड्ज चौथी श्रुति पर स्थित है।

मूल सप्तक के ऋषभ के साथ प्रथम सारणा के अर्थात् दूसरे तार के पञ्चम का षड्ज-मध्यम-भाव से सवाद है।

द्वितीय सारणा के गान्धार और निषाद मूल सप्तक के ऋषभ एव धैवत से मिल गये है, अत द्वितीय सारणा अर्थात् तीसरे तार के गान्धार और निषाद के पर्दों पर क्रमश ऋषभ और धैवत लिखे गये हैं। मूल सप्तक के ऋषभ और धैवत के साथ समध्वनि-कता का सङ्केत तीरो के द्वारा किया गया है।

तृतीय सारणा के ऋषभ और धैवत के पर्दों पर 'स' और 'प' लिखे गये हैं, जो क्रमश. मूल सप्तक के षड्ज और पञ्चम के साथ उनकी समध्वनिकता के परिचायक है।

चौथी सारणा के मध्यम, पञ्चम और षड्ज के पर्दों पर क्रमश 'ग', 'म', 'नि' अकित है, जो क्रमश मूल सप्तक के गान्धार, मध्यम और निषाद के साथ इन पर्दों पर निकलनेवाली ध्वनियो के सादृश्य का परिचय देते हैं।

श्रुतियो के परिमाण

हम यह जान चुके है कि श्रुति-दर्पण के पहले-दूसरे तार की ध्वनि का अन्तर 'प्रमाण-श्रुति' है, भविष्य में हम इसे 'ग' अन्तर कहेंगे।

ग्राम

श्रुति-दर्पण के दूसरे और तीसरे तार को क्रमश धीरे से छेडने पर हमें 'ग' अन्तर से वडा अन्तर सुनाई देगा, इसे हम 'ख' अन्तर कहेंगे ।
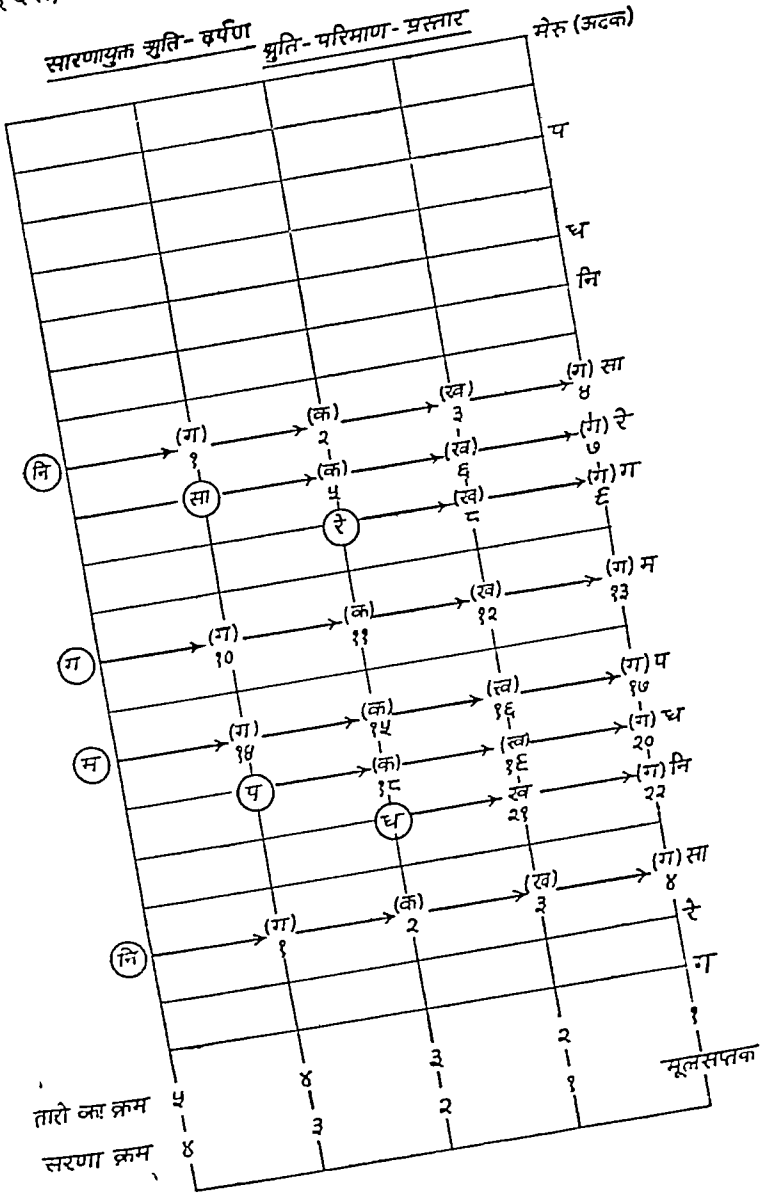
तीसरे और चौथे तार को छेडने पर उन दोनो की ध्वनियो में 'ख' अन्तर से भी वडा अन्तर सुनाई देगा, इसे हम 'क' अन्तर कहेंगे ।

चौथे और पाँचवें तार की ध्वनि में फिर 'ग' अन्तर सुनाई देगा, क्योकि चौथे तार के ऋषभ के साथ पाँचवें तार के पञ्चम का षड्ज-मध्यम भाव से उसी प्रकार सवाद है, जिस प्रकार पहले तार के ऋषभ का सवाद दूसरे तार के पञ्चम के साथ है ।

इस बात को यो कहा जा सकता है कि पहला तार दूसरे तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर, दूसरा तार तीसरे तार की अपेक्षा 'ख' अन्तर, तीसरा तार चौथे तार की अपेक्षा 'क' अन्तर और चौथा तार पाँचवें तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर चढा हुआ है ।

अथवा यो भी कहा जा सकता है कि पाँचवाँ तार चौथे तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर, चौथा तार तीसरे तार की अपेक्षा 'क' अन्तर, तीसरा तार दूसरे तार की अपेक्षा 'ख' अन्तर और दूसरा तार पहले तार की अपेक्षा 'ग' अन्तर उतरा हुआ है ।

(श्रुति-दर्पण पर बाईसो श्रुतियो और उनके परिमाणो को गत पृष्ठ पर देखिए ।)

पूर्वोक्त प्रस्तार श्रुतियो में पाये जानेवाले अन्तरो का क्रम दिग्दर्शित करता है ।

पाँचवें तार के षड्ज के पर्दे पर मूल सप्तक का मन्द्र 'निषाद' है, प्रथम श्रुति इससे 'ग' अन्तर पर है, उसके पश्चात् दूसरी, तीसरी और चौथी श्रुतियाँ क्रमश 'क, ख, ग' अन्तर पर स्थित है । ये षड्ज की चार श्रुतियाँ हैं । महर्षि भरत ने श्रुतिसख्या षड्ज से न गिनाकर ऋषभ से गिनायी है, क्योकि 'षड्ज' के 'आधार-ध्वनि' होने के कारण एक सप्तक में उसकी श्रुतियो की गणना निषाद के पश्चात् ही सम्भव है ।

ऋषभ की तीन श्रुतियाँ

चौथे तार के ऋषभ के पर्दे पर मूल सप्तक का षड्ज बोल रहा है, उसके पश्चात् ऋषभ की तीन श्रुतियाँ (पाँचवी, छठी, सातवी) क्रमश 'क, ख, ग' अन्तर पर स्थित हैं । सातवी श्रुति पर ऋषभ है ।

गान्धार की दो श्रुतियाँ

तीसरे तार के गान्धारवाले पर्दे पर मूल सप्तक का ऋषभ बोल रहा है, इसके पश्चात् गान्धार की दो श्रुतियाँ (आठवी और नवी) क्रमश 'ख, ग' अन्तरो पर स्थित हैं । नवी श्रुति पर मूल सप्तक का गान्धार विद्यमान है ।

मध्यम की चार श्रुतियाँ

पाँचवें तार के मध्यमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का गान्धार है । इसके पश्चात्

मध्यम की चार श्रुतियाँ (दसवीं, ग्यारहवी, बारहवी, तेरहवी) क्रमश 'ग, क, ख, ग' अन्तरो पर स्थित हैं। तेरहवीं श्रुति पर मध्यम विद्यमान है।

पञ्चम की चार श्रुतियाँ

पाँचवें तार के पञ्चमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का मध्यम बोल रहा है। उसके पश्चात् पञ्चम की चारो श्रुतियाँ (चौदहवी, पन्द्रहवी, सोलहवीं और सत्रहवी) क्रमश 'ग, क, ख, ग' अन्तरो पर स्थित हैं। सत्रहवीं श्रुति पर पञ्चम है।

धैवत की तीन श्रुतियाँ

चौथे तार के धैवतवाले पर्दे पर मूल सप्तक का पञ्चम विद्यमान है, धैवत की तीन श्रुतियाँ (अठारहवी, उन्नीसवी और बीसवी) उससे क्रमश 'क, ख, ग' अन्तर पर स्थित हैं। बीसवी श्रुति पर धैवत है।

निषाद की दो श्रुतियाँ

तीसरे तार के निषादवाले पर्दे पर मूल सप्तक का धैवत है, उसके पश्चात् निषाद की दो श्रुतियाँ (इक्कीसवी और बाईसवी) क्रमश 'ख, ग' अन्तर पर स्थित है, बाईसवी श्रुति पर निषाद है।

षड्ज की चार श्रुतियाँ

पाँचवें तार के 'तार षड्ज' वाले पर्दे पर मूल सप्तक का निषाद बोल रहा है, षड्ज की चार श्रुतियाँ (पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी) उसके पश्चात् क्रमश 'ग, क, ख, ग' अन्तरो पर स्थित हैं। चौथी श्रुति पर षड्ज विद्यमान है।

सारणा-पद्धति में 'अन्तर गान्धार' और 'काकली निषाद' की सिद्धि भी महर्षि भरत की उक्ति के अनुसार हो जाती है।[५४] तीव्र मध्यम यद्यपि महर्षि भरत के द्वारा नहीं गिनाया गया है, परन्तु मध्यम और पञ्चम का अन्तर स्वर होने के कारण इसकी उपलब्धि भी यथास्थान होती है।

अन्तर गान्धार की दो श्रुतियाँ

पाँचवें तार के मध्यमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का गान्धार विद्यमान है, उसके पश्चात् अन्तर गान्धार की दो श्रुतियाँ (दसवी और ग्यारहवीं) क्रमश 'ग-क' अन्तरो पर विद्यमान हैं। ग्यारहवीं श्रुति पर 'अन्तर गान्धार' बोल रहा है, जिसकी ध्वनि

५४—अन्तरनिदर्शनमपि श्रुतिनिदर्शने प्रोक्तम्।

—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३५

मूल सप्तक के तीव्र गान्धारवाले पर्दे पर निकलनेवाली ध्वनि से अभिन्न नही। फलत 'अन्तर गान्धार' और 'तीव्र गान्धार' एक ही ध्वनि का वोध कराते है।

काकली निषाद की दो श्रुतियाँ

पाँचवें तार के तार षड्जवाले पर्दे पर मूल सप्तक का निपाद ध्वनित हो रहा है, इसके पश्चात् काकली निपाद की दो श्रुतियाँ (पहली, दूसरी) क्रमश 'ग, क' अन्तर पर स्थित है। दूसरी श्रुति पर काकली निपाद ध्वनित हो रहा है। इसकी ध्वनि मूल सप्तक के तीव्र निषाद से भिन्न नही, अत 'काकली निपाद' और तीव्र निषाद एक है।

पत-पञ्चम[55] (तीव्र मध्यम) की दो श्रुतियाँ

पाँचवें तार के पञ्चमवाले पर्दे पर मूल सप्तक का मध्यम स्थित है, 'पत-पञ्चम' (तीव्र मध्यम) की दो श्रुतियाँ (चौदहवी, पन्द्रहवी) उससे क्रमश 'ग, क' अन्तर पर है, पन्द्रहवी श्रुति पर 'पत-पञ्चम' वोल रहा है, जिसकी ध्वनि में मूल सप्तक के तीव्र मध्यमवाले पर्दे पर वोलनेवाली ध्वनि से कोई अन्तर नही है।

पूर्वोक्त प्रस्तार पर ध्यान देने से कुछ अन्य विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होगी ——

(अ) प्रत्येक स्वर की उपान्त्य (अन्तिम से पहली) एव अन्त्य श्रुति क्रमश 'ख-ग' है।

(आ) ऋषभ और धैवत की प्रथम श्रुति का परिमाण भी एक-जैसा है।

(इ) षड्ज, मध्यम और पञ्चम की श्रुतियो का क्रम एक-जैसा है, अर्थात् इन स्वरो की श्रुतियो के परिमाणो का क्रम 'ग, क, ख, ग' है।

५५—आजकल जिस स्वर की सज्ञा तीव्र मध्यम है, उसे महाराज कुम्भ ने 'पतपञ्चम' की सज्ञा दी है। श्रीकण्ठ ने इस सज्ञा को ज्यो का त्यो ग्रहण किया है।

आचार्य कल्लिनाथ का कथन है कि 'रामक्रिया' नामक क्रियाङ्ग राग में मध्यम 'पञ्चम' की दो श्रुतियाँ ले लेता है।

इस दृष्टि से तीव्र मध्यम महाराज कुम्भ की दृष्टि में 'पञ्चम' का और आचार्य्य कल्लिनाथ की दृष्टि में मध्यम का विकार है।

इसी ध्वनि को सोमनाथ ने 'मृदु पञ्चम' और वेंकट मखी ने 'वराली मध्यम' कहा है।

इस सम्वन्ध में विस्तृत विचार यथास्थान किया जायगा। यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि महर्पि भरत की जिस दूसरी सारणा में अन्तर गान्धार और काकली निपाद की प्राप्ति होती है, उसी में तीव्र मध्यम की भी उपलब्धि होती है।

*निम्नलिखित मण्डल-प्रस्तार में स्वरो की श्रुतियो के परिमाणो का क्रम दिग्दर्शित है —

---

*श्रुतियो के परिमाणो को जाँचने की एक विधि और है—

'ग' अन्तर—

प्रथम सारणा का पञ्चम, मूल सप्तक के ऋषभ को 'षड्ज' मानने पर उसका मध्यम होता है, जो मूल सप्तक के पञ्चम की अपेक्षा एक प्रमाणश्रुति उतरा हुआ होता है। परिणामस्वरूप मूल सप्तक के मुक्त तार की ध्वनि की अपेक्षा प्रथम सारणा के मुक्त तार की ध्वनि भी एक प्रमाणश्रुति उतरी होती है।

'ख' अन्तर—

प्रथम सारणा के ऋषभ को षड्ज मानने पर द्वितीय सारणा का पञ्चम इस नवीन षड्ज का मध्यम न होकर तीव्र गान्धार से कुछ चढा हुआ रहता है। इससे सिद्ध है कि मूल सप्तक के तार की अपेक्षा प्रथम सारणा का तार जितना उतरा हुआ है, दूसरी सारणा का तार प्रथम सारणा के तार से 'ग' अन्तर की अपेक्षा अधिक उतरा हुआ है। फलत. प्रथम सारणा एव द्वितीय सारणा के तारो की ध्वनियो का अन्तर मूल सप्तक एव प्रथम सारणा के तारो की ध्वनियो में पाये जानेवाले अन्तर की अपेक्षा अधिक है।

चार 'ख' अन्तर · छठी, आठवी, बारहवी और सोलहवी श्रुति।
छ 'ग' अन्तर सातवी, नवी, दसवी, तेरहवी, चौदहवी और सत्रहवी श्रुति।

(२) 'रे - ध'

तीन 'क' अन्तर ग्यारहवी, पन्द्रहवी और अठारहवी श्रुति।
चार 'ख' अन्तर आठवी, बारहवी, सोलहवी और उन्नीसवी श्रुति।
छ 'ग' अन्तर नवी, दसवी, तेरहवी, चौदहवी, सत्रहवी और बीसवी श्रुति

(३) 'ग - नि'

तीन 'क' अन्तर ग्यारहवी, पन्द्रहवी और अठारहवी श्रुति।
चार 'ख' अन्तर बारहवी, सोलहवी, उन्नीसवी, इक्कीसवी श्रुति।
छ 'ग' अन्तर दसवी, तेरहवी, चौदहवी, सत्रहवी, बीसवी और बाईसवी श्रुति।

(४) 'अन्तर - गान्धार - काकली निषाद'

तीन 'क' अन्तर पन्द्रहवी, अठारहवी और दूसरी श्रुति।
चार 'ख' अन्तर सोलहवी, उन्नीसवी, इक्कीसवी और तीसरी श्रुति।
छ 'ग' अन्तर तेरहवी, चौदहवी, सत्रहवी, बीसवी, बाईसवी और पहली श्रुति।

(५) 'म - तार षड्ज'

तीन 'क' अन्तर पन्द्रहवी, अठारहवी और दूसरी श्रुति।
चार 'ख' अन्तर सोलहवी, उन्नीसवी, इक्कीसवी और तीसरी श्रुति।
छ 'ग' अन्तर चौदहवी, सत्रहवी, बीसवी, बाईसवी, पहली और चौथी श्रुति।

(६) 'ध - अन्तर गान्धार'

तीन 'क' अन्तर दूसरी पाँचवी और ग्यारहवी श्रुति।
चार 'ख' अन्तर इक्कीसवी, तीसरी, छठी और आठवी श्रुति।
छ 'ग' अन्तर बाईसवी, पहली, चौथी, सातवी, नवी और दसवी श्रुति।

(७) 'निषाद - तार मध्यम'

तीन 'क' अन्तर दूसरी, पाँचवी और ग्यारहवी श्रुति।
चार 'ख' अन्तर तीसरी, छठी, आठवी और बारहवी श्रुति।
छ 'ग' अन्तर पहली, चौथी, सातवी, नवी, दसवी और तेरहवी श्रुति।

वाईस श्रुतियो में नव श्रुत्यन्तर होने पर भी अनेक स्थानो पर षड्ज-मध्यम भाव का अभाव मिलता है। उसी प्रकार अनेक स्थलो में त्रयोदश श्रुत्यन्तर होने पर भी षड्ज-पञ्चम भाव का अभाव मिलेगा।

इस बात को एक और दृष्टि से देखा जाय। षड्ज से जिन तीन श्रुतियो के अन्तर पर 'ऋषभ' स्थित है, उनके अन्तर क्रमश 'क' 'ख' 'ग' हैं। यदि सातवी श्रुति पर स्थित 'ऋषभ' को थोडी देर के लिए 'षड्ज' मान लिया जाय, तो दसवी श्रुति पर इस नवीन 'षड्ज' के ऋषभ की प्राप्ति नही होगी, क्योकि आठवी, नवी और दसवी श्रुति के परिमाण क्रमश 'ख' 'ग' 'ग' हैं।

सातवी श्रुति पर स्थित 'ऋषभ' से नवी श्रुति पर स्थित गान्धार का अन्तर 'ख-ग' है, परन्तु यदि हम नवी श्रुति को ऋषभ मानकर ग्यारहवी पर उसका 'गान्धार' ढूँढें, तो मिलना असम्भव है, क्योकि दसवी और ग्यारहवी श्रुति के परिमाण क्रमश 'ग-क' हैं।

यदि हम पाँचवी श्रुति को गान्धार मानकर नवी श्रुति पर उसका 'मध्यम' ढूँढें, तो उसकी प्राप्ति असम्भव है, क्योकि छठी, सातवी, आठवी और नवी श्रुति के परिमाण क्रमश 'ख-ग-ख-ग' हैं, जब कि 'गान्धार' के पश्चात् से 'मध्यम' तक प्राप्त होनेवाली दसवी, ग्यारहवी, बारहवीं और तेरहवी श्रुतियो के वास्तविक परिमाण 'ग-क-ख-ग' है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी ढूँढे जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध हो जायगा कि षड्जग्राम की किसी भी श्रुति को षड्ज मान लेने से अगले समस्त स्वर केवल श्रुतिसख्या के आधार पर नही मिलेंगे। अर्थात् यदि हम पाँचवी श्रुति को षड्ज मान लें, तो आठवी पर उसका 'ऋषभ', दसवीं पर 'गान्धार' और चौदहवी पर 'मध्यम' नही मिलेगा। अठारहवीं पर पञ्चम मिल जायगा। क्योकि पाँचवी और अठारहवी श्रुति में तीन 'क', चार 'ख' और छ 'ग' अन्तर होने के कारण षड्ज-पञ्चम भाव है, परन्तु इक्कीसवी पर धैवत और पहली श्रुति पर निषाद की प्राप्ति नही होगी।

कारण यह है कि वर्तमान सारणाएँ उस सप्तक को आधार मानकर की गयी हैं, जो षाड्जग्रामिक है और जिसका 'षड्ज' 'निषाद' से 'ग-क-ख-ग' अन्तर पर स्थित है। प्रथम श्रुति के पश्चात् से पाँचवी श्रुति तक प्राप्त होनेवाला अन्तर 'क, ख, ग, क' है, जो प्रथम श्रुति को 'निषाद' मानने पर पाँचवी श्रुति को उसकी अपेक्षा षड्ज बनाने में असमर्थ है, अत पाँचवी श्रुति को बलात् कोई षड्ज मान भी ले, तो वर्तमान सारणा के परिणामस्वरूप प्राप्त इस श्रुति-मण्डल में उसे अन्य अभीष्ट स्वरो की प्राप्ति नही होगी।

द्वितीय अध्याय

मूर्च्छना

मूर्च्छना की व्युत्पत्ति एव प्रयोजन

क्रमयुक्त होने पर सात स्वर मूर्च्छना कहे जाते हैं।[1] 'मूर्च्छना' शब्द 'मूर्च्छ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'मोह' और 'समुच्छ्राय' (उत्सेध, उभार, चमकना, व्यक्त होना) है[2]। मूर्च्छना शब्द में 'मूर्च्छ' धातु का अर्थ 'चमकना या उभरना' है[3]।

१– क्रमयुक्ता स्वरा सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसज्ञिता ।
—भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३५

२– मोहोच्छ्रायाभिधायी यो मूर्च्छधातुस्ततो ल्युटि ।
करणार्थे मूर्च्छनेति पदमत्र समुच्छ्रये ॥
—पण्डितमण्डली, भ० को०, पृ० ५०१

कुछ लोगो का कथन है कि महर्षि भरत ने सग्रहश्लोको में 'मूर्च्छना' और 'तान' का भेद बताया है। सिहभूपाल के अनुसार मतङ्ग का कथन है—

मूर्च्छनातानयोश्च भेद प्रतिपादितो मतङ्गेन। यदाह – ननु मूर्च्छनातानयो. को भेद ? उच्यते। मूर्च्छनातानयोर्नार्थान्तरत्वमिति विशाखिल। एतन्न सङ्गतम्, सग्रहश्लोके मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वात्। ननु कथ मूर्च्छनातानयोर्भेद ? आरोहावरोहक्रमयुक्त स्वरसमुदायो मूर्च्छनेत्युच्चते, तानस्त्वारोहक्रमेण भवतीति भेद। —सिहभूपाल, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० ११४

अर्थात्—मूर्च्छना और तान का भेद मतङ्ग ने प्रतिपादित किया है, जैसा कि कहा है–मूर्च्छना और तान में क्या भेद है ? (यदि यह प्रश्न है तो) उत्तर है कि विशाखिल ने जो कहा है कि मूर्च्छना और तान के अर्थ में अन्तर नही, तो यह असङ्गत है, क्योकि सग्रह श्लोको में मूर्च्छना और तान का भेद प्रतिपादित किया गया है। यदि यह प्रश्न

श्रुति की 'मृदु'[४] (उतरी हुई अवस्था) को कुछ लोगो ने मूर्च्छना कहा है, कुछ लोगों का कथन है कि रागरूपी अमृत के ह्रद (सरोवर) में गायको और श्रोताओ के हृदय का

हो कि मूर्च्छना और तान में भेद कैसे है ? तो उत्तर है कि आरोह एव अवरोह के क्रम से 'मर्च्छना' होती है और आरोह क्रम से 'तान'।

प्रो० रामकृष्ण कवि न इस सम्बन्ध में मतङ्ग का जो पाठ उद्धृत किया है, वह सिंह भूपाल के द्वारा उद्धृत पाठ से भिन्न है और निम्नलिखित है —

ननु मूर्च्छनातानयो को भेद ? उच्यते, मूर्च्छनातानयोरणुत्वान्तरमिति विशाखिल । एतच्चासङ्गतम् । भरतस्य सग्रहश्लोके मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वात् । कथम् ? मूर्च्छनारोहक्रमेण तानोऽवरोहक्रमेण भवतीति भेद ।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ५०२

अर्थात्—मूर्च्छना और तान में क्या भेद है ? उत्तर है कि मूर्च्छना और तान में अणुत्व का अन्तर जो विशाखिल ने वताया है, वह ठीक नही, क्योकि महर्षि भरत ने सग्रह श्लोक में मूर्च्छना और तान का भेद प्रतिपादित किया है। 'किस प्रकार से ?' मूर्च्छना आरोह-क्रम से और तान अवरोह-क्रम से होती है।

पूर्वोक्त दोनो पाठो में पर्याप्त अन्तर है। 'भरतनाट्यशास्त्र' के प्रकाशित सस्करणो में उस सग्रह श्लोक की प्राप्ति नही होती, जिसमें मूर्च्छना और तान का उपर्युक्त भेद प्रतिपादित किया गया हो। महर्षि भरत ने तानो को मूर्च्छनाश्रित कहकर मूर्च्छना में से एक या दो स्वरो के लोप के पश्चात् वचे हुए रूप को औडुव या षाडव 'तान' कहा है।

३—तत्र येनैव स्वरेणोच्छ्राय प्रवर्तते, तेनैव स्वरेण यदा समाप्तिरपि भवति तदा मूर्च्छना जायते । यथा षड्जग्रामे प्रथमाया मूर्च्छनाया 'सरिगमपधनिसे'ति स्वरसन्निवेशे सति षड्जो मूर्च्छति । —नान्यदेव, भ० को०, पृ० ५०२

अर्थात्—जिस स्वर से उच्छ्राय (आरोह) होता है, उसी स्वर से जब समाप्ति भी हो, तव मूर्च्छना होती है, जैसे, षड्जग्राम में प्रथम मूर्च्छना का स्वर सन्निवेश 'सरिगमपधनिस' होने पर षड्ज मूर्च्छित (उभरा हुआ) होता है।

आचार्य शार्ङ्गदेव सात स्वरो के क्रमपूर्वक आरोह और अवरोह को मूर्च्छना मानते हैं, उस दशा में 'सरिगमपधनिधपमगरेस' अवस्था में 'षड्ज' मूर्च्छना का आरम्भक एव समापक होने के कारण उभरता है।

क्रमात्स्वराणा सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
मूर्च्छनेत्युच्यते . . . ।

—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १०३–१०४

४—श्रुतेर्मार्दवमेव स्यान्मूर्च्छनेत्याह तुम्वुरु । —हरिपाल, भ० को०, पृ० ५००

निमग्न होना ही मूर्च्छना[५] है, परन्तु भरत-सङ्गीत में 'मूर्च्छना' का अर्थ सात स्वरो का क्रमपूर्वक प्रयोग ही है ।

मूर्च्छनाएँ चार प्रकार की होती है, परन्तु इन चतुर्विध मूर्च्छनाओ के रूपो के विषय में दो मत हो गये हैं ।

एक पक्ष का कथन है —'मूर्च्छनाओ के चार प्रकार है, पूर्णा, षाडवा, औडुविता, साधारणा ।'[६]

५—गायता शृण्वताञ्चापि भवेद्रागामृते ह्रदे ।
मनसो मज्जन यत्स्यान्मूर्च्छनेत्याह कोहल ॥ —हरिपाल, भ० को०, पृ० ५००

६—यह पक्ष दत्तिल एव मतङ्ग का है। सिह भूपाल का कथन है —

मतङ्गदत्तिलौ तु मूर्च्छनानामन्यथा चातुर्विध्यमवादिष्टाम्। यदाह मतङ्ग — 'तत्र सप्तस्वरा मूर्च्छना चतुर्विधा पूर्णा षाडवौडुविता साधारणी चेति। तत्र सप्तभि स्वरै या गीयते सा पूर्णा, षड्भि स्वरै या गीयते सा षाडवा, पञ्चमि स्वरै या गीयते सौडुविता, काकल्यन्तरै स्वरै या गीयते सा साधारणी' इति। दत्तिलोऽप्याह—

. ।

.. . . ।

सर्वास्ता पञ्चषट्पूर्णसाधारणकृता स्मृता ।

—सिह भूपाल, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० ११४

अर्थात्—मतङ्ग और दत्तिल ने मूर्च्छनाओ की चतुर्विधता और ही प्रकार से वतायी है। मतङ्ग का कथन है—सप्तस्वरा मूर्च्छना के पूर्णा, षाडवा, औडुविता और साधारणी (अन्तरकाकलीयुक्त) ये चार प्रकार है। सात स्वरो से गायी जानेवाली पूर्णा, छ स्वरोवाली षाडवा, पाँच स्वरोवाली औडुविता तथा काकलीनिषाद एव अन्तरगान्धार से युक्त साधारणी है।

दत्तिल ने भी कहा है कि वे (मूर्च्छनाएँ) पञ्चस्वरा, षट्स्वरा, पूर्णा और साधारणकृता होती है।

इस मत का आधार महर्षि भरत के नाट्यशास्त्र में पाया जानेवाला यह पाठ कहा जा सकता है —

एवमेता प्रक्रमयुता पूर्णा षाडवितौडुवितीकृता साधारणकृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दश मूर्च्छना । —भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३५

अर्थात्—क्रमयुक्त ये मूर्च्छनाएँ पूर्ण, षाडवित, औडुवित एव साधारणकृत चार प्रकार की है।

दूसरे पक्ष का कथन है—मूर्च्छनाएँ चार प्रकार की होती हैं, शुद्धा, अन्तरसहिता, काकलीसहिता, अन्तरकाकली सहिता।[७]

आचार्य शार्ङ्गदेव, सिंह भूपाल या कुम्भ के समक्ष महर्षि भरत का यह पाठ नही था। सिंह भूपाल ने इस मत को मतङ्ग और दत्तिल का बताया है, महर्षि भरत का नही। कुम्भ ने तो इस मत को भरतविरोधी एव असङ्गत बताते हुए इसका खण्डन किया है।

हमारी दृष्टि से नाट्यशास्त्र में पाया जानेवाला पूर्वोक्त पाठ प्रक्षिप्त है।

७ – यह मत आचार्य शार्ङ्गदेव, पण्डितमण्डली एव कुम्भ इत्यादि का है, और महर्षि भरत के अनुसार प्रतीत होता है। महर्षि का कथन है—

क्रमयुक्ता स्वरास्सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसञ्ज्ञिता।
षट्पञ्चकस्वरास्तासा षाडवौडुविता स्मृता॥
साधारणकृताश्चैव काकलीसमलकृता।
अन्तरस्वरसयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयो॥

—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३५

अर्थात्—क्रमयुक्त सात स्वर मूर्च्छना कहलाते है। उन मूर्च्छनाओ के षट्स्वर षाडव और पञ्चस्वर औडुवित की उत्पत्ति होती है। साधारणकृत, काकलीयुक्त, एव अन्तरसयुक्त मूर्च्छनाएँ भी दोनो ग्रामो में होती है।

यहाँ षाडवित और औडुवित शुद्ध (अविकृत स्वर) मूर्च्छनाओ से उत्पन्न होनेवाले रूप है, जिनकी सख्या चौरासी और नाम 'तान' है। ये मूर्च्छनाओ के भेद नही।

षाडवित एव औडुवित रूप शुद्ध मूर्च्छनाओ से ही बनते है, विकृत स्वरोवाली मूर्च्छनाओ से नही, इसी लिए मूर्च्छना के शुद्ध रूप के साथ षाडवित और औडुवित की चर्चा की गयी है। महर्षि भरत के द्वारा उपदिष्ट चौरासी ताने शुद्ध मूर्च्छनाओ से ही बनती है। यही बात आचार्य शार्ङ्गदेव ने कही है—

ताना स्युर्मूर्च्छना शुद्धा षाडवौडुवितीकृता।

—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० ११५

अर्थात्—शुद्ध मूर्च्छनाएँ षाडव या औडुवित किये जाने पर 'तान' कहलाती है।

कुछ और आचार्य भी यही कहते है—

एकद्विस्वरलोपेन षाडवौडुवितीकृता।
ताना स्युर्मूर्च्छना शुद्धा ग्रामद्वयमुपाश्रिता॥

—पण्डितमण्डली, म० को०, पृ० ५०१

न चैतेषा मूर्च्छनात्वमेषु यत्स्वरलोपनम्।
... .

हमें दूसरा पक्ष मान्य है, क्योकि 'औडुवित' और 'पाडवित' अवस्था को महर्षि भरत ने 'तान' और सम्पूर्ण अवस्था को मूर्च्छना कहा है। सप्तस्वरता मूर्च्छना का प्रधान लक्षण है।

षड्ज-ग्राम में सात मूर्च्छनाएँ होती है। उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्ध-षड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता और अभिरुद्गता।[८] इनके आरम्भिक स्वर क्रमश षड्ज, निषाद, धैवत, पञ्चम, मध्यम, गान्धार और ऋषभ है।[९]

अर्थात् —[१०]

१	उत्तरमन्द्रा	स	रे	ग	म	प	ध	नि
२	रजनी	नि	स	रे	ग	म	प	ध
३	उत्तरायता	ध	नि	स	रे	ग	म	प
४	शुद्धषड्जा	प	ध	नि	स	रे	ग	म
५	मत्सरीकृता	म	प	ध	नि	स	रे	ग
६	अश्वक्रान्ता	ग	म	प	ध	नी	स	रे
७	अभिरुद्गता	रे	ग	म	प	ध	नि	स

तस्मात्सप्तस्वरैर्युक्ता मूर्च्छनोक्ता मनीषिभि।
षट्पञ्चस्वरकास्ताना भिद्यन्तेऽत्र पृथक् तत।
. . षाडवौडुवितीकृता।
पृथक् चतुरशीति स्युरेव षट्त्रिशता युतम्।
शतत्रय भवेयुस्ते न चैव मुनिसम्मतम्।
तानाश्चतुरशीति स्युरिति तद्वचन यत।
विकृतस्वरलोपोऽत्रो नात्र विद्भिश्चिकीर्षित।
प्रामाण्यान्मुनिवाक्यस्य शुद्धा एवात्र सम्मता॥

—कुम्भ, भ० को०, पृ० २४४

८—आदावुत्तरमन्द्रा स्याद्रजनी चोत्तरायता। चतुर्थी शुद्धषड्जा च पञ्चमी मत्सरीकृता॥ अश्वक्रान्ता तथा षष्ठी सप्तमी चाभिरुद्गता। षड्जग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेया सप्त मूर्च्छना॥ —भरत० ब० स०, पृ० ४३४

९—आसा षड्जनिषादधैवतपञ्चममध्यमगान्धारर्षभाद्या स्वरा।
—भरत०, ब० स० पृ० ४३४

१०—तत्र षड्जग्रामे षड्जेनोत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेनोत्तरायता, पञ्चमेन शुद्धषड्जा, मध्यमेन मत्सरीकृता, गान्धारेणाश्वक्रान्ता, ऋषभेणाभिरुद्गता इति। —भरत, ब० स०, पृ० ४३४

मध्यमग्राम में भी सात मूर्च्छनाएँ हैं, सौवीरी, हारिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गी, पौरवी और हृष्यका।[11] इनके आरम्भक स्वर क्रमश मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत, पञ्चम हैं।[12]

अर्थात् —[13]

१.	सौवीरी	म	प	ध	नि	स	रे	ग
२	हारिणाश्वा	ग	म	प	ध	नि	स	रे
३.	कलोपनता	रे	ग	म	प	ध	नि	स
४	शुद्धमध्या	स	रे	ग	म	प	ध	नि
५	मार्गी	नि	स	रे	ग	म	प	ध
६	पौरवी	ध	नी	स	रे	ग	म	प
७.	हृष्यका	प	ध	नि	स	रे	ग	म

एक मूर्च्छना की सिद्धि दो प्रकार से होती है। षड्ज-ग्राम में यदि गान्धार की दो श्रुतियाँ चढाकर उसे 'धैवत' मान लिया जाय, तो उसमें मध्यम-ग्राम की सभी शुद्ध मूर्च्छनाएँ मिल जायंगी।[14]

नवतन्त्री पर ग्रामसिद्धि के समय भी यह सत्य स्पष्ट किया जा चुका है। मण्डल-प्रस्तार में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

११—सौवीरी हारिणाश्वाथ स्यात्कलोपनता तथा।
शुद्धमध्या तथा चैव मार्गी स्यात् पौरवी तथा॥
हृष्यका चेति विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमा।
मध्यमग्रामजा ह्येता विज्ञेया सप्त मूर्च्छना॥

—भरत, व० स०, पृ० ४३४–४३५

१२—आसा मध्यमगान्धारर्षभषड्जनिषादधैवतपञ्चमा आनुपूर्व्याद्या स्वरा।

—भरत०, व० स०, पृ० ४३५

१३—अथ मध्यमग्रामे–मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हारिणाश्वा, ऋषभेण कलोपनता, षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी, पञ्चमेन हृष्यका इति।

—भरत०, व० स०, पृ० ४३५

१४—द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धि। तथा द्विश्रुतिप्रकर्षाद् धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छना-ग्रामयोरन्यतरत्व षड्जग्रामे।

—भरत०, व० स०, (का० स०), अ० २८, पृ० ४३५
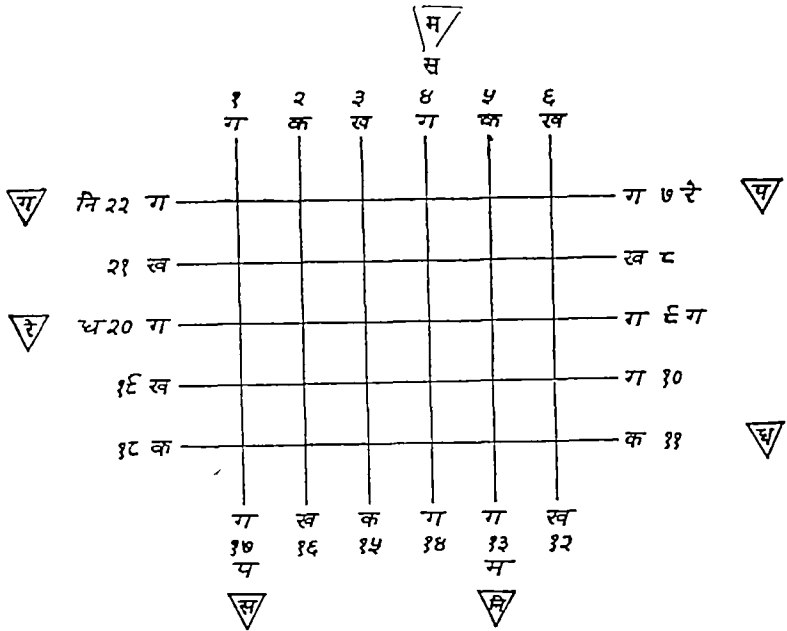
इस मण्डल-प्रस्तार में आपको दोनो ग्राम दृष्टिगोचर होगे। मध्यम-ग्रामीय स्वर त्रिकोणो में दिखाये गये है।

ग्यारहवी श्रुति भरतोक्त अन्तरगान्धार का स्थान है, जहाँ मध्यमग्राम का 'धैवत' है।

इस प्रकार हम देखते है कि षड्जग्राम के अन्तरगान्धार को धैवत मान लेने पर षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना ही मध्यमग्राम की प्रथम मूर्च्छना बन जाती है।

इस बात को यो भी कहा जा सकता है कि मध्यमग्राम के धैवत को दो श्रुति उतार कर उसे 'गान्धार' की सज्ञा दे देने पर मध्यमग्रामीय प्रथम मूर्च्छना ही षड्जग्रामीय प्रथम मूर्च्छना बन जायगी।[१५] इस क्रिया में मध्यमग्रामीय निषाद, धैवत द्वारा परित्यक्त दो श्रुतियाँ ले लेने के कारण उत्कर्पयुक्त होकर षड्जग्रामीय मध्यम बन जाता है।

१५—मध्यमग्रामेऽपि धैवतमार्दवात् निपादोत्कर्पाद् द्वैविध्य भवति।

—भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३५

द्विग्रामीय मण्डल-प्रस्तार भी हमें बताता है कि एक ग्राम का जो स्वर इस क्रिया के परिणामस्वरूप दूसरे ग्राम के जिस स्वर का स्थान ग्रहण करता है, उसके साथ उस स्वर का सवाद होता है। बदली हुई सज्ञावाले स्वर में भी श्रुतियाँ प्राय उतनी ही होती हैं, जितनी श्रुतियाँ कि पूर्वसज्ञावाले स्वर में होती है।[16] मध्यम-ग्राम के पञ्चम और धैवत में चार श्रुतियो का अन्तर होता है,[17] जब षड्जग्रामीय ऋषभ की सज्ञा मध्यमग्रामीय पञ्चम हो जाती है, तब षड्जग्रामीय गान्धार की दो श्रुतियाँ चढा देने से अन्तर-गान्धारवाली श्रुति पर मध्यमग्रामीय चतु श्रुतिक धैवत प्राप्त हो जाता है।[18] षड्जग्रामीय मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, षड्ज भी मध्यमग्रामीय निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार एव षड्ज बन जाते हैं।[19]

निम्नलिखित सारणी में परस्पर प्रतिनिधित्व-जन्य सवाद स्पष्ट है। षड्जग्राम के स्वर का स्थान ग्रहण करनेवाले मध्यमग्रामीय स्वरो के साथ षड्ज-ग्रामीय स्वरो का षड्ज-मध्यम भाव से सवाद है।

ग्रामद्वय-बोधक सारणी

षड्जग्राम से मध्यमग्राम

षड्ज-मध्यमभाव (नवश्रुत्यन्तरसवाद)	षड्ज-ग्रामीय सज्ञाएँ	मध्यमग्रामीय सज्ञाएँ	श्रुतिसख्या (मध्यम-ग्रामीय)	मध्यमग्राम में प्राप्त श्रुतिक्रम
षड्ज-मध्यम	स	म	४	'ग, क, ख, ग'
ऋषभ-पञ्चम	रि	प	३	'क, ख, ग'
अन्तरगान्धार-धैवत	अ० गा०	ध	४	'ख, ग, ग, क'
मध्यम-निषाद	म	नि	२	'ख, ग'
पञ्चम-षड्ज	प	स	४	'ग, क, ख, ग'
धैवत-ऋषभ	ध	रे	३	'क, ख, ग'
निषाद-गान्धार	नि	ग	२	'ख,ग'

१६—तुल्यश्रुत्यन्तरत्वात् सज्ञान्यत्वम्। —भरत०, व० स० अ० २८, पृ० ४३५
१७—चतु श्रुतिकमन्तर पञ्चम-धैवतयो। " " " "
१८—तद्वद्गान्धारोत्कर्षाच्चतु श्रुतिकमेव भवति। " " " "
१९—शेषाश्चापि मध्यमपञ्चमधैवतनिषादषड्जर्षभा मध्यमादित्व (निषादादित्व ?) प्राप्नुवन्ति। —भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३५

जिन दो स्वरो में वीस श्रुतियो का अन्तर हो, वे परस्पर विवादी होते है[२०] और कदापि परस्पर प्रतिनिधित्व नही करते। ग्रामद्वयवोधक श्रुतिमण्डलप्रस्तार से यह स्पष्ट है कि ऋषभ 'गान्धार' से और धैवत 'निपाद' से वीसवी श्रुति पर स्थित है, इसी लिए 'गान्धार-ऋषभ' परस्पर विवादी है और 'निषाद-धैवत' भी।

शुद्ध गान्धार और धैवत परस्पर ग्यारह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित होने के कारण सवादी नही है, फलत षड्जग्राम से मध्यमग्राम वनाने में गान्धार को दो श्रुति चढाकर धैवत के साथ उसका नव श्रुत्यन्तर सवाद वनाना पडता है, तब वह 'अन्तरगान्धार' सज्ञा-परिवर्तन होने पर मध्यमग्रामीय धैवत वनता है।

अन्तरगान्धार का एक महत्त्व और भी है, अन्तर स्वर होने के कारण वह हमें 'श्रुति' की प्राप्ति कराता है।

ग्रामसिद्धि में हम देख चुके है कि हमें षड्ज से मध्यम, मध्यम से निषाद और निषाद से गान्धार की प्राप्ति हो जाती है। धैवत की प्राप्ति हमें तव होती है, जव हम षड्ज का आश्रय पुन लेकर अन्तर गान्धार की सिद्धि स्वतन्त्र रूप से करते है। फलत गान्धार से धैवत और धैवत से ऋषभ की प्राप्ति होती है।

ऋपभ की प्राप्ति होने पर ही प्रथम सारणा सम्भव होती है, क्योकि मध्यमग्रामीय पञ्चम का निर्माण ऋषभ के साथ उसका सवाद करने पर ही सम्भव होता है और 'प्रमाणश्रुति' की प्राप्ति होती है। इसी लिए अन्तर स्वर 'श्रुति' तक पहुँचानेवाले कहे गये है।[२१]

'श्रुति' की प्राप्ति का एक उपाय और भी है, परन्तु षड्जान्तर-भाव का आश्रय हमें उस अवस्था में भी लेना पडता है। पञ्चम से षड्जान्तर-भाव के आधार पर काकली-निषाद की सिद्धि, उससे षड्ज-मध्यम-भाव के आधार पर अन्तरगान्धार की सिद्धि और तत्पश्चात् धैवत और ऋषभ की सिद्धि करने पर प्रमाणश्रुति की प्राप्ति सम्भव है, परन्तु यह द्रविड-प्राणायाम है।

षड्जान्तर भाव के आधार पर मध्यम से धैवत और निषाद से ऋषभ की सीधी सिद्धि भी सम्भव है। तात्पर्य यह है कि 'प्रमाणश्रुति' की प्राप्ति के लिए षड्जान्तर भाव का आश्रय हमें लेना ही पडता है।

२०–विवादिनस्तु ये तेपा स्याद् विंशतिकमन्तरम्।
—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३२

२१–जातिराग श्रुतिञ्चैव नयन्ते चान्तरस्वरा।
—भरत, व० स०, अ० २८, पृ० ४३७

गान्धार से षड्जान्तर-भाव के आधार पर भी हमें त्रिश्रुतिक पञ्चम प्राप्त हो सकता है, क्योंकि त्रिश्रुतिक पञ्चम गान्धार के पश्चात् सात श्रुतियों के अन्तर पर है।

तान —

मूर्च्छनाओं पर आश्रित तानें चौरासी हैं, उनमें उनचास षाडव और पैंतीस औडुव हैं। (शुद्ध मूर्च्छनाओं की संख्या सात होने के कारण) षड्जग्राम में षाडव मूर्च्छनाओं का लक्षण सात प्रकार का है। जैसे, षड्जग्राम में षड्ज, ऋषभ, पञ्चम और निषाद से रहित चार तानें हैं।[२२]

मध्यमग्राम में षड्ज, ऋषभ और गान्धार से हीन तीन तानें हैं। इस प्रकार सब मूर्च्छनाओं में की जानेवाली ये (षाडव) तानें उनचास होती हैं,[२३] जो निम्नलिखित हैं —

उत्तरमन्द्रा —

१.	×	रे	ग	म	प	ध	नि
२	स	×	ग	म	प	ध	नि
३	स	रे	ग	म	×	ध	नि
४.	स	रे	ग	म	प	ध	×

रजनी —

५	नी	×	रे	ग	म	प	ध
६	नी	सा	×	ग	म	प	ध
७.	नी	सा	रे	ग	म	×	ध
८	×	सा	रे	ग	म	प	ध

उत्तरायता —

९.	ध	नी	×	रे	ग	म	प
१०	ध	नी	स	×	ग	म	प

२२–मूर्च्छनासंश्रितास्तानाश्चतुरशीति। तत्र एकोनपञ्चाशत् षट्स्वरा, पञ्चत्रिंशत् पञ्चस्वरा। लक्षण तु षट्स्वराणा सप्तविधम्। यथा षड्जर्षभगान्धारहीनाश्चत्वारस्ताना षड्जग्रामे।

—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३७

२३–मध्यमग्रामे तु षड्जर्षभगान्धारहीनास्त्रयस्ताना। एवमेते सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणा भवन्त्येकोनपञ्चाशत्ताना।

—भरत०, व० स०, अ० २९, पृ० ४२६

११	ध	नी	स	रे	ग	म	×
१२	ध	×	स	रे	ग	म	प

शुद्ध षड्जा —

१३	प	ध	नी	×	रे	ग	म
१४	प	ध	नी	सा	×	ग	म
१५	×	ध	नी	सा	रे	ग	म
१६	प	ध	×	सा	रे	ग	म

मत्सरीकृता —

१७	म	प	ध	नी	×	रे	ग
१८	म	प	ध	नी	सा	×	ग
१९	म	×	ध	नी	सा	रे	ग
२०	म	प	ध	×	सा	रे	ग

अश्वक्रान्ता —

२१	ग	म	प	ध	नी	×	रे
२२	ग	म	प	ध	नी	स	×
२३	ग	म	×	ध	नी	स	रे
२४	ग	म	प	ध	×	स	रे

अभिरुद्‌गता —

२५	रे	ग	म	प	ध	नी	×
२६	×	ग	म	प	ध	नी	स
२७	रे	ग	म	×	ध	नी	स
२८	रे	ग	म	प	ध	×	स

सौवीरी (मध्यमग्राम) —

२९	म	प	ध	नी	×	रे	ग
३०	म	प	ध	नी	स	×	ग
३१	म	प	ध	नी	स	रे	×

हारिणाश्वा —

३२	ग	म	प	ध	नी	×	रे
३३	ग	म	प	ध	नी	स	×
३४	×	म	प	ध	नी	स	रे

कलोपनता —

३५	रे	ग	म	प	ध	नी	×
३६	×	ग	म	प	ध	नी	स
३७	रे	×	म	प	ध	नी	स

शुद्धमध्या —

३८	×	रे	ग	म	प	ध	नि
३९	स	×	ग	म	प	ध	नि
४०	स	रे	×	म	प	ध	नि

मार्गी —

४१	नी	×	रे	ग	म	प	ध
४२	नी	सा	×	ग	म	प	ध
४३	नी	सा	रे	×	म	प	ध

पौरवी —

४४	ध	नी	×	रे	ग	म	प
४५	ध	नी	स	×	ग	म	प
४६	ध	नी	स	रे	×	म	प

ह्रष्यका —

४७	प	ध	नी	×	रे	ग	म
४८	प	ध	नी	स	×	ग	म
४९	प	ध	नी	स	रे	×	म

पांच स्वरवाली तानो का लक्षण पांच ही प्रकार का है। जैसे, षड्जग्राम में 'षड्ज-पञ्चम-हीन' 'ऋषभ-पञ्चम-हीन' और 'गान्धार-निषाद-हीन' तीन तानें (एक मूर्च्छना में) होती हैं। मध्यमग्राम (की एक मूर्च्छना) में 'गान्धार-निषाद-हीन' और 'ऋषभ-धैवत-हीन' दो तानें होती हैं। इस प्रकार सब मूर्च्छनाओं में बनायी जानेवाली औडुव तानें पैंतीस होती हैं, षड्जग्राम में इक्कीस और मध्यमग्राम में चौदह।[२४] इनके रूप निम्नलिखित हैं —

२४—पञ्चस्वराणां तु पञ्चविधमेव लक्षणम्। यथा षड्जपञ्चमहीना ऋषभपञ्चमहीना गान्धारनिषादहीना इति त्रयस्ताना षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु गान्धारनिषादवद्धीनावृषभधैवतहीनाविति द्वौ तानौ। एवं पञ्चस्वरा.

११	ध	नी	स	रे	ग	म	×
१२	ध	×	स	रे	ग	म	प

शुद्ध षड्जा —

१३	प	ध	नी	×	रे	ग	म
१४	प	ध	नी	सा	×	ग	म
१५	×	ध	नी	सा	रे	ग	म
१६	प	ध	×	सा	रे	ग	म

मत्सरीकृता —

१७	म	प	ध	नी	×	रे	ग
१८	म	प	ध	नी	सा	×	ग
१९	म	×	ध	नी	सा	रे	ग
२०	म	प	ध	×	सा	रे	ग

अश्वक्रान्ता —

२१	ग	म	प	ध	नी	×	रे
२२	ग	म	प	ध	नी	स	×
२३	ग	म	×	ध	नी	स	रे
२४	ग	म	प	ध	×	स	रे

अभिरुद्गता —

२५	रे	ग	म	प	ध	नी	×
२६	×	ग	म	प	ध	नी	स
२७	रे	ग	म	×	ध	नी	स
२८	रे	ग	म	प	ध	×	स

सौवीरी (मध्यमग्राम) —

२९	म	प	ध	नी	×	रे	ग
३०	म	प	ध	नी	स	×	ग
३१	म	प	ध	नी	स	रे	×

हारिणाश्वा —

३२	ग	म	प	ध	नी	×	रे
३३	ग	म	प	ध	नी	स	×
३४	×	म	प	ध	नी	स	रे

कलोपनता —

३५. रे ग म प ध नी ×
३६ × ग म प ध नी स
३७ रे × म प ध नी स

शुद्धमध्या —

३८ × रे ग म प ध नि
३९ स × ग म प ध नि
४०. स रे × म प ध नि

मार्गी —

४१. नी × रे ग म प ध
४२ नी सा × ग म प ध
४३ नी सा रे × म प ध

पौरवी —

४४ ध नी × रे ग म प
४५ ध नी स × ग म प
४६ ध नी स रे × म प

हृष्यका —

४७. प ध नी × रे ग म
४८ प ध नी स × ग म
४९ प ध नी स रे × म

पाँच स्वरवाली तानो का लक्षण पाँच ही प्रकार का है। जैसे, षड्जग्राम में "षड्ज-पञ्चम-हीन', 'ऋषभ-पञ्चम-हीन' और 'गान्धार-निषाद-हीन' तीन तानें (एक मूर्च्छना में) होती हैं। मध्यमग्राम (की एक मूर्च्छना) में 'गान्धार-निषाद-हीन' और 'ऋषभ-धैवत-हीन' दो तानें होती है। इस प्रकार सब मूर्च्छनाओ में बनायी जानेवाली औडुव तानें पैंतीस होती हैं, षड्जग्राम में इक्कीस और मध्यमग्राम में चौदह ।[२४] इनके रूप निम्नलिखित हैं —

२४—पञ्चस्वराणा तु पञ्चविधमेव लक्षणम्। यथा षड्जपञ्चमहीना ऋषभ-पञ्चमहीना गान्धारनिषादहीना इति त्रयस्ताना षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु गान्धारनिषादवद्धीनावृषभधैवतहीनाविति द्वौ तानौ। एव पञ्चस्वरा

उत्तरमन्द्रा —

१	×	रे	ग	म	×	ध	नि
२	स	×	ग	म	×	ध	नि
३	स	रे	×	म	प	ध	×

रजनी —

४	नी	×	रे	ग	म	×	ध
५	नी	स	×	ग	म	×	ध
६	×	स	रे	×	म	प	ध

उत्तरायता —

७	ध	नी	×	रे	ग	म	×
८	ध	नी	स	×	ग	म	×
९	ध	×	स	रे	×	म	प

शुद्धषड्जा —

१०	×	ध	नी	×	रे	ग	म
११	×	ध	नी	स	×	ग	म
१२	प	ध	×	स	रे	×	म

मत्सरीकृता —

१३	म	×	ध	नी	×	रे	ग
१४	म	×	ध	नी	स	×	ग
१५	म	प	ध	×	स	रे	×

अश्वक्रान्ता —

१६.	ग	म	×	ध	नी	×	रे
१७	ग	म	×	ध	नी	स	×
१८	×	म	प	ध	×	स	रे

अभिरुद्गता —

१९	रे	ग	म	×	ध	नी	×
२०	×	ग	म	×	ध	नी	स
२१	रे	×	म	प	ध	×	स

सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणास्ताना पञ्चत्रिंशद् भवन्ति । षड्जग्रामे एकविंशतिर्मध्यमग्रामे चतुर्दश । —भरत, व० स०, अ० २८

सौवीरी (मध्यमग्राम) —

२२	म	प	ध	×	स	रे	×
२३	म	प	×	नी	स	×	ग

हारिणाश्वा —

२४	×	म	प	ध	×	स	रे
२५	ग	म	प	×	नि	स	×

कलोपनता —

२६.	रे	×	म	प	ध	×	स
२७.	×	ग	म	प	×	नि	स

शुद्धमध्या —

२८	स	रे	×	म	प	ध	×
२९	स	×	ग	म	प	×	नि

मार्गी —

३०	×	स	रे	×	म	प	ध
३१	नि	स	×	ग	म	प	×

पौरवी —

३२	ध	×	स	रे	×	म	प
३३	×	नि	स	×	ग	म	प

हृष्यका —

३४	प	ध	×	स	रे	×	म
३५	प	×	नि	स	×	ग	म

इस प्रकार उनचास पाडव तानो और पैंतीस औडुव तानो को जोड़ने से तानो की सख्या चौरासी होती है ।[२५]

पड्जग्राम में धैवत, मध्यमग्राम में पञ्चम एव दोनो ग्रामो में मध्यम का लोप नही होता । मध्यम का लोप कदापि न होने के कारण उसे 'अविलोपी' या 'अविनाशी' कहा गया है ।[२६]

२५—एवमेत एकत्र गम्यमानाश्चतुरशीतिर्भवन्ति । —भरत, व० स०, पृ० ४३६

२६—न मध्यमस्य नाशस्तु कर्तव्यो हि कदाचन । सप्तस्वराणा प्रवरो ह्यनाशी चैव मध्यम ॥ —भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४४२

पञ्चम मध्यमग्रामे पड्जग्रामे तु धैवतम् । अलोपिन विजानीयात्सर्वत्रैव तु मध्यमम् ॥ —दत्तिल मुनि, स० र०, अ० स०, स्वरा०, सिंह० पृ० १०३

मूर्च्छनाओं का प्रयोजन

हम यह देख चुके हैं कि 'मूर्च्छनाएँ' तानों को जन्म देती हैं, परन्तु मूर्च्छनाओं और तदाश्रित तानों का प्रयोजन कुछ और भी है। इसे भली भाँति जानने के लिए प्राचीन वीणाओं के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है।

प्राचीन काल में दो प्रकार की वीणाएँ होती थीं —

(१) वे, जिनमें एक तार पर तीनों सप्तकों के इक्कीसों स्वर प्रत्यक्ष किये जाते थे।

(२) वे, जिनमें प्रत्येक स्वर के प्रत्यक्षीकरण के लिए अलग-अलग तार होते थे।

प्रथम प्रकार की वीणाओं में आदिम वीणा[२७] 'एकतन्त्री' में एक तार होता था, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है। एकतन्त्री वीणा के दूसरे नाम 'ब्रह्मवीणा',[२८] 'घोषक'[२९], 'घोषा'[३०] भी हैं। एकतन्त्री वीणा में पर्दे नहीं होते थे, जिस प्रकार आज 'सारङ्गी' या 'सरोद' में पर्दे नहीं होते। जिस प्रकार आज 'विचित्र वीणा' में स्वरों की सारणा वट्टे से की जाती है, उसी प्रकार एकतन्त्री में स्वरों की सारणा बाँस की बनी हुई एक बारह अंगुल की सलाई से की जाती थी, जिसे 'कम्रिका' कहा जाता था।[३१]

एकतन्त्री में पर्दे न होने के कारण सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनियाँ सरलतापूर्वक निकाली जा सकती थीं,[३२] यह सुविधा उन वीणाओं में न थी, जिनमें प्रत्येक स्वर के लिए अलग-अलग तार थे। एकतन्त्री पर तीनों सप्तकों का प्रत्यक्षीकरण पूर्णतया सम्भव था।

२७—प्रकृतिस्सर्ववीणानामेषा श्रीशार्ङ्गिणोदिता।
—आचार्य शार्ङ्ग०, स० र०, अ० स०, वाद्या०, पृ० २३७

२८—इयं ब्रह्मवीणेत्यपि कथ्यते। —नान्यदेव, भ० को०, पृ० ८९

२९—घोषकश्चैकतन्त्रिका। —आ० शार्ङ्ग०, स० र०, अ० स०, वाद्या०, पृ० २४८

३०—इदमेकतन्त्र्या वीणाया नामान्तरम्। —श्रीकण्ठ, भ० को०, पृ० १९४

३१—शलाका वेणुनिर्वृत्ता द्वादशाङ्गुलमात्रिकाम्।
वामहस्तकनिष्ठाया पृष्ठे विन्यस्य तत्परम्॥
संवेष्ट्यानामिकाङ्गुल्या तर्जन्यङ्गुष्ठकस्तत।
सम्पीड्य गाढमनया वादयेदखिलान् स्वरान्॥
—हरिपाल, भ० को०, पृ० ४२७

३२—श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छास्ताना नानाविधास्तथा।
एकतन्त्रीकवीणाया सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम्॥
समुदायोऽस्ति नान्यत्र मतङ्गोऽप्याह तत्तथा।
एकतन्त्र्या स्वयमेवास्ति सरस्वतीति॥ —नान्यदेव, भ० को०, पृ० ८९

'मत्त-कोकिला' वीणा तीनो सप्तको अर्थात् स्थानो की दृष्टि से पूर्ण थी। इसमें इक्कीस तार होते थे। सात-सात तारो पर क्रमश एक-एक सप्तक मिला रहता था।

'जाति' या 'राग' के वादन में मन्द्रस्थान में जाने की परावधि और तारस्थान में जाने की परावधि 'मत्तकोकिला' और 'एकतन्त्री' में प्राप्त हो सकती थी।

कल्पना कीजिए कि किसी 'जाति' या 'राग' में 'षड्ज' अश स्वर है तो मन्द्र षड्ज[33] उस 'जाति' में मन्द्रस्थान में जाने की अन्तिम अवधि तथा षड्ज से सप्तम अर्थात् निषाद तारस्थान में जाने की अन्तिम अवधि था।[34] मन्द्र और तार स्थान की ये दोनो पराकाष्ठाएँ 'मत्तकोकिला' पर उस समय सरलतापूर्वक सम्भव है, जब कि तीनो सप्तको में 'षड्जादि' मूर्च्छना उस पर मिली हुई हो।

इसी प्रकार 'ऋषभ' अशवाली 'जाति' के वादन में मन्द्र और तार स्थान में भरतोक्त पराकाष्ठा की प्राप्ति तभी सम्भव थी, जब मत्तकोकिला के इक्कीस तार ऋषभादि (रे, ग, म, प, ध, नि, स—रे, ग, म, प, ध, नि, स—रे, ग, म, प, ध, नि, स) मूर्च्छना में मिले हो। एक 'जाति' के 'अश' स्वर कई हो सकते थे और उनके अनुसार मूर्च्छना परिवर्तित होती थी। मत्तकोकिला वीणा में मन्द्र एव तार स्थान की पराकाष्ठाओ का मिलना सम्भव था। मन्द्र-तार-नियमो में विकल्प भी किया गया था। इस सम्बन्ध में 'मन्द्र' स्थान की अवधि 'न्यास' और 'अपन्यास'[35] स्वर को भी मान लिया गया और तारस्थान में अश स्वर से चौथे या पाँचवे स्वर[36] को भी तारावधि मान लिया गया। फलत मन्द्र और तारावधियो में सकोच हो गया।

अस्तु, इस प्रकार हम देखते है कि 'जाति' या 'राग' के प्रयोग में मन्द्र और तार सप्तक में प्रयोज्य अवधियो का निर्णायक 'अश'[37] स्वर है। मूर्च्छनाओ का आश्रय लेने से

३३—मन्द्रस्त्वशपरो नास्ति। —भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४४३

३४—सप्तमाद् वा नात परमिहेष्यते। —भरत०, स० र०, अ० स०, स्वरा०, कल्लि० पृ० १८५

३५—त्रिविधा मन्द्रगति, अशपरा न्यासपरा अपन्यासपरा च।
—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४४३

३६—अशात्तारगति विद्यादाचतुर्थस्वरादिह।
आपञ्चमात्सप्तमाद् वा नात परमिहेष्यते॥
—भरत०, स० र०, अ० स०, स्वरा०, कल्लि०, पृ० १८५

३७—रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते।
नेता च तारमन्द्राणा योऽत्यर्थमुपलभ्यते॥

मन्द्र और तार अवधियो की प्राप्ति हो जाती है और 'वादक' एव श्रोता को सुविधा या सुख की प्राप्ति होती है।[३८] किसी विशेष जाति के लिए विशेष मूर्च्छना की बात महर्षि भरत के विधान के अनुसार नही उठती। जातिविशेष में प्रयोज्य मन्द्र और तार अवधियो के विकल्प के अनुसार स्थापनीय मूर्च्छनाओ में 'विकल्प' वादक कर सकता था।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने एक जाति के लिए एक 'मूर्च्छनाविशेष' का निर्देश किया, क्योकि महर्षि भरत के पश्चात् मन्द्रावधि[३९] और तारावधि[४०] वाले नियमो में शिथिलता आ गयी थी और वादक को यह स्वतन्त्रता मिल गयी थी कि वह इन दोनो स्थानोमें इच्छापूर्वक (जहाँ तक चाहे) जाय।[४१]

फलत एक नियम निश्चित किया गया कि 'जाति' में अशबाहुल्य (अशो की बहुलता) को देखकर मूर्च्छना का निश्चय बुद्धिमानो को स्वय कर लेना चाहिए,[४२] अर्थात् जाति में निर्दिष्ट अनेक अशस्वरो को देखते हुए ऐसी मूर्च्छना मिलानी चाहिए कि किसी भी स्वर को अश मानकर जाति का वादन किया जाय, तो यथासम्भव मन्द्र एव तार स्वर मिल सकें।

इस बात का परिणाम यह हुआ कि विशेष जाति के लिए आचार्यों ने विशेष मर्च्छना निर्दिष्ट की, परन्तु इसका परिणाम वैसा सन्तोषप्रद नही हुआ, जैसा कि होना चाहिए था, तथा पश्चाद्वर्ती अन्य आचार्यों ने जातिवादन के समय मूर्च्छना निश्चित करने का कार्य वादको पर छोड दिया।

इस विषय पर कुछ विस्तृत विचार की आवश्यकता को देखते हुए हम मतङ्ग के मूर्च्छनासम्बन्धी मत एव उस पर अन्य आचार्यों की प्रतिक्रिया देखेंगे।

ग्रहापन्यासविन्याससन्यासन्यासयोगत ।
अनुवृत्तश्च यश्चेह सोऽश स्याद् दशलक्षण ॥

—भरत०, स० र०, अ० स०, स्वरा०, कल्लि०, पृ० १८२

३८–इत्थ प्रयोक्तु श्रोतु सुखार्थ तानमूर्च्छनातत्त्वम्। मूर्च्छनाप्रयोजनमपि स्थानप्राप्ति। —भरत०, ब० स०, अ० २८, पृ० ४३६

३९–ततोऽर्वाक् कामचारिता। —शार्ङ्गदेव, स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० १८६

४०–अर्वाक् तु कामचार स्यात्। —शार्ङ्गदेव, स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० १८४

४१–उक्तावधेरर्वाङ् न्यूनताया कामचारिता गातुरिच्छयाऽशक्त्या वाऽप्रवर्तमानत्वम्। —कल्लिनाथ, अ० स०, स्वरा०, पृ० १८६-१८७

४२–ज्ञात्वा जात्यशबाहुल्य निर्देश्या मूर्च्छना बुधै।

—कश्यप, स० र०, अ० स०, रागा०, कल्लि०, पृ० ३२

द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद

प्राचीन आचार्य, अर्थात् महर्षि भरत और उनके अनुयायी, मूर्च्छनाओ का प्रयोजन कण्ठ तथा तन्त्रीवाद्यो पर जातिविशेष या रागविशेष में प्रयोज्य मन्द्र, मध्य एव तारस्थानो की प्राप्ति मानते थे, परन्तु मतङ्ग ने मूर्च्छना में राग की सिद्धि भी ढूंढनी चाही ।[43] उनका तात्पर्य था कि मूर्च्छना में मन्द्र तथा तारस्थान के भी कुछ स्वर सम्मिलित होने चाहिए । मन्द्र और तार स्वरो के दर्शन से ही राग की सिद्धि हो सकती है, फलत मूर्च्छना में बारह स्वर होने चाहिए ।[43]

इस दृष्टिकोण से आचार्य मतङ्ग ने महर्षि भरत की मूर्च्छनाओ में पहले या पीछे कुछ अन्य स्वर जोडे । परिणामत मतङ्ग की मूर्च्छनाओ का स्वरूप निम्नलिखित[44] हो गया—

१. उत्तरमन्द्रा	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग
२. रजनी	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म
३ उत्तरायता	स	रे	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प
४ शुद्धषड्जा	रे	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध
५ मत्सरीकृता	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नि
६. अश्वक्रान्ता	म	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स
७ अभिरुद्गता	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे
मध्यमग्राम[45]												
१ सौवीरी	नि	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग	म
२ हारिणाश्वा	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प

४३—मूर्च्छते येन रागो हि मूर्च्छनेत्यभिसञ्ज्ञिता । —मतङ्ग, भ० को०, पृ० ५०१

यद्यप्याचार्य्यै सप्तस्वरमूर्च्छना प्रतिपादिता । स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वररेव मूर्च्छना प्रयुक्ता । . एव च सति रागसिद्धि स्यात् ।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० २८९

४४—तेन 'धनिसरेगमपधनिसरेग' इत्युत्तरमन्द्रा । 'निसरिगमपधनिसरेगम' इति रजनी । 'सरिगमपधनिसरिगमप' इत्युत्तरमन्द्रा । एव क्रमात् शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता, अभिरुद्गता च जायन्ते । —मतङ्ग, भ० को०, पृ० २८९

४५—मध्यमग्रामे तु एवमेव 'निसरेगमपधनिसारेगम' सौवीरी । 'सरिगमपधनि-

३	कलोपनता	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प	ध
४	शुद्धमध्या	ग	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नी
५	मार्गी	म	प	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स
६	पौरवी	प	ध	नि	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे
७	हृष्यका	ध	नी	स	रे	ग	म	प	ध	नि	स	रे	ग

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि महर्षि भरत की मूर्च्छनाओ का क्रम अवरोहोन्मुख है, अर्थात् उनकी षाड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ क्रमश 'स, नि, ध, प, म, ग, रे,' तथा माध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ क्रमश 'म, ग, रे, स, नि, ध, प' से आरम्भ होती हैं। परन्तु मतङ्ग की मूर्च्छनाओ का क्रम आरोहोन्मुख है, अर्थात् उनकी द्वादशस्वर-मूर्च्छनाएँ षड्जग्राम में क्रमश 'ध, नि, स, रे, ग, म, प' और मध्यमग्राम में 'नी, स, रे, ग, म, प, ध' से आरम्भ होती हैं।

इस क्रम-विरोध के परिणामस्वरूप महर्षि भरत की अश्वक्रान्ता और हृष्यका मूर्च्छनाओ के पूर्ण रूप मतङ्ग की मूर्च्छनाओ में नही मिलते। द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओ में स्थूलाक्षरो में मुद्रित स्वर महर्षि भरत की मूर्च्छनाओ का मूल रूप प्रकट करते हैं।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने 'द्वादश-स्वर-मूर्च्छनावाद' का खण्डन करते हुए उस पर निम्नलिखित आक्षेप किये—[४६]

(क) मूर्च्छना का लक्षण क्रमश आरोह-अवरोह है, द्वादशस्वर 'उत्तरमन्द्रा' का आरम्भिक स्वर धैवत है, जो किसी ग्राम के मूल सप्तक का आदिम स्वर नही। फलत उत्तरमन्द्रा का धैवतादित्व किसी क्रमसम्बन्धी सिद्धान्त पर आश्रित नही। मध्यमग्रामीय द्वादशस्वर 'सौवीरी' का निषादादित्व भी इसी प्रकार अकारण है।

सप्तस्वर मूर्च्छनाओ में आरोह की समाप्ति के पश्चात् हमें अग्रिम स्वर अगले सप्तक में वही मिलता है, जो मूर्च्छना का आरम्भिक स्वर है, इस प्रकार क्रम बना रहता

सरेगमप' हारिणाश्वा। 'रिगमपधनिसरेगमपध' कलोपनता। एव शुद्धमध्या मार्गी, पौरवी, हृष्यका ऊह्या। —मतङ्ग० भ० को०, पृ० २८९

४६—अत्र या मूर्च्छना प्राह द्वादशस्वरसम्भवा।
मतङ्गोऽस्य मत नैव सुन्दर प्रतिभाति मे॥
अत्रैव कोहलाचार्य्यो नन्दिकेश्वर एव च। मतङ्गमनुसृत्यैवोचतुस्तदिह वर्ण्यते॥
द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधै। अत्र प्रतिसमावत्ते खुम्भाणकुलनन्दन॥
—कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

है। परन्तु द्वादशस्वर मूर्च्छनाओ में आरोह की समाप्ति पर अगला स्वर मूर्च्छना के आरम्भिक स्वर के अतिरिक्त ही मिलता है, फलत. क्रमभङ्ग होता है।[47]

(ख) द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद की स्थापना का आधार यह है कि बारह स्वरो मे जाति या राग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह आधार ठीक नही, क्योकि 'नन्दयन्ती' जाति का रूप तब तक स्पष्ट नही होता, जब तक उसमे मन्द्र, मध्य एव तार 'ऋषभ' का प्रयोग न हो। मन्द्र ऋषभ से तार ऋषभ तक स्वरो की सख्या पन्द्रह होने के कारण किसी भी द्वादशस्वर मूर्च्छना की सीमा में 'नन्दयन्ती' की सिद्धि नही हो सकती।[48] फलत द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद व्यर्थ है।

(ग) षाडवित जाति में बारह स्वरो का अर्थ दो सप्तक और औडुवित जातियो में प्राय ढाई सप्तक होता है। अत द्वादशस्वरमूर्च्छना का लक्षण स्वरसख्या के आधार पर उन स्थितियो में भी घटित होने के कारण द्वादशस्वरमूर्च्छना तीनो सप्तको को घेरने लगेगी। यदि इस अतिव्याप्ति-दोष से बचने के लिए षाडवित और औडुवित जातियों में लुप्तस्वरो की भी गणना की जाय, तो लोप्य स्वरो को धारण करने के कारण मूर्च्छना कुछ 'जातियों' या 'रागो' की जननी नही रहती।[49]

(घ) महर्षि भरत की उत्तरमन्द्रा में 'स-प', 'रे-ध', 'ग-नि' में षड्ज-पञ्चम-भाव और 'स-म' में षड्ज-मध्यम-भाव है। इसी प्रकार उनकी माध्यमग्रामिक सौवीरी में 'म-नि', 'ध-रे', 'नि-ग' और 'स-म' में षड्ज-मध्यम-भाव है तथा 'प-रे' में षड्ज-पञ्चम-भाव। अर्थात् षड्जग्राम की आधारभूत प्रथम मूर्च्छना में षड्ज-पञ्चम-भाव एव मध्यमग्राम की मूलभूत प्रथम मूर्च्छना में षड्ज-मध्यम-भाव का प्राधान्य है। द्वादश-स्वर षाड्जग्रामिक प्रथम मूर्च्छना धैवतादि 'उत्तरमन्द्रा' में आदिम स्वर धैवत के साथ मूर्च्छना का पाँचवाँ स्वर 'गान्धार' सवाद नही करता, इसी प्रकार ऋषभ, जो 'पञ्चम' से पाँचवाँ स्वर है, पञ्चम से सवाद नही करता। यदि यह कहा जाय कि द्वादश-स्वर-मूर्च्छना 'उत्तरमन्द्रा' में 'ध-रे', 'प-स', 'नि-ग' में षड्ज-मध्यम-भाव-सवाद मिल जाता

४७—क्रमात्स्वराणामारोहावरोहौ मूर्च्छनेति यत्।
लक्षण तद् विहन्येत क्रमादारोहणाद् ऋते॥ —कुम्भ, भ० को०, पृ० २८९

४८—यदुक्त जातिभापादितारमन्द्रादिसिद्धये।
द्वादशस्वरगुम्फेन मूर्च्छना स्यात्प्रयोजिका।
नन्दयन्त्या तदव्याप्ते तत्पञ्चदशसम्भवात्॥ —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

४९—षाडवौडुवितस्यातिव्याप्तिलोप्यादिसम्भवात्। —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

है, तो यह युक्ति बलिष्ठ नही, क्योकि इस दशा में भी द्वादशस्वर 'उत्तरमन्द्रा' में षड्ज-पञ्चम-भाव का वह प्राधान्य नही रहता, जो षड्जग्राम की मूल मूर्च्छना के लिए अनिवार्य है।

इसी प्रकार द्वादशस्वर निषादादि 'सौवीरी' मूर्च्छना में गान्धार को कोई परवर्ती और धैवत को कोई पूर्ववर्ती स्वर ऐसा न मिलेगा, जो षड्ज-मध्यम-भाव से सवाद करता हो, फलत मध्यमग्राम के लिए आवश्यक षड्ज-मध्यम-भाव मध्यम-ग्रामीय द्वादशस्वर प्रथम मूर्च्छना मे न मिलेगा।[५०]

(ङ) सप्तस्वर 'उत्तरमन्द्रा' तथा 'सौवीरी' में सवाद का क्रम उनके उच्चारण में एक विशिष्ट रञ्जन उत्पन्न करता है। सवादक्रम का विघात होने से द्वादशस्वर उत्तरमन्द्रा एव सौवीरी के उच्चारण में वैसा रञ्जन नही रहता।[५१]

(च) 'जाति' या 'राग' के निर्माण में कुछ स्वरो का लङ्घन, ईषत्स्पर्श करना पडता है, यह क्रिया मूर्च्छना में क्रमभङ्ग करती है, अत मूर्च्छनाओ का प्रयोजन कूट तानो का निर्माण इत्यादि है, वे रागो की जननी नही। फलत उनका सप्तस्वर होना ही उचित है।[५२]

इन्ही सब कारणो से मतङ्ग के पश्चाद्वर्ती अनेक आचार्यों ने द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया।[५३]

५०—विसवादिसमावेशाद् रक्तिभङ्गो यत स्मृत। —कुम्भ०, भ०, को०, पृ० २८९

५१—न तावत्क्रमतोच्चारे रक्ति कुत्रापि जायते। —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

५२—ईषत्स्पर्शाल्लङ्घनाद्यै क्रमभङ्गस्य शासनात्।
कूटतानोपयोगित्व मुख्यमासा प्रयोजनम्॥
न रागजनिरेपातश्चार्वी सप्तस्वरेरिता॥ —कुम्भ०, भ० को०, पृ० २८९

५३—आचार्य अभिनवगुप्त ने द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया है। प्रो० रामकृष्ण कवि का कथन है—
अत्र (यन्मतङ्गेन विवृता) द्वादशस्वरमूर्च्छना सा अभिनवादिभिरनादृता।
—भ० को०, पृ० ४२४

पुन एक अन्य स्थल पर उनका कहना है—
He (Kumbha) entered into Sastric discussions so well mastered by Abhinava —भूमिका, भ० को०, पृ० १९

फलत हमने यहाँ कुम्भ के मत का उल्लेख किया है। नान्यदेव ने जातिलक्षणो मे उनकी मूर्च्छनाओ का निर्देश नही किया।

वादन में मूर्च्छनाजन्य सौकर्य—

मतङ्ग मुनि के 'द्वादशस्वरमूर्च्छनावाद' का खण्डन अनेक आचार्यों ने भले ही किया हो, परन्तु वादन-सौकर्य के लिए मूर्च्छना का उपयोग सभी को मान्य रहा है। इस वादन-सौकर्य को भली भाँति देख लिया जाय।

चाहे प्राचीन एकतन्त्री हो या आज का सितार, उस पर मेरु और घुडच के ठीक मध्य भाग में मुक्त तार से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि से द्विगुण ध्वनि निकलेगी। तार के मध्य भाग में निकलने के कारण ही इसे 'मध्यम' कहा जाता है, इसका अर्थ सप्तक का मध्यम स्वर नहीं। इस 'मध्यम' स्वर को मूर्च्छनाओं का आरम्भक स्वर कहा गया है,[५४] मध्य सप्तक[५५] का आरम्भक स्थान यही है, इनसे पूर्व मुक्त तार तक सम्पूर्ण मन्द्र सप्तक की प्राप्ति होती है।

प्राचीन काल में इसी स्थान को षड्ज मानकर षाड्जग्रामिक उत्तरमन्द्रा एवं मध्यम मानकर माध्यमग्रामिक सौवीरी का आरम्भ होता था।

कुम्भ ने कहा है कि यदि 'मूलभूत ऊर्ध्वतन्त्री' (बाज का तार) तथा पार्श्वतन्त्री (बडी चिकारी ?) षड्ज में और 'ह्रस्वा तन्त्री' (छोटी चिकारी) पञ्चम में मिली हो, तो षड्जग्राम होता है।[५६]

नान्यदेव एवं प्रस्तुत प्रकरण पर आचार्य अभिनवगुप्त की टीकाएँ अमुद्रित होने के कारण यहाँ 'भरतकोश' के आधार पर कुम्भ का मत उद्धृत किया गया है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने मतङ्ग के मत के अनुसार जातियों की मूर्च्छना का निर्देश किया है, परन्तु मूर्च्छना की द्वादशस्वरता उन्हें भी मान्य नहीं हुई, उन्होंने संगीतरत्नाकर में मूर्च्छनाएँ सप्तस्वर मानी हैं, द्वादशस्वर-मूर्च्छनाओं की चर्चा तक उन्होंने नहीं की।

५४—मध्यमस्वरेण वैणेन मूर्च्छनानिर्देशो भवति

—भरत०, ब० सं०, अ० २८, पृ० ४३६

५५—मतङ्गोऽपि—'मध्यसप्तकेन मूर्च्छनानिर्देशः कार्यो मन्द्रतारसिद्ध्यर्थम्' इति।

—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, कल्लि०, पृ० १०४

मध्यस्थानस्थषड्जेन मूर्च्छनारभ्यतेऽग्रिमा।

—आ० शार्ङ्ग०, सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० १०५

५६—मौलोर्ध्वतन्त्रिका पार्श्वतन्त्र्यौ द्वे षड्जगे यदि।
ह्रस्वा पञ्चमगा चेत्स्यात् षड्जग्रामो भवेदयम्॥

—मतङ्ग किन्नरी लक्षण, भ० को०, पृ० ४५५

ऊर्ध्वतन्त्री (बाज का तार) यदि मध्यम में मिली हो और पार्श्वतन्त्रियाँ (चिकारियाँ) क्रमश षड्ज एव मध्यम में मिली हो, तो मध्यमग्राम होता है।[५७]

अत यह स्पष्ट है कि षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना में तार के मध्य में निकलनेवाली ध्वनि 'मध्य षड्ज' और मध्यमग्राम की प्रथम मूर्च्छना में 'मध्य मध्यम' कहलाती थी तथा षड्जग्रामीय सप्तक का आरम्भ 'षड्ज' तथा मध्यमग्रामीण सप्तक का आरम्भ मध्यम से होता था।

मतङ्ग-किन्नरी

षड्ज-ग्राम		मध्यम-ग्राम		
मेरु	स	मेरु	म	
पर्दे—१	रे	पर्दे—१	प	
२	ग	२	ध	
३	म	३	नि	मन्द्र स्थान
४	प	४	स	
५	ध	५	रे	
६	नि	६	ग	
७	स	७	म	
८	रे	८	प	
९	ग	९	ध	
१०	म	१०	नि	मध्य स्थान
११	प	११	स	
१२	ध	१२	रे	
१३	नि	१३	ग	
१४	स	१४	म	
१५	रे	१५	प	
१६	ग	१६	ध	तार स्थान
१७	म	१७	नि	
१८	प	१८	स	

मतङ्ग की जिस वीणा में तारो के मिलाने का क्रम पूर्वनिर्दिष्ट है, वह उनकी

५७—ऊर्ध्वतन्त्री यदि भवेन्मध्यमस्वरयोगिनी।
तत्पार्श्वे तन्त्रिकाद्वन्द्व षड्जमध्यमग यदि॥
मध्यमग्रामगा ज्ञेया तदेय किन्नरी बुधैः॥

—वही, भ० को०, पृ० ४५५

'किन्नरी' है। इस 'किन्नरी' में अठारह सारिकाएँ (पर्दे) हैं। एक वाज का तार और दो चिकारियाँ हैं।

मतङ्ग की इस वीणा में उन्नीस स्वरो की प्राप्ति सम्भव है, एक स्वर मुक्त अर्थात् मेरुसस्थ तार पर तथा अठारह स्वर अठारह पर्दों पर उपलब्ध होते हैं।[५८] (उपर्युक्त सारणी में यह स्थिति दिखलायी गयी है।)

मतङ्ग-किन्नरी में षड्जग्राम से मध्यमग्राम बनाने के लिए दूसरे, नवें और सोलहवें पर्दों पर स्थित तीनो सप्तको के गान्धारो को जब अन्तरगान्धार बना दिया जायगा, तब वे मेरु पर निकलनेवाली ध्वनि को 'मध्यम' मानने पर मध्यमग्रामीय धैवत बन जायेंगे।

इस समय जो स्थिति है, उसमें षड्जग्रामीय 'षड्जादि' अथवा मध्यमग्रामीय 'मध्यमादि' मूर्च्छना में किन्नरी की सारणा की गयी है। मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्रस्थान (सप्तक), सातवें से तेरहवें तक मध्यस्थान तथा चौदहवें से अठारहवें तक तारस्थान (के पाँच स्वर) है।

सातवाँ पर्दा मेरु और घुडच के ठीक मध्य भाग में होने के कारण "वीणा का 'मध्यम' स्वर" (सप्तक का मध्यम स्वर नही) है और मध्यसप्तक का आरम्भिक स्थान भी है। किन्नरी पर कोई भी मूर्च्छना मिलायी जाय, सातवें पर्दे पर उस मूर्च्छना का आरम्भिक स्वर स्थापित करना होगा, फलत उस स्वर का मन्द्र रूप हमें मुक्त तार की ध्वनि पर प्राप्त हो जायगा।

मतङ्ग की किन्नरी में इस समय जो 'मूर्च्छना' मिली हुई है, उस पर षाड्जग्रामिक तार धैवत या निषाद अथवा माध्यमग्रामिक तार ऋषभ या गान्धार की प्राप्ति अन्तिम पर्दे पर मीड से होती है।

यदि मूर्च्छना का आरम्भ 'गान्धार' से हो, अर्थात् सातवें पर्दे पर निकलनेवाली ध्वनि को 'गान्धार' मानकर अन्य पर्दों को अग्रिम स्वरो की श्रुतिसख्या के अनुसार उतार-चढाकर यथास्थान स्थापित कर लिया जाय, तो किन्नरी के सत्रहवें पर्दे पर तार धैवत और अठारहवें पर्दे पर निषाद की प्राप्ति हो जायगी, तार षड्ज और ऋषभ अन्तिम पर्दे पर मीड द्वारा मिलेंगे। इसी लिए मूर्च्छना का प्रयोजन स्थान-प्राप्ति कहा गया है।[५९]

५८—अष्टादशायवा दण्डपृष्ठे न्यस्य यथायथम् ॥ —मतङ्ग, भ० को०, पृ० ४५५

५९—मूर्च्छनाप्रयोजनमपि स्थानप्राप्ति।

—भरत०, व० स०, (का० स०) अ० २८, पृ० ४३६

निष्कर्ष यह है कि वादक को पहले यह सोच लेना चाहिए कि उसे मन्द्र एव तार-स्थानो में किस मन्द्रतम और तारतम स्वर का उपयोग करना है। यह निश्चय हो जाने पर सातवें तार के पर्दे से निकलनेवाली ध्वनि को मध्यसप्तक का वही स्वर मानना चाहिए, जिस स्वर तक मन्द्रस्थान में जाना है, फलत मुक्त तार पर उस स्वर की मन्द्र अवस्था मिल जायगी। कल्पना कीजिए कि हमें किसी राग में मन्द्र ऋषभ से तार धैवत तक उन्नीस स्वरो का प्रयोग करना है, तो हमें सातवें पर्दे की ध्वनि को मध्य सप्तक का ऋषभ मानकर अन्य पर्दों की (इस प्रकार आवश्यकतानुसार उतार-चढाव कर) स्थापना कर लेनी चाहिए कि आठवें इत्यादि पर्दों पर गान्धार इत्यादि परवर्ती स्वर एव छठे इत्यादि पूर्ववर्ती पर्दों पर यथाक्रम षड्ज इत्यादि पूर्ववर्ती स्वर बोलने लगें।

इस क्रिया के परिणामस्वरूप मुक्त तार पर 'मन्द्र ऋषभ' और अठारहवें पर्दे पर 'तार धैवत' की प्राप्ति होने लगेगी।

यदि आपको किसी राग में मन्द्र मध्यम से तार मध्यम या पञ्चम तक पन्द्रह या सोलह स्वरो का ही उपयोग करना है, तो आपका काम ऋषभादि मूर्च्छना से भी चल सकता है और षड्जादि से भी, क्योकि आपके अभीष्ट स्वर इन्ही दो मूर्च्छनाओ में ही नही, षड्जादि, ऋषभादि, गान्धारादि और मध्यमादि मूर्च्छनाओ में भी मिल जायँगे। एक मूर्च्छना की स्थापना का परिणाम किन्नरी पर उन्नीस स्वरो की प्राप्ति होता है, आपको जब केवल पन्द्रह या सोलह स्वर चाहिए, तो वे स्वभावत कई मूर्च्छनाओ में मिल सकेंगे।

जाति के साथ विशेष मूर्च्छना का निर्देश

विशेष जाति की विशेष मूर्च्छना का निर्देश मतङ्ग ने किया है। उनका यह निर्देश इसी सिद्धान्त के आधार पर है।

एक जाति में 'अश' स्वर कई हो सकते हैं। मन्द्र और तार अवधि का नियामक 'अश' स्वर होता है। 'न्यास' और 'अपन्यास' स्वर भी मन्द्र अवधि के नियामक होते हैं, फलत मतङ्ग ने विचारपूर्वक जाति के विभिन्न अश स्वरो को देखते हुए जातिविशेष के लिए ऐसी मूर्च्छना निश्चित की, कि उसके अनुसार सारणा करके बजाने पर जाति के शुद्ध एव विकृत रूपो का वादन उस एक ही मूर्च्छना में सम्भव हो सके।

ऐसी स्थिति में हमें जाति के विभिन्न रूपो में मन्द्रस्थानीय अश, न्यास या अपन्यास स्वर की प्राप्ति हो जाती है और तारस्थान में अश स्वर के पश्चात् कभी एक या

अनेक स्वर प्राप्त हो जाते हैं। किसी विकृत रूप के वादन में मन्द्रस्थानीय स्वर भी एक-दो ही मिलते हैं।

जातिविशेष के लिए मूर्च्छनाविशेष के निश्चय का परिणाम ही यह हुआ कि मन्द्र एव तार स्थान में अवधिसम्बन्धी नियमो का पालन पूर्णतया सम्भव न हुआ और यह मान लिया गया कि मन्द्रस्थान एव तारस्थान में जाना, न जाना या किमी विशेष स्वर तक जाना प्रयोक्ता की इच्छा पर है।

जहाँ तक महर्षि भरत का सम्बन्ध है, उनके अनुसार जाति के प्रत्येक रूप के लिए ऐसी मूर्च्छना निश्चित की जानी चाहिए, जिसका आरम्भक अभीष्ट अश स्वर हो, फलत मन्द्र, मध्य एव तार स्थान के सम्पूर्ण स्वर मिलेंगे। मत्तकोकिला-जैसे वाद्य मे प्रथम, अष्टम एव पन्द्रहवें तार को अभीष्ट अश स्वर की सज्ञा देकर अन्य तारो को श्रुतिसख्या के अनुसार उतार-चढाकर स्थापित कर लेना चाहिए। इस क्रिया के परिणामस्वरूप मन्द्रावस्या में अश स्वर मिलेगा, जो मन्द्रस्थान की अन्तिम अवधि है और तारस्थान में तार अश से सप्तम स्वर इक्कीसवें तार पर मिलेगा, जो तारस्थान की अन्तिम अवधि है।

महर्षि भरत ने वीणा के 'मध्यम' (वीणा के मध्य में स्थित, एकतन्त्री वीणा में मेरु एव घुडच के मध्य भाग में तार पर निकलनेवाली ध्वनि) से मूर्च्छना स्थापित करने का निर्देश एकतन्त्री के सम्बन्ध में किया है, जिसमें वादन-क्रिया एक तार पर होती है, अत मध्य सप्तक वहीं से आरम्भ होता है। मत्तकोकिला इत्यादि वीणाओं में मूल मध्यम सप्तक का आरम्भ आठवें तार से होने के कारण सारणा क्रिया का आधार आठवाँ तार ही होगा।

यदि कोई व्यक्ति मत्तकोकिला के मध्यम (बीचवाले अर्थात् ग्यारहवें) तार से मध्य सप्तक का आरम्भ करने की चेष्टा करे, तो मध्य सप्तक की समाप्ति सत्रहवें तार पर होगी, शेष चार तारो पर तार-सप्तक के केवल चार स्वर मिलेंगे, मन्द्र सप्तक का आरम्भक स्वर चौथे तार पर बोलेगा और आरम्भिक तीन तार व्यर्थ होंगे। फलत मत्तकोकिला का यह लक्षण भी व्यर्थ होगा कि उन पर तीनो स्थानों की प्राप्ति होती है। अत मत्तकोकिला में मूर्च्छना के आरम्भक तार पहला, आठवाँ और पन्द्रहवाँ तार हैं। 'उत्तरमन्द्रा' में आठवें तार पर 'मध्य षड्ज'[६०] और 'सौवीरी' में 'मध्य मध्यम' रहता है।

६०—मत्तकोकिलवीणाया तन्त्र्यो यास्तास्वनुक्रमात्।
स्वरा षड्जादय सप्त सप्त भूत्वा तथा स्थिता ॥

तन्त्रीवाद्यो पर मूर्च्छनाओ की स्थापना का प्रकार

मूर्च्छनाओ की स्थापना के विपय में महर्षि भरत का मत है—"मूर्च्छनाओ की (केवल प्रथम मूर्च्छना की नही) स्थापना 'वीणा के मध्यम स्वर (सप्तक के मध्यम स्वर से नही) से होनी चाहिए, क्योकि 'मध्यम' अविनाशी स्वर है ।"[६१]

उत्तरमन्द्रा या सौवीरी आदि मूर्च्छनाओ में तो 'मध्यम' अविनाशी या अवि-लोपी है ही, 'वीणा का मध्यम स्वर' (मेरु और घुडच के ठीक मध्य में तार पर निकलने वाला स्वर) भी अविनाशी है, क्योकि कोई भी मूर्च्छना मिलायी जाय, तन्त्री के ठीक मध्य भाग मे स्थित सातवाँ पर्दा अपना स्थान कभी नही छोडता । मेरुसस्थ अर्थात् मुक्त तार पर निकलनेवाली ध्वनि को 'स, रि, ग, म, प, ध, नि' कोई भी सज्ञा दी जाय सातवें पर्दे पर ठीक उसकी द्विगुण ध्वनि बोलेगी, फलत मूर्च्छनाओ की सारणा क्रिया में किन्नरी के अन्य सभी पर्दे कभी न कभी नीचे ऊपर सरकाने पडते है, परन्तु सातवाँ और चौदहवाँ पर्दा क्रमश मुक्त तार पर उत्पन्न होनेवाली ध्वनि के द्विगुण एव चतुर्गुण रूप के जनक होने के कारण कभी नही सरकाने पडते ।

'मतङ्गकिन्नरी' के वर्णन में कुम्भ का कथन है—

"सारणा-भेद का आश्रय लेने से वादनक्रिया के तार का योग जिस स्वर से होता है, उसी स्वर के अनुसार मुक्त तार का नामकरण होता है, फलत मूर्च्छना-रहस्य से अवगत व्यक्ति (वाज के तार के विभिन्न नामकरणो के परिणामस्वरूप उत्पन्न होनेवाली)

मध्यसप्तकषड्जेन मूर्च्छनारभ्यते ऽग्रिमा ।

मध्यस्थमध्यमेनाद्या मध्यमग्राममूर्च्छना ॥

—पण्डितमण्डली, भ० को०, पृ० ५०१

६१—मध्यमस्वरेण वैणेन मूर्च्छनानिर्देशो भवत्यनाशित्वात् ।

—भरत०, व० स०, अ० २८, पृ० ४३६

आचार्य कल्लिनाथ ने 'रत्नाकर' में इस प्रकरण पर की हुई टीका में 'वैणेन' के स्थान पर भरत-नाट्यशास्त्र का पाठ 'वैणवेन' बताया है, जो वेणु की दृष्टि से ठीक है—'य सामगाना प्रथम स वेणोर्मध्यमस्वर' में भी यही बात वतायी गयी है, जिसका परिणाम 'वेणु' पर तीनो स्थानो की अभीष्ट स्वरसख्या की प्राप्ति है । प्राचीन वेणु-वाद्यो में छिद्रो को आवश्यकतानुसार अर्धमुद्रित इत्यादि अवस्थाओ में लाकर सारणा-क्रिया होती थी ।

उस-उस मूर्च्छना का अभ्यास करे। (मुक्त तार से निकलनेवाली ध्वनि का नाम-करण जिस स्वर के आधार पर हो उसका ध्यान रखते हुए उपयुक्त अन्तर पर) षड्ज की स्थापना उसकी श्रुतिसंख्या की दृष्टि से करनी चाहिए। इसके पश्चात् वीणा की डाँड पर (अभीष्ट = ग्राम के अनुसार) स्वरप्रबन्ध को जन्म देनेवाली सारिकाओं की स्थापना यथास्थान करनी चाहिए। स्वच्छमानस व्यक्ति उन सारिकाओं पर इष्ट राग (जिसके लिए सारणा-क्रिया की गयी है) का आलाप निपुणतापूर्वक करे।"[६२]

अन्य लोग भी षड्ज के स्थान पर स्थित निषाद आदि स्वरों से अन्य अन्य रजनी इत्यादि षाड्जग्रामिक मूर्च्छनाएँ तथा मध्यम के स्थान पर स्थित गान्धार इत्यादि से मध्यमग्राम की हारिणाश्वा इत्यादि अन्य मूर्च्छनाएँ मानते हैं।[६३]

६२—येन येन स्वरेणैव योगस्तन्त्र्या प्रतन्यते।
सारणाभेदमाश्रित्य सा स्यात्तत्तत्स्वराह्वया॥
ता ता च मूर्च्छनामस्यामभ्यसेत् तद्विदग्रणी।
स्वस्थाने प्रकृतीकृत्य षड्ज स्वश्रुतिपेशलम्॥
स्वरप्रबन्धना स्थाप्या दण्डपृष्ठेऽथ सारिका।
तास्विष्टरागं निपुणमालपेत् स्वच्छमानस॥ —मतङ्ग, भ० को०, पृ० ४५५

६३—षड्जस्थानस्थितैर्न्याद्यै रजन्याद्या परे विदु।
हारिणाश्वादिका गाद्यै मध्यमस्थानसस्थितै॥
षड्जादीन्मध्यमादींश्च तदूर्ध्वं सारयेत् क्रमात्॥
—आचार्य्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १०७

आचार्य शार्ङ्गदेव की उपर्युक्त पंक्तियों पर आचार्य कल्लिनाथ का कथन है—

"ननु षड्जमध्यमस्थानयोरेव निषादगान्धारादिप्रयोगे सति षड्जग्राम उत्तर-मन्द्रारजन्यादीना कथ परस्पर भेदो मध्यमग्रामे च सौवीरीहारिणाश्वादीना च कथ-मन्योन्यभेद इत्याशक्य परिहरिष्यन्नाह—षड्जादीन्मध्यमादींश्चेति। तदूर्ध्वमिति। रजन्यादिकाया षड्जस्थानस्थापितनिषादादेर्हारिणाश्वादिकाया मध्यमस्थानस्थापित-गान्धारादेश्च पर षड्जादीन्मध्यमादींश्च स्वरान् सारयेत्, स्वस्वश्रुतिसंख्यापर्य्या-लोचनया श्रुत्यन्तराणि प्रापयेदित्यर्थ।"

—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १०७

अर्थात्—षड्ज एव मध्यम के स्थान पर निषाद, गान्धार इत्यादि का प्रयोग करने से षड्जग्रामीय उत्तरमन्द्रा और रजनी इत्यादि में तथा मध्यमग्रामीय सौवीरी-

षड्ज के स्थान पर स्थापित निषाद आदि से ऊपर षड्ज इत्यादि तथा मध्यम के स्थान पर स्थित गान्धार आदि के पश्चात् मध्यम आदि स्वरो की सारणा (स्वरो की श्रुतिसख्या के अनुसार) क्रमपूर्वक करनी चाहिए।

'पण्डितमण्डली' के भी शब्द है—

"षड्ज और मध्यम के स्थान पर निषाद आदि एव गान्धार आदि स्वरो की स्थापना करनी चाहिए, उनके बाद षड्ज और मध्यम इत्यादि स्वरो की सारणा 'बुद्धिमान्' व्यक्ति को करनी चाहिए।"[६४]

सितार पर आज जितने पर्दे बँधे हुए है, उनमें से विकृत स्वरो के पर्दों को यदि निकाल दिया जाय तो सप्तकबोधक पर्दे केवल तेरह रह जायँगे। तेरह स्वर इन पर्दों

हारिणाश्वा इत्यादि में परस्पर भेद कैसे रहेगा ? इस आशका को दूर करने की इच्छा से आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने 'षड्जादीन्मध्यमादीश्च' इत्यादि पक्ति लिखी है। इस पक्ति में 'तदूर्ध्व' इत्यादि का तात्पर्य्य यह है कि रजनी इत्यादि में षड्ज के स्थान पर स्थापित निषाद इत्यादि स्वरो एव हारिणाश्वा इत्यादि में षड्ज के स्थान पर स्थापित गान्धार इत्यादि स्वरो के पश्चात् षड्ज इत्यादि और मध्यम इत्यादि स्वरो की 'सारणा' करनी चाहिए, अर्थात् उन-उन स्वरो को उन-उनकी सख्या के अनुसार श्रुत्यन्तरो तक पहुँचाकर स्थापित करना चाहिए।"

६४—षड्जमध्यमयो स्थाने न्याद्या गाद्या यथाक्रमात्।
तदूर्ध्व **सारयेत्** षड्जमध्यमादीन् स्वरान् सुधी ॥

इस स्पष्टीकरण के पश्चात् निम्नलिखित **भ्रम** दूर हो जाने चाहिए—

(क) आधुनिक 'सितार' या 'वीणा' पर पर्दों के जो अन्तर एव नाम है, तथा इन पर्दों का जो क्रम है, वे अनादि काल से चले आ रहे है।

(ख) सितार पर जो पर्दा आज मध्यस्थानीय षड्ज का बोधक है, वही महर्षि भरत का 'वैण मध्यम स्वर' या मतङ्ग के 'मध्यसप्तक का षड्ज' है।

(ग) सितार पर 'मन्द्र पञ्चम' का पर्दा प्राचीनो का षड्ज है और वहाँ से शुद्ध षड्जा मूर्च्छना सदा से आरम्भ होती रही है।

(घ) शार्ङ्गदेव या अन्य आचार्य्य उत्तरमन्द्रा के सात स्वरो को जैसे का तैसा रखकर उन्ही स्वरो पर रजनी इत्यादि तथा सौवीरी के सातो स्वरो को बिना इधर-उधर सरकाये उसी अवस्था में हारिणाश्वा इत्यादि की सिद्धि करते थे, फलत विभिन्न मूर्च्छनाओ में स्वरो की श्रुतिसख्या में परिवर्तन होता था।

पर और चौदहवाँ स्वर मुक्त तार पर वोलेगा। इस प्रकार आज सितार पर मध्यम से आरम्भ होनेवाले केवल दो सप्तको (चौदह स्वरो) की प्राप्ति होती है।

वादको ने अपनी सुविधा के लिए मध्यमादि मन्द्रसप्तक के अन्तिम तीन स्वर स, रे, ग तथा मध्यमादि मध्यसप्तक के आरम्भिक चार स्वर म, प, ध, नि को लेकर 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' षड्जादि मध्यसप्तक मान लिया है, परिणामत वाज के तार पर उन्हें मन्द्रस्थान मे इस नवीन षड्जादि मध्यसप्तक के म, प, ध, नि और तारसप्तक के 'स, रे, ग' मिल जाते हैं।[६५]

आधुनिक वादक जव मन्द्र मध्यम से मन्द्रस्थान में जाना चाहते है, तव उन्हें अन्य तारो का आश्रय लेना पडता है, जो मन्द्र पञ्चम या षड्ज इत्यादि में मिले होते है, जव 'तार गान्धार' से ऊपर जाना होता है तव तार गान्धार के पर्दे पर तार को दवाकर खीचना पडता है।

सितार पर जो पर्दे होते है, वे वीणा के तारो की भाँति सपाट न होकर वक्र (वीच में ऊपर को उठे हुए) होते है, फलत मन्द्र पञ्चम या मन्द्र षड्ज के तारो से वाज का काम लेने पर उन तारो को पर्दों पर दवाकर मीडना पडता है, क्योकि वाज के तार का अन्तर पर्दो से जितना होता है, उतना अन्य तारो का नही। अत विलम्वित लय की तानें तो मन्द्र षड्ज या मन्द्र पञ्चम के तारो पर जा सकती हैं, परन्तु द्रुत लय की तानो के लिए ये तार अनुपयोगी होते हैं।

सितार पर यदि किन्नरी की भाँति अठारह पर्दे वाँधने हो, तो सितार के तूंवे की वनावट में इस प्रकार अन्तर करना होगा कि डाँड पर आज की तार गान्धार के पश्चात् पाँच और ऐसे पर्दे वाँधे जा सकें, जिन पर अग्रिम 'म, प, ध, नि, स' निकल सकें।

यह सम्भव है। आधुनिक सितार पर तार गान्धार के पश्चात् मध्यम और 'पञ्चम' के दो पर्दे वाँधे जा सकते हैं। पञ्चम के पर्दे पर तार को मीडकर अग्रिम षड्ज की प्राप्ति होती है।

'एकतन्त्री' वीणा में पर्दे न होने के कारण यह क्रिया अत्यन्त सरल थी।

६५—'आधुनिक वीणा' और 'सितार' पर पर्दों के वर्तमान क्रम और नामकरण कुछ वहुत अधिक प्राचीन नही, इस सवध में विस्तृत विचार अन्यत्र किया जायगा।

यहाँ हम यह मानकर सितार पर मूर्च्छनाओं की स्थापनाओं का प्रकार दे रहे हैं कि उस पर किन्नरी की भाँति अठारह पर्दे बँधे हुए हैं—

उत्तरमन्द्रा—

```
मेरु        ⎧ ० स  (स) - - - - - - (स)
पर्दे—      ⎪ १ रे -  |  - - - - - -  |  - - - (म)
            ⎪ २ ग -  ↓  - - - (म) -  |  - - -  ↑
मन्द्रस्थान  ⎨ ३ म  (म) - (स) -  ↑  -  ↓  - (स) -  |
            ⎪ ४ प - - -   |  -  |  - (प) -  ↓  -  | - (स)
            ⎪ ५ ध  (स) -  ↓  -  |  - - - (अ गा) (स)  |
            ⎩ ६ नि -  |  - (म) - (स) -(स) - - - - - -  ↓
            ⎧ ७ स -  ↓  - - - - - -  |  (स)-  -(स)  - (म)
            ⎪ ८ रे  (म) (स)            ↓    |     |
            ⎪ ९ ग - -  |  - (स)     (म)    ↓     |
मध्यस्थान   ⎨ १० म - -  |  -  |  - (स)    (म)      ↓
            ⎪ ११ प - -  ↓  -  |  -  |             (प)
            ⎪ १२ ध - - (प) -  ↓  -  |  - (स)
            ⎩ १३ नि - - - (प) -  ↓  -  |  - (स)
            ⎧ १४ स - - - - - प -  ↓  -  |  - (स) - (स)
            ⎪ १५ रे - - - - - - - - (म) -  ↓  -  |  -  |
तारस्थान    ⎨ १६ ग - - - - - - - - - - (म)  ↓  -  |
            ⎪ १७ म - - - - - - - - - - - - - म -  ↓
            ⎩ १८ प - - - - - - - - - - - - - - (प)
```

मन्द्रस्थान में 'धैवत' की सिद्धि षड्जान्तर-भाव के आधार पर 'मध्यम' को षड्ज मानकर की गयी है, 'म-ध', 'नि-रे' में षड्जान्तरभाव यथास्थान बताया जा चुका है। अन्य सभी स्वरों की सिद्धि का आधार षड्ज-मध्यम-भाव है।

मूर्च्छना (आरोहावरोहयुक्त क्रम) के उत्तर (अन्तिम) भाग में षड्जग्राम का मन्द्रतम स्वर होने के कारण इस मूर्च्छना का नाम 'उत्तरमन्द्रा' है।*

---

* षड्जे तूत्तरमन्द्रा स्यान्मन्द्रश्चात्रोत्तरस्वरः। तस्मादुत्तरमन्द्रेयम् ॥

—नाट्य०, भ० को०, पृ० ७१

रजनी—

```
मेरु—    ० नि  (स)  (स)    (स)
पर्दे—    १ सा - |  -  | -(प)  ↓   -  -  (स)
         २ रे - ↓  -  |   ↑ -अ गा  (स) -  |
         ३ ग -(म)    ↓   |    -  -   |  -  |
         ४ म  -  -(प) (स)  -  -   |  -  ↓
         ५ प -(स)  - - -  -  -  -  ↓  -(प)
         ६ ध -  | -(स) -  -  -  -(प)
         ७ नि - ↓ -  | -(स)
         ८ स  (म)  ↓    | (स)(स)
         ९ रे -  -  म - ↓  | - | -(स)
        १० ग -  -  - - म  ↓ - | -  |
        ११ म -  -  -  - - म - ↓ - | -(स)
        १२ प -  -  -  -  -  - - प - ↓ -  | -(स)
        १३ ध -  -  -  -  -  -  - - (प) - ↓ -  | -(स)
        १४ नि -  -  -  -  -  -  -  -  - (म)- ↓ - | -(स)
        १५ स -  -  -  -  -  -  -  -  -  - - म - ↓ - | -(स)
        १६ रे -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - - म  ↓  |
        १७ ग -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - - (म) ↓
        १८ म -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  म
```

मन्द्र सप्तक में निषाद को षड्ज मानकर षड्जान्तर-भाव के आधार पर ऋषभ की सिद्धि की गयी है। अन्य स्वरो की स्थापना में षड्ज-मध्यम-भाव या षड्ज-पञ्चम-भाव का आश्रय लिया गया है।

उत्तरमन्द्रा में पहला पर्दा ऋषभ का उत्पादक होने के कारण मेरु से 'क, ख, ग' अन्तर पर मिला होता है। रजनी में मेरु पर निषाद स्थित होने के कारण उससे 'ग, क, ख, ग' अन्तर पर स्थित चतु श्रुति षड्ज प्राप्त करने के लिए मूल मूर्च्छना उत्तरमन्द्रा के पहले पर्दे को घुड्च की ओर 'ग' अन्तर सरकाना पड़ेगा।

दूसरा पर्दा जो उत्तरमन्द्रा में गान्धार का जनक होने के कारण मेरु से 'क, ख, ग, ख, ग' अन्तर पर स्थित था, रजनी में ऋषभ का जनक होने के कारण मेरु से 'ग, क, ख, ग, क, ख, ग,' अन्तर (सात श्रुतियो का अन्तर) प्राप्त करने के लिए घुड्च की ओर 'ग-क' अन्तर सरकाना पडेगा।

तीसरा पर्दा वही रखना होगा, क्योंकि यह मेरु से नौ श्रुतियो के अन्तर पर स्थित

है। उत्तरमन्द्रा में यह मेरु पर बोलनेवाले षड्ज की अपेक्षा मध्यम का जनक था और रजनी में यही पर्दा मेरु पर बोलनेवाले निषाद से नव श्रुत्यन्तर पर स्थित गान्धार का जनक है।

चौथा पर्दा उत्तरमन्द्रा में मेरु पर बोलनेवाले षड्ज का पञ्चम था, रजनी में भी वह अपने स्थान पर स्थित रहकर मध्यम का जनक होगा, क्योकि 'निषाद-मध्यम' में षड्ज-पञ्चम-भाव है।

पाँचवाँ पर्दा उत्तरमन्द्रा में धैवत का जनक होने के कारण चौथे पर्दे से 'क, ख, ग, अन्तर पर स्थित था, रजनी में इस पर्दे पर 'पञ्चम' उत्पन्न करने के लिए इसे एक 'ग' अन्तर चढ़ाना होगा।

छठा पर्दा उत्तरमन्द्रा में मेरु से अठारह श्रुतियो (क, ख, ग, ख, ग, ग, क, ख, ग, ग, क, ख, ग, क, ख, ग, ख, ग) के अन्तर पर स्थित था और उस पर निषाद की उत्पत्ति होती थी। रजनी में उस पर धैवत उत्पन्न करने के लिए मेरु से उसे बीस श्रुतियो के अन्तर पर रखना होगा। फलत उसे दो श्रुति चढाना होगा।

सातवें पर्दे पर निषाद स्वत मिल जायगा, क्योकि मुक्त तार पर स्थित मन्द्र निषाद का द्विगुण मध्य निषाद इस पर स्वत बोलेगा।

रजनी की स्थापना का जो प्रकार षड्जान्तर-भाव, षड्ज-मध्यम-भाव एव षड्ज-पञ्चम-भाव के आधार पर प्रदर्शित किया गया है, उस प्रकार से सभी पर्दे यथास्थान आ जायँगे।

मेरु से क्रमश नौ एव तेरह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित तीसरे और चौथे पर्दे के अतिरिक्त सभी पर्दे इस मूर्च्छना की सारणा करने में उत्तरमन्द्रा वाले स्थानो से हट जाते हैं, फलत उत्तरमन्द्रा और इस मूर्च्छना में दिन-रात जैसा अन्तर हो जाने के कारण ही सम्भवत इसे 'रजनी' कहा गया है। मध्य और तार स्थान के पर्दे भी मन्द्र स्थान के पर्दों मे विकार के परिणामस्वरूप यथोचित रूप में सरकेंगे।

उत्तरायता—

```
मेरु—    ० ध  स
पर्दे—    १ नि - | -  (स) - (स)  (स)
         २ म - ↓ -   ↑  -  |  -  |  - (प) - (स)
         ३ रे - म - (अ गा) -- ↓ -  |  -  ↑  -  |  - (स)
         ४ ग (म) - - - - - म - ↓ - | - | - |
         ५ म - |  (स) - - - - - (प) - (स) - ↓ - |
         ६ प - | - | - - - - - - - - - - (प) - ↓
         ७ ध - ↓ - | - (स) - - - - - - - - - - - (प)
         ८ नि (प) - ↓ - | (स)
         ९ स -  (प) ↓ | (स) (स)
        १० रे - - - (म) ↓ | | (स)
        ११ ग - - - - (म) ↓ |
        १२ म - - - - - - - म ↓ | (स)
        १३ प - - - - - - - - प - ↓ - | (स)
        १४ ध - - - - - - - - - - प - ↓ | (स)
        १५ नि - - - - - - - - - - - - म ↓ | (स)
        १६ स - - - - - - - - - - - - - (म) ↓ |
        १७ रे - - - - - - - - - - - - - - (म) ↓
        १८ ग - - - - - - - - - - - - - - - - (म)
```

इस मूर्च्छना की स्थापना में तीसरा पर्दा अपने स्थान पर ही रहेगा। उत्तरमन्द्रा में स्थापित पर्दों की स्थिति की अपेक्षा अन्य पर्दों की स्थिति में परिवर्तन होगा। पहला, चौथा और पांचवां पर्दा (क्रमश एक श्रुति, दो श्रुति और एक श्रुति) मेरु की ओर सरक जायेंगे, तथा दूसरा और छठा पर्दा घुड्च की ओर एक-एक श्रुति सरकेंगे।

मूर्च्छना का उत्तर (अवरोह का अन्तिम) भाग (मेरु और प्रथम पर्दे का अन्तर) इस मूर्च्छना में 'आयत' (अतिशयपूर्वक यमनयुक्त, दृढ अथवा पहले पर्दे से घुड्च का अन्तर कम) हो जाने के कारण ही इसका नाम सम्भवत 'उत्तरायता'* है। मध्य और तार स्थान के पर्दे भी यथास्थान हटेंगे।

* उत्तरोत्तरतश्चास्यामायतो हि स्वरो यत'।
तेनेय मूर्च्छना प्रोक्ता भवते चोत्तरायता॥

—नान्य०, भ० को०, ७१

शुद्धषड्जा—

```
मेरु—  ० प (स)
पर्दे—  १ ध -|  -  -  -  -  -  -  (प)
       २ नि -↓  -  - (म) - (स) - ↑ (स)
       ३ स - म (स)  ↑   - ↓ -  |  |
       ४ रे -  - | -  |  (अ गा) स - ↓  (स)
       ५ ग -  - ↓ -  |  -  -  -  (म)  |
       ६ म -  -(म) (स)                |
       ७ प -  -  -  |  (स)            ↓
       ८ ध -  -  -  ↓   |  -  -(स) - - (प)
       ९ नि -  -  - (म) ↓  -  - | (स)
      १० स -  -  -  -  (म)  - ↓  |  (स)(स)
      ११ रे -  -  -  -  -  -  -(म) ↓  | - | (स)
      १२ ग -  -  -  -  -  -  -  - (म) ↓ - | - |
      १३ म -  -  -  -  -  -  -  -  - (म) ↓ - | (स)
      १४ प -  -  -  -  -  -  -  -  -  - (प) ↓  | (स)
      १५ ध -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - (प) ↓ | (स)
      १६ नि -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - (म) ↓ |
      १७ स -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - (म) ↓
      १८ रे -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  म
```

इस मूर्च्छना की स्थापना में उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा चौथा पर्दा मेरु की ओर एक श्रुति सरकेगा तथा पाँचवाँ पर्दा दो श्रुति ।

रजनी और उत्तरायता में षड्ज प्राप्त करने के लिए क्रमश पहले और दूसरे पर्दे को उत्तरमन्द्रा के स्थान से सरकाना पडता है, परन्तु इस मूर्च्छना की सारणाक्रिया में तीसरे पर्दे की मूल शुद्ध अवस्था पर ही 'षड्ज' प्राप्त हो जाता है, फलत इस मूर्च्छना का नाम 'शुद्धषड्जा'* है ।

मध्य और तार स्थान के पर्दे भी मन्द्र स्थान के अनुसार हटेंगे ।

---

* शुद्ध स्यात्तत्र षड्जस्तु शुद्धषड्जा तत स्मृता ।
पञ्चमेन स्वरेणेय देवता स्यात्पितामह ॥

—नान्यदेव, भ० को०, पृ० ६७१

मत्सरीकृता—

```
मेरु — ० म   स
पर्दे — १ प -  |   -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -(प)
       २ ध -  ↓   -  -  -  -  - (प)              ↑
       ३ नि  म   (स)  -(स) ↑ -  -(स)             |
       ४ स   -  -  ↑   -   |  | -  - |  -(प)  (स) (स)
       ५ रे  -  -(अ गा ) - ↓ (स)     |    ↑         |
       ६ ग   -  -  -  -  -(म)  |     ↓    |         |
       ७ म  (स)-  -  -  -      |  -(प) -(स)         ↓
       ८ प - | -(स)-  -  -     ↓   -  -  -  -  -  -(प)
       ९ ध - ↓ - | -  (स)- (प)
      १० नि (म) ↓ -   | - (स)
      ११ स   -  -म -   ↓ - | - (स) (म)
      १२ रे  -  -  -  -  - म - ↓ -  | - | - (स)
      १३ ग   -  -  -  -  -  - म     ↓    |    |
      १४ म   -  -  -  -  -  -  -  म - ↓ -  | -(स)
      १५ प   -  -  -  -  -  -  -  -  -  -प   ↓  | -(म)
      १६ ध   -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - प ↓  |
      १७ नि  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -(म) ↓
      १८ स   -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -(म)
```

इस मूर्च्छना में केवल पहले और दूसरे पर्दे को, उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा, क्रमश एक और दो श्रुति (घुडच की ओर) सरकाना पडता है, अन्य सभी पर्दे जैसे के तैसे रहते है।

केवल पहले और दूसरे पर्दे के विकार से उत्तरमन्द्रा के प्रति इस मूर्च्छना का हलका-सा मात्सर्य प्रकट होने के कारण सम्भवत इसका नाम मत्सरीकृता है।*

अन्य स्थानो (सप्तको) में पर्दे यथोचित रूप में सारणाक्रिया के परिणामस्वरूप हट जायेंगे।

---

* मध्यमालापसरणे सा भवेन्मत्सरीकृता।

—नाट्य०, म० को०, पृ०४५८

अश्वक्रान्ता—

```
मेरु— ० ग    (स)
पर्दे— १ म    - | -(प)-(स)
     २ प    - |  - ↑ -  | -(प)
     ३ ध    - ↓ -  | -  | - ↑   -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - -(प)
     ४ नि  (प)(स)  ↓ -  | -(स)   -                                    ↑
     ५ स    -  -  |  (प)(स) - ↑    -(स)   -  -  -  -  -  -  -  -     |
     ६ रे    -  -  ↓  -  -  |  (अ गा) | (स) -  -  -  -  -  -  -  -  (स)
     ७ ग    -  -(म)         ↓          |   |
     ८ म    -  -  -  -  (म) (स)       ↓   |
     ९ प    -  -  -  -  -  -  - | -  -(प) ↓ - -(स)
    १० ध    -  -  -  -  -  -  - ↓ -  -  (प)-  - | -(स)
    ११ नि    -  -  -  -  -  -  -म -  -  - (स) ↓   |
    १२ स    -  -  -  -  -  -  -  -  -  -   |  -म - ↓ -(स)(स)
    १३ रे    -  -  -  -  -  -  -  -  -  -   ↓  -  -(म)- |  | (स)
    १४ ग    -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -म -  -  -  ↓  |   |
    १५ म    -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  म  ↓   | (स)
    १६ प    -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - -प  ↓   |
    १७ ध    -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - -प   ↓
    १८ नि    -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - -(म)
```

इस मूर्च्छना में चौथे पर्दे के अतिरिक्त सभी पर्दे* उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा (अश्व की गति (क्रमण) के समान) घुडच की ओर बढ़ते हैं, सम्भवत इसी लिए इस मूर्च्छना का नाम 'अश्वक्रान्ता' है।

अन्य सप्तको के पर्दे भी मन्द्र स्थान की स्थिति के अनुसार अपने स्थान से हटेंगे।

---

* भरतकालीन वीणाएँ सारिकाहीन होती थी। इसलिए एकतन्त्री वीणा पर मूर्च्छनाओ की अन्वर्थता समझने के लिए 'पर्दे' के स्थान पर तन्त्री का वह 'स्थान' समझना चाहिए, जिस स्थान पर अभीष्ट स्वर की अभिव्यक्ति होती हो।

अभिरुद्गता—

```
मेरु—   ० रे    (स)
पर्दे—   १ ग  -  |    -  -  -  -  -  -(म)
        २ म  -  |    -(स)  -(स)  - ↑ (स)
        ३ प  -  ↓    - ↑   - ↑   - |  - |   -(प)
        ४ ध  - (प)  (अगा)- |     - |  - |   - ↑ -  (स)
        ५ नि -  -  -  -  - (म)  -(स)- ↓    - | -   |
        ६ स  -  -  -  -  -  -  -  - |  (प)- (स)-   ↓ -(स)
        ७ रे -  -  -  -  -  -  -  - ↓  -  -   |  -(म)  |  (स)
        ८ ग  -  -  -  -  -  -  -  - म  -  -   |  -  -  |  - |
        ९ म  -(स)  (स)-  -  -  -   -  -  (म)-  -  ↓  - |
       १० प  - |   - | -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  प  - ↓
       ११ ध  - ↓   - | -  - (स)-  -  -  -  -  -  -  -  - (प)
       १२ नि -(म)  - ↓ -  -  |  -(स)
       १३ स  -  -  -(प)  -  ↓  - | -(म) (स)
       १४ रे -  -  -  -  -  म  - ↓ - |  - |  -(स)
       १५ ग  -  -  -  -  -  -  -  -(म)- ↓ - |   |
       १६ म  -  -  -  -  -  -  -  -  -  म - ↓   |
       १७ प  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  - (प)  ↓
       १८ ध  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -  -(प)
```

इन मूर्च्छना में उत्तरमन्द्रा की स्थिति की अपेक्षा पहला और पाँचवा पर्दा मेरु की ओर तथा दूसरा, तीसरा और छठा पर्दा घुडच की ओर बढते है। इस मूर्च्छना में पर्दे परस्पर 'अभिरोव' करते दिखाई देते है, फलत इसका नाम अभिरुद्गता (अभि+रुध्+गता) है।

मध्य और तार स्थान के पर्दे भी यथोचित रूप में सरकेंगे।

माध्यमग्रामिक मूर्च्छनाएँ

सौवीरी

उत्तरमन्द्रा के गान्धार को दो श्रुति चढाने के पश्चात् उसे 'धैवत' की सज्ञा देने अर्थात् अन्तरगान्धार-युक्त उत्तरमन्द्रा के 'सरिगमपधनि' को 'म, प, ध, नि, स, रे, ग' की सज्ञा देने से 'सौवीरी' की सिद्धि हो जाती है।

उत्तरमन्द्रा से 'सौवीरी' के निर्माण की प्रस्तुत योजना सम्भवत सौवीर देश के निवासियों ने की, फलत इनका नाम 'सौवीरी' है।

हारिणाश्वा

अन्तरगान्धार-युक्त रजनी के 'नि, स, रे, ग, म, प, ध' को क्रमश 'ग, म, प, ध, नि, स, रे' की सज्ञा दे देने से 'हारिणाश्वा' की सिद्धि होती है ।

इस मूर्च्छना में सौवीरी की स्थिति की अपेक्षा पहला, तीसरा और पाँचवाँ पर्दा घुडच की ओर बढते है । पाँचवें का पश्चाद्वर्ती छठा पर्दा भी घुडच की ओर बढता है ।

यह गति पहले पर्दे से उछलकर तीसरे, और तीसरे से उछलकर पाँचवें पर जाती दिखाई देती है, बीच में दूसरे और चौथे पर्दे का स्पर्श तक इस गति मे नही होता । जिस प्रकार हिरन चौकडी भरते समय उछलता हुआ दौडता है और अगले-पिछले पैरो के मध्य स्थान का परित्याग-सा करता चलता है, वैसा ही प्रकार पहले, तीसरे और पाँचवें पर्दे की 'गति' में दृष्टिगोचर होता है । पाँचवें पर्दे के पश्चात् यह उल्लघन नही रहता और वह गति अगले पर्दे (छठे) पर भी दिखाई देकर 'अश्वगति' जैसी हो जाती है । फलत इस मूर्च्छना का नाम 'हारिणाश्वा' है ।

मध्य और तार स्थान के पर्दे भी इसी प्रकार यथास्थान सरकेंगे ।

कलोपनता

अन्तरगान्धार-युक्त 'उत्तरायता' के 'ध, नि, स, रे, ग, म, प' को 'रे, ग, म, प, ध, नि' की सज्ञा दे देने से 'कलोपनता' मूर्च्छना की सिद्धि होती है ।

सौवीरी की स्थिति की अपेक्षा इस मूर्च्छना में पहला, दूसरा और पाँचवाँ पर्दा मेरु की ओर सरकाने पडते हैं । घुडच की ओर केवल छठा पर्दा चतुश्रुति षड्ज की सिद्धि के लिए एक श्रुति सरकाना पडता है, अत इसका नाम 'कलोपनता' है । अन्य स्थानो के पर्दे भी यथास्थान सरकेंगे ।

शुद्ध मध्या

अन्तरगान्धार-युक्त 'शुद्धषड्जा' मूर्च्छना 'प, ध, नि, स, रे, ग, म' को क्रमश 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' की सज्ञा दे देने से 'शुद्धमध्या' की सिद्धि होती है ।

हारिणाश्वा और कलोपनता में मध्यम की सिद्धि के लिए सम्बद्ध पर्दों को सरकाना पडता है, परन्तु इस मूर्च्छना में 'मध्यम' तीसरे पर्दे की अविकृत अवस्था में ही मिल जाता है, फलत इसका नाम 'शुद्धमध्या' है ।

शुद्धमध्या में दूसरा और चौथा पर्दा सौवीरी की स्थिति की अपेक्षा मेरु की ओर सरकेंगे । अन्य सप्तको में भी अभीष्ट पर्दे यथास्थान सरकेंगे ।

मार्गी

अन्तरगान्धार-युक्त मत्सरीकृता मूर्च्छना के 'म, प, ध, नि, स, रे, ग' को क्रमश 'नि, स, रे, ग, म, प, ध' की सज्ञा दे देने से 'मार्गी' मूर्च्छना की सिद्धि होती है।

इस मूर्च्छना में 'सौवीरी' की स्थिति की अपेक्षा पहले पर्दे तथा छठे पर्दे को घुड्च की ओर क्रमश एक और दो श्रुति चढाना पडता है।

सौवीरी की स्थिति से इसकी स्थापना का 'मार्ग' सरलतापूर्वक मिल जाने के कारण अथवा सारणा में मृग-जैसी गति होने के कारण यह मूर्च्छना 'मार्गी' कहलाती है।

पौरवी

अन्तरगान्धार-युक्त 'अश्वक्रान्ता' मूर्च्छना के 'ग, म, प, ध, नि, स, रे' को क्रमश 'ध, नि, स, रे, ग, म, प' की सज्ञा दे देने से पौरवी की सिद्धि होती है।

किसी पौरव व्यक्ति अथवा 'जन' से किसी प्रकार सम्बद्ध होने के कारण इसकी सज्ञा 'पौरवी' है।

हृष्यका

अन्तरगान्धार-युक्त 'अभिरुद्गता' के 'रे, ग, म, प, ध, नि, स' को क्रमश 'प, ध, नि, स, रे, ग, म' की सज्ञा दे देने से 'हृष्यका' की सिद्धि होती है। यह मूर्च्छना 'पञ्चम' से आरम्भ होकर 'पञ्चम' पर ही समाप्त होती है, जिसकी प्रधानता 'हास्य' एव शृगार में विनियोज्य है। 'नन्दयन्ती' (प्रसन्न करती हुई) नामक जाति में मतङ्ग ने इसी मूर्च्छना का प्रयोग किया है, इस प्रकार हर्षविधायिका होने के कारण सम्भवत इसका नाम 'हृष्यका' है।

तृतीय अध्याय

जाति-लक्षण

रञ्जन और अदृष्ट अभ्युदय को जन्म देते हुए विशिष्ट स्वर ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर 'जाति' कहे जाते है। दस लक्षणो से युक्त विशिष्ट स्वर-सन्निवेश 'जाति' कहलाता है।[1]

जातियाँ श्रुति, ग्रह, स्वर इत्यादि के समूह से जन्म लेती है, इसलिए 'जातियाँ' कहलाती है, जातियो से 'रस' की प्रतीति उत्पन्न या आरम्भ होती है। अथवा 'राग' इत्यादि के जन्म का कारण होने से विशिष्ट-स्वरसन्निवेश 'जाति' की सज्ञा ले लेता है अथवा ये जातियाँ मनुष्यो की 'ब्राह्मणत्व' इत्यादि जातियो के समान है।[2]

जातियो के भेद

षाड्जी, आर्षभी, धैवती, नैषादी, षड्जोदीच्यवती, षड्जकैशिकी और षड्जमध्या षड्जग्रामाश्रित सात जातियाँ है। गान्धारी, मध्यमा, गान्धारोदीच्यवा, पञ्चमी, रक्त-गान्धारी, गान्धारपञ्चमी, मध्यमोदीच्यवा, नन्दयन्ती, कार्मारवी, आन्ध्री तथा कैशिकी मध्यम-ग्रामाश्रित ग्यारह जातियाँ है। इस प्रकार जातियो की सख्या अठारह है।[3]

१—तत्र केय जातिर्नाम ? उच्यते—स्वरा एव विशिष्टसन्निवेशभाजो रक्तिमदृष्टाभ्युदय च जनयन्तो जातिरित्युक्ता। कोऽसौ सन्निवेश इति चेत्, जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेश। —आचार्य अभिनवगुप्त, भ० को०, पृ० २२७

२—श्रुतिग्रहस्वरादिसमूहाज्जायन्त इति जातय। अतो जातय इत्युच्यन्ते। यस्माज्जायते रसप्रतीतिरारम्यत इति जातय। अथवा सकलस्य रागादे जन्महेतुत्वाज्जातय इति। यद्वा जातय इव जातय, यथा नराणा ब्राह्मणत्वादयो जातय। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० २२७

३—षाड्जी चैवार्षभी चैव धैवती सनिषादिनी।
षड्जोदीच्यवती चैव तथा वै षड्जकैशिकी॥

इन अठारह में सात जातियों के नाम सात स्वरों पर हैं। वे दो प्रकार की हैं, शुद्ध और विकृत। षड्जग्राम में षाड्जी, आर्षभी, धैवती और निषादवती (नैषादी) शुद्ध हैं। शुद्ध जातियाँ वे हैं, जिनमें कोई स्वर कम नहीं होता और नामस्वर ही जिनमें अंश, ग्रह और न्यास होता है। न्यासस्वर के अतिरिक्त एक, दो या अनेक लक्षणों में विकार होने पर ये जातियाँ विकृत कहलाने लगती हैं। फलतः जो शुद्ध है, वही विकृत भी हो जाती है।[4]

शुद्ध जातियों में मन्द्रस्वर नियमपूर्वक न्यास होता है, परन्तु विकृत जातियों में यह नियम शिथिल भी हो जाता है। अठारह जातियों में ग्यारह जातियाँ दो या कई जातियों के संसर्ग के कारण विकृत हो जाती हैं। परस्पर संयोग से इन जातियों का निर्माण होता है।[5]

षाड्जी और मध्यमा के संयोग से 'षड्जमध्यमा', गान्धारी और षाड्जी के योग से षड्जकैशिकी; षाड्जी, गान्धारी और धैवती के योग से षड्जोदीच्यवा, षाड्जी, गान्धारी, मध्यमा और धैवती के योग से गान्धारोदीच्यवती; गान्धारी, पञ्चमी, मध्यमा और धैवती से मध्यमोदीच्यवती; गान्धारी, पञ्चमी और सप्तमी (नैषादी) के योग से रक्तगान्धारी; गान्धारी और आर्षभी से आन्ध्री, आर्षभी, पञ्चमी और

षड्जमध्या तथा चैव षड्जग्रामसमाश्रया।
गान्धारी मध्यमा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा॥
पञ्चमी रक्तगान्धारी तथा गान्धारपञ्चमी।
मध्यमोदीच्यवा चैव नन्दयन्ती तथैव च।
कर्मारवी च विज्ञेया तथान्ध्री कैशिकी तथा॥

—भरत०, व० सं०, पृ० ४३९

४—एतासामष्टादशानां सप्त स्वराख्याः। ताश्च द्विविधाः शुद्धा विकृताश्च। तत्र शुद्धाः षड्जग्रामे षाड्जी आर्षभी धैवती निषादवती च। गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी चेति मध्यमग्रामे। शुद्धा अन्यूनस्वराः स्वरांशग्रहन्यासाः। एषामन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वापि लक्षणैर्विक्रियामुपगता न्यासवर्जं विकृतसंज्ञा भवन्ति। तेन ता एव शुद्धास्ता एव च विकृताः। —भरत, व० सं०, पृ० ४३९

५—न्यासविधावप्यासां मन्द्रो नियमाद् भवति शुद्धासु विकृतास्वनियमात्। तत्रैकादश संसर्गजा विकृताः। परस्परं संयोगादेकादश निर्वर्तयन्ति। यथा—

शुद्धा विकृताश्चैव हि समवायाज्जानयन्तु जायन्ते।
ता एव शुद्धविकृता भवन्ति चैकादशान्यासु॥

गान्धारी से नन्दयन्ती, नैषादी, आर्षभी और पञ्चमी के ससर्ग से कार्मारवी, गान्धारी और पञ्चमी के मिश्रण से गान्धारपञ्चमी, तथा षाड्जी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी एव नैषादी के मिश्रण से कैशिकी जाति का निर्माण होता है।[६]

इन जातियो में से चार जातियाँ सदा सप्तस्वरा, दस पञ्चस्वरा और चार षट्स्वरा होती हैं।[७]

मध्यमोदीच्यवा, षड्जकैशिकी, कार्मारवी तथा गान्धारपञ्चमी सदा सप्तस्वरा होती हैं, षाड्जी, आन्ध्री, गान्धारोदीच्यवा और नन्दयन्ती षट्स्वरा और अवशिष्ट दस जातियाँ पञ्चस्वरा भी होती हैं। जिन्हे पञ्चस्वरा कहा गया है, वे कभी षट्स्वरा और जिन्हें षट्स्वरा कहा गया है, वे कभी पञ्चस्वरा भी होती हैं।[८]

६—स्यात् षड्जमध्यमाया निर्वृत्ता षड्जमध्यमा जाति ।
गान्धारीषाड्जीभ्या सयोगात् षड्जकैशिकी वापि ॥
षाड्जीगान्धारीभ्या धैवत्याश्चापि या विनिष्पन्ना ।
ससर्गाद् विज्ञेया सा षड्जोदीच्यवा जाति ॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४४१
षाड्जीगान्धारीभ्या धैवत्याश्चापि मध्यमायाश्च ।
गान्धारोदीच्यवा स्यान्निर्वृत्ता नामतो जाति ॥ —भरत०, का० स०, पृ० ३२३
गान्धारपञ्चमाभ्या मध्यमया विरचिता च धैवत्या ।
जातिस्तु मध्यमोदीच्यवेति सद्भि सदा ज्ञेया ॥
गान्धारीपचम्यो सप्तम्याश्चैव रक्तगान्धारी ।
गान्धार्य्यार्षभीभ्यामान्ध्री सञ्जायते जाति ॥
योनिस्तु नन्दयन्त्यास्त्वार्षभी पञ्चमी सगान्धारी ।
काम्र्मारवी निषादी सार्षभी पञ्चमी कुर्य्यु ॥
गान्धारीपञ्चम्योर्योगाद् गान्धारपञ्चमी जाति ।
धैवत्यार्षभीभ्या हीना खलु कैशिकी कुर्य्यु ॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४४१

७—आभ्या चतस्रो नियमाज्ज्ञेया सप्तस्वरा बुधै ।
दश पञ्चस्वरा ज्ञेयाश्चतस्रश्चैव षट्स्वरा ॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४४१

८—मध्यमोदीच्यवा चैव तथा वै षड्जकैशिकी ।
काम्र्मारवी च सम्पूर्णा तथा गान्धारपञ्चमी ॥
षड्जान्ध्री नन्दयन्ती च गान्धारोदीच्यवा तथा ।
चतस्र षट्स्वरा ज्ञेया पञ्चवस्तुस्वरा दश ॥
यास्ता पञ्चस्वरा प्रोक्ता याश्चैव षट्स्वरा स्मृता ।
कदाचिदौडुवीभूता कदाचित् षाडवीकृता ॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४४१

भरत-सम्प्रदाय में यह नियम है कि 'अंश' स्वर के संवादी स्वर का लोप कभी नहीं होता, फलत कुछ जातियों में स्वरविशेष का अंशत्व उनकी षाडव या औडुव अवस्था का बाधक हो जाता है। षाडव या औडुव अवस्था के बाधक अंशस्वर षाडवद्वेषी या औडुवद्वेषी कहलाते हैं।

षड्जमध्यमा जाति का षाडव प्रकार निषाद के लोप से बनता है। यदि निषाद ही उस जाति में अंशस्वर हो, तो उसकी षाडवावस्था असम्भव है। इस जाति की औडुवावस्था 'निषाद-गान्धार' के लोप से होती है। निषादांश अवस्था में षाडव बनाने के लिए निषाद के संवादी गान्धार का लोप असम्भव है।[९]

मध्यमग्रामीय गान्धारी, रक्तगान्धारी और कैशिकी जातियों का षाडव रूप ऋषभ के लोप से होता है। मध्यमग्राम में ऋषभ-पञ्चम संवाद है, फलत इन तीन जातियों की षाडवावस्था में पंचम अंशस्वर कभी नहीं होता, पञ्चम के 'अंश' होने पर ऋषभ का लोप असम्भव है।[१०]

षाड्जी में 'निषाद' का लोप इस जाति को षाडव बनाता है, फलत इस जाति में गान्धार के अंशस्वर होने पर उसके संवादी निषाद का लोप असम्भव है।[११]

षड्जोदीच्यवती में ऋषभ का लोप उसे षाडव बनाता है, फलत धैवत के अंश-स्वर होने पर ऋषभ का लोप असम्भव है।[१२]

अत षड्जमध्यमा में निषाद, गान्धारी, रक्तगान्धारी और कैशिकी में पञ्चम (तीन जातियों में), षाड्जी में गान्धार और षड्जोदीच्यवती में धैवत अंश होने पर षाडवद्वेषी हो जाते हैं।[१३]

गान्धारी में षड्ज-मध्यम-पञ्चम-निषाद, रक्त-गान्धारी में षड्ज-मध्यम-

---

९—षट्स्वरी सप्तमे त्वंशे नेष्यते षड्जमध्यमा।
सवादिलोपाद् गान्धारस्तथैव न भविष्यति ॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४४१

१०—गान्धारी-रक्तगान्धारी-कैशिकीनां तु पञ्चमम्।
—भरत, ब० स०, पृ० ४४१

११—षाड्जायाञ्चैव गान्धारमनंशं विद्धि षाडवे।
—भरत०, ब० स०, पृ० ४४१

१२—षड्जोदीच्यवत्यांश्चैव धैवतांशे न षाडवम्।
—भरत०, ब० स०, पृ० ४४२

१३—सवादिलोपात्सप्तैते षाट्स्वर्य्ये तु विवर्जिता। —भरत०, का० स०, पृ० ३२४
षाट्स्वर्य-वर्जित इन स्वरों की सख्या छ होती है, मध्यम सदा षाडवद्वेषी होता है, सम्भवत महर्षि ने उसे जोडकर समस्त षाडवद्वेषी स्वर सात माने हैं।

पञ्चम-निषाद, षड्जमध्यमा में गान्धार-निषाद, पञ्चमी में ऋषभ और कैशिकी में धैवत स्वर औडुवावस्था में लुप्त नही होते ।[१४]

जातियो में सभी स्वरो का लोप विहित है, परन्तु मध्यम का लोप कभी नही करना चाहिए । सातो स्वरो में मध्यम अविनाशी स्वर है । साम गान करनेवालो ने भी गान्धर्व कल्प में मध्यम का विधान अनाशी रूप में किया है ।[१५]

जाति के दस लक्षण

जाति के दस लक्षण अश, ग्रह, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडुवित हैं ।[१६]

(१) अशस्वर

जिस स्वर में राग रहता है, जिस स्वर से **प्रवर्तित होता है**, जो **तार** और **मन्द्र** अवधि का **नेता**, नियामक या प्रदर्शक है, जिसका प्रयोग **अधिक** पाया जाता है, **ग्रह**, **अपन्यास**, **विन्यास**, **सन्यास** एव **न्यास** आदि के योग से जिसका पुन -पुन अनुवर्तन होता है, वह इन दस (**स्थूलाक्षरों में निर्दिष्ट**) लक्षणो से युक्त स्वर 'अश' कहलाता है ।[१७]

१४—गान्वारीरक्तगान्धार्यो षड्जमध्यमपञ्चमा ।
सप्तमश्चैव विज्ञेय येषु* चौ(नौ)डुवित भवेत् ॥
द्वौ षड्जमध्यमाशौ तु गान्धारोऽथ निषादवान् ।
ऋषभश्चैव पञ्चम्या कैशिक्याञ्चैव धैवत ॥
एव हि द्वादशैते स्यु वर्ज्या पञ्चस्वरे सदा ।
तास्वनौडुविता नित्य कर्तव्या जातयो बुधै ॥
—भरत०, व० स०, पृ० ४४२

१५—सर्वस्वराणा नाशस्तु विहितस्त्वथ जातिषु ।
न मध्यमस्य नाशस्तु कर्तव्यो हि कदाचन ॥
सप्तस्वराणा प्रवरो ह्यनाशी चव मध्यम ।
गान्धर्वकल्पेऽभिमत सामगैश्च महर्षिभि ॥
—भरत०, का०, स०, पृ० ३२४

१६—ग्रहाशौ तारमन्द्रौ च न्यासापन्यास एव च ।
अल्पत्वञ्च बहुत्वञ्च षाडवौडुविते तथा ॥
—भरत०, ब० स०, पृ० ४४३

१७—रागश्च यस्मिन् वसति यस्माच्चव प्रवर्तते ।
नेता च तारमन्द्राणा योऽत्यर्थमुपलभ्यते ।

* (सप्तमी चैव विज्ञेया यासु ?)

षाड्जी में षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, आर्षभी में ऋषभ, निषाद, धैवत; गान्धारी में षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद, मध्यमा में षड्ज, ऋषभ, मध्यम, पञ्चम, धैवत, पञ्चमी में ऋषभ, पञ्चम, धैवती में ऋषभ, धैवत, नैषादी में निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्जकैशिकी में षड्ज, गान्धार, पञ्चम, षड्जोदीच्यवती में षड्ज, मध्यम, धैवत, निषाद, षड्जमध्यमा में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, गान्धारोदीच्यवा में षड्ज, मध्यम, रक्तगान्धारी में षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, निषाद; कैशिकी में षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, मध्यमोदीच्यवा में पञ्चम, कार्मारवी में ऋषभ, पञ्चम, धैवत, निषाद; गान्धारपञ्चमी में पञ्चम, आन्ध्री में ऋषभ, गान्धार, पञ्चम, निषाद और नन्दयन्ती में पञ्चम स्वर को अंशावस्थाएँ प्राप्त होती हैं।[१८]

ग्रहापन्यास-विन्यास—सन्यास—न्यासयोगत ।
अनुवृत्तश्च यश्चेह सोऽश स्याद् दशलक्षण: ॥
—भरत०, रत्नाकर की टीका में कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

१८—मध्यमोदीच्यवायास्तु नन्दयन्त्यास्तथैव च ।
तथा गान्धारपञ्चम्या पञ्चमोऽशो ग्रहस्तथा ।
धैवत्याश्च तथैवाशौ विज्ञेयौ धैवतर्षभौ ।
पञ्चम्यास्तु ग्रहावशौ भवत पञ्चमर्षभौ ।
गान्धारोदीच्यवायास्तु ग्रहाशौ षड्जमध्यमौ ।
आर्षभ्या तु निषादस्तु तथा चर्षभधैवतौ ।
निषाद्या च निषादस्तु गन्धारश्चर्षभस्तथा ।
तथा च षड्जकैशिक्या षड्जगान्धारपञ्चमा ।
तिसृणामपि जातीना ग्रहास्त्वशास्तु कीर्तिता ।
षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा ।
षड्जोदीच्यवतीजातेर्ग्रहास्त्वशाश्च कीर्तिता ।
पञ्चमश्चर्षभश्चैव निषादो धैवतस्तथा ।
कार्मारव्या बुधैरशा ग्रहाश्च परिकीर्तिता ।
गान्धारश्चर्षभश्चैव पञ्चमोऽथ निषादवान् ।
चत्वारोऽशा भवन्त्यान्ध्या ग्रहाश्चैते तथैव हि ।
ऋषभश्चैव षड्जश्च मध्यम पञ्चमस्तथा ।
मध्यमाया ग्रहा ज्ञेया अशाश्चैव तथैव ता. ।
निषादषड्जगान्धारा मध्यम पञ्चमस्तथा ।

इस प्रकार कुल अशस्वर तिरसठ[19] हो जाते हैं, जो निम्नस्थ सारणी में स्पष्ट हैं–

जाति	अंशस्वर	सख्या
१. षाड्जी	स, ग, म, प, ध	५
२. आर्षभी	रे, नि, ध	३
३ गान्धारी	स, ग, म, प, नि	५
४ मध्यमा	स, रे, म, प, ध	५
५ पञ्चमी	रे, प	२
६ धैवती	रे, ध	२
७ नैषादी	नि, रे, ग	३
८ षड्जकैशिकी	स, ग, प	३
९ षड्जोदीच्यवती	स, म, ध, नि	४
१० षड्जमध्यमा	स, रे, ग, म, प, ध, नि	७
११ गान्धारोदीच्यवा	स, म	२
१२ रक्तगान्धारी	स, ग, म, प, नि	५
१३ कैशिकी	स, ग, म, प, ध, नि	६
१४ मध्यमोदीच्यवा	प	१
१५ कार्मारवी	रे, प, ध, नि	४
१६ गान्धारपञ्चमी	प	१
१७ आन्ध्री	रे, ग, प, नि	४
१८ नन्दयन्ती	प	१
	योग	६३

गान्धारीरक्तगान्धार्योर्ग्रहाशा परिकीर्तिता ।
षड्जाया षड्जगान्धारौ मध्यम पञ्चमस्तथा ।
धैवतस्यापि विज्ञेया ग्रहाश्चाशा प्रकीर्तिता ।
कैशिक्याश्च ऋषभहीना ग्रहाशा षट्स्वरा स्मृता ।
सर्वस्वरग्रहाशाश्च विज्ञेया षड्जमध्यमा ।
एवं त्रिषष्टिर्विज्ञेया ग्रहाश्चाशाश्च जातिषु । भरत०, व० स०, पृ० ४४४-४४५

१९–द्वैग्रामिकीणा जातीना सर्वासामपि नित्यश ।
त्रिषष्टिरशा विज्ञेयास्तासाञ्चैव तथा ग्रहा ॥
—भरत०, व० स०, पृ० ४४४

(२) ग्रहस्वर

अंशस्वर ही समस्त जातियों के 'ग्रह' स्वर होते हैं।[20] प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग या गान-वादन में जो स्वर अंश होता है, वही 'ग्रह' माना जाता है।[21] जातियों के गान-वादन का आरम्भ अंशस्वर से ही होता है, उस अवस्था में 'अंश' स्वर ही 'ग्रह' कहलाता है। गान-वादन का 'ग्रहण' (आरम्भ) अंशस्वर से होने के कारण ही उसे 'ग्रह' कहते हैं।

(३) तारगति

जाति-प्रयोगों में अंशस्वर से चौथे, पाँचवें या सातवें स्वर तक तारस्थान में जाना चाहिए, इससे ऊँचा जाना जाति-प्रयोग में अभीष्ट नहीं।[22] जाति-विशेष में अंश-विशेष से मूर्च्छना का आरम्भ होने के कारण मूर्च्छना के तार-स्थान में अंशस्वर से सातवें स्वर की ही सत्ता सम्भव है, क्योंकि इससे आगे अति तार स्वर आयेगा, जिसका प्रयोग भरत-सम्प्रदाय में नहीं।

(४) मन्द्रगति

मन्द्रगति तीन प्रकार की है, 'अंश' तक, 'न्यास' तक या 'अपन्यास' तक[23]। अवरोहोन्मुख अवस्था में अंशस्वर से पश्चात् मन्द्र नहीं होता, क्योंकि तीनों स्थानों में आरम्भ-स्वर 'अंश' ही होता है। मन्द्रगति की अवधि 'न्यास' और 'अपन्यास', ये दो

२०—ग्रहास्तु सर्वजातीनामंशवत् परिकीर्तिताः।
य प्रवृत्तौ भवेदंश सोऽंशो ग्रहविकल्पितः॥
—भरत०, व० सं०, पृ० ४४२

२१—ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव हि कीर्तितः।
यत्प्रवृत्तो भवेद् गानं सोऽंशो ग्रहविकल्पितः॥
—भरत०, का० सं०, पृ० ३२४

२२—अंशात्तारगतिं विद्यादाचतुर्थस्वरादिह।
आ पञ्चमात्सप्तमाद् वा नातः परमिहेष्यते।
—भरत०, रत्नाकर की कल्लिनाथ टीका में उद्धृत (अड्यार-संस्करण)
अंशात्तारगतिं विद्यादाचतुर्थस्वरादिह।
आ पञ्चमात्सप्तमाद् वा नातः परमिहेष्यते।
—भरत०, रत्नाकर की कल्लिनाथ टीका (आनन्दाश्रम संस्क०)

२३—त्रिविधा मन्द्रगतिः—अंशपरा, न्यासपरा, अपन्यासपरा च।
—भरत०, व० सं०, पृ० ४४३

स्वर भी, विहित हैं। हाँ, गान्धार के न्यास स्वर होने पर अवरोहात्मक गति में उसके पश्चाद्वर्ती ऋषभ का प्रयोग भी देखा जाता है। उदाहरणतया 'नन्दयन्ती' जाति में गान्धार न्यास स्वर है, परन्तु उसमें मन्द्रगान्धार से, अवरोहात्मक रूप में पश्चाद्वर्ती ऋषभ का प्रयोग भी देखा जाता है।[२४]

(५) न्यास-स्वर

जिस स्वर पर 'अङ्ग' (गीत या वाद्य-प्रबन्ध) की समाप्ति होती हो, वह 'न्यास' कहलाता है। 'न्यास' स्वर इक्कीस हैं।[२५]

एक स्वर कई जातियो में न्यासस्वर हो सकता है और अवस्था-भेद से एक जाति में कई 'न्यास' स्वर भी हो सकते है। फलत न्यासस्वरो की सख्या इक्कीस हो जाती है।

निम्नस्थ सारणी में यह स्थिति स्पष्ट है—

न्यासस्वर	जाति	सख्या
षड्ज	षाड्जी, षड्जमध्यमा	२
ऋषभ	आर्षभी	१
गान्धार	गान्धारी, रक्तगान्धारी, षड्जकैशिकी, आन्ध्री, कैशिकी, नन्दयन्ती	६
मध्यम	मध्यमा, षड्जमध्यमा, षड्जोदीच्यवा, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमोदीच्यवा	५
पञ्चम	पञ्चमी, गान्धारपञ्चमी, कैशिकी, कार्मारवी	४
धवत	धैवती	१
निषाद	कैशिकी, नैषादी	२
	योग	२१

२४—मन्द्रस्त्वशपरो नास्ति न्यासे तु द्वौ व्यवस्थितौ।
गान्धारन्यासलिङ्गेन दृष्टमृषभसेवनम्॥
—भरत०, रत्नाकर टीका में कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

२५—'एकविंशतिविधो न्यासो ह्यङ्गसमाप्तौ
न्यासो ह्यङ्गसमाप्तौ स चैकविंशतिविधो विधातव्य।
—भरत०, ब० स०, पृ० ४४३

(६) अपन्यास स्वर

जिस स्वर पर 'अङ्ग' (गीत या वाद्य-प्रबन्ध) के मध्य की समाप्ति होती हो, वह 'अपन्यास' कहलाता है।[२६] एक जाति के अपन्यास स्वर कई हो सकते हैं तथा एक स्वर कई जातियों में अपन्यास स्वर हो सकता है। फलत अपन्यास स्वर के छप्पन प्रकार हो जाते हैं।[२७] कभी-कभी ऋषभ को भी 'कैशिकी' जाति का अपन्यास स्वर माना जाता है, उस दशा में अपन्यास स्वरों की सख्या सत्तावन हो जायगी।[२८]

निम्नलिखित सारणी में अपन्यास स्वर के समस्त प्रकार स्पष्ट हैं—

अपन्यास स्वर	जातियाँ	सख्या
षड्ज	षड्जकैशिकी, षड्जोदीच्यवा, षड्जमध्यमा, गान्धारी, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमा, मध्यमोदीच्यवा, कैशिकी	८
ऋषभ	षड्जमध्यमा, आर्षभी, गान्धारपञ्चमी, पञ्चमी, धैवती, नैषादी, कार्मारवी, मध्यमा, आन्ध्री	९
गान्धार	षाड्जी, षड्जमध्यमा, कैशिकी, आन्ध्री, नैषादी	५
मध्यम	गान्धारी, मध्यमा, षड्जमध्यमा, धैवती, नैषादी, कैशिकी	६
पञ्चम	षाड्जी, गान्धारी, मध्यमा, षड्जमध्यमा, गान्धारपञ्चमी, पञ्चमी, कैशिकी, आन्ध्री, नन्दयन्ती, कार्मारवी, षड्ज-कैशिकी	११
धैवत	षड्जोदीच्यवा, आर्षभी, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमोदी-च्यवा, षड्जमध्यमा, मध्यमा, धैवती, कैशिकी, कार्मारवी	९
निषाद	षड्जकैशिकी, आर्षभी, षड्जमध्यमा, पञ्चमी, नैषादी, कैशिकी, आन्ध्री, कार्मारवी	८
		योग ५६

२६—तद्वदपन्यासोऽप्यङ्गमध्ये

—भरत०, च० स०, पृ० ४४३

२७—'षट्पञ्चाशत्सङ्ख्योऽङ्गमध्येऽपन्यास एव स्यात्।

—भरत०, च० स०, पृ० ४४३

२८—'अपन्यास कदाचिच्च ऋषभोऽपि भवेदिह।

—भरत०, च० स०, पृ० ४५२

(७) अल्पत्व

स्वरो का अल्पत्व दो प्रकार से होता है, 'लङ्घन' से या 'अनभ्यास' से ।[२९] स्वर का ईषत् स्पर्श भी 'लङ्घन' है और उसका परित्याग भी ।[३०] स्वर-विशेष की अनावृत्ति (एक से अधिक वार न लगाना) 'अनभ्यास' कहलाती है । जिन स्वरो के लोप से जाति-विशेष के षाडव या औडुव प्रकार बनते हो, वे उस जाति में 'लोप्य' स्वर कहलाते है । उस जाति की सम्पूर्णावस्था में भी लोप्य स्वरो का प्रयोग अल्प होता है । जिस जाति में जो स्वर 'अश' नही होते, वे उस जाति के 'अनश' स्वर कहलाते है । लोप्य स्वरो का ईषत्स्पर्श भी होता है और अनभ्यास, अनश या लोप्य स्वरो का ।[३१]

(८) बहुत्व

स्वर-विशेष का पूर्ण रूप से स्पर्श करते हुए उसकी पुन पुन आवृत्ति बहुत्व का एक प्रकार है और स्वर-विशेष का अपरित्याग बहुत्व का दूसरा प्रकार है । अल्पत्व का उलटा होने के कारण ही वहुत्व भी दो प्रकार का है । वहुत्व में जातिविशेष के अन्य वली (अशो तथा उनके सवादी एव अनुवादी) स्वरो का भी सञ्चार (आरोहावरोह में पुन पुन प्रयोग) होता है ।[३२]

(९) षाडवित

'अन्तरमार्ग' को प्राप्त, गाये हुए अनश स्वरो मे लघन एव अनभ्यास से एक वार यथा-जाति उच्चारण षाडवित (और औडुवित) है ।[३३]

'षट्' का अर्थ छ और 'अव्' का अर्थ रक्षण है । जाति, राग इत्यादि के 'अव'

२९–द्विविधमल्पत्वम्—लङ्घनादनभ्यासाच्च ।

—भरत०, ब० स०, पृ० ४४३

३०–ईषत्स्पर्शो लङ्घन स्यात् ।

—स० रत्ना०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १९०

३१–ईषत्स्पर्शो लङ्घन स्यात्प्रायस्तल्लोप्यगोचरम् ।
अनभ्यासस्त्वनशेषु प्रायो लोप्येष्वपीष्यते ॥ " "

३२–तद्वद् वहुत्वमल्पत्वविपर्ययाद् द्विविधमेवान्येषा वलिना सञ्चार. ।

—भरत०, ब० स०, पृ० ४४३

३३–तत्र षाडवौडुवितत्वकरणम (मन ?) शाना गीतानामन्तरमार्गमुपगताना स्वराणा लङ्घनादनभ्यासाच्च सकृदुच्चारणं यथाजाति ।

—भरत०, ब० स०, पृ० ४४३

'रक्षक' 'षट्' स्वर 'षडव' (षट्+अव) कहलाते है। षडव स्वरो में व्यक्त होने के कारण ही षट्स्वर गीत षाडव कहलाते है।[३४]

चार नित्य सम्पूर्ण जातियो के अतिरिक्त चौदह जातियो का षाडवीकरण होता है। इन चौदह जातियो के समस्त अशस्वरो का योग चौवन है। सात षाडवद्वेषी स्वरो को इस सख्या में से घटा देने पर षाडवित प्रकार सैंतालीस रह जाते है। इसी लिए कहा गया है, षट्स्वर षाडवित चतुर्दशविध है, जिनके (उप) प्रकार सैंतालीस होते है।[३५]

(१०) औडुवित

उडु का अर्थ (नक्षत्र) और 'वा' का अर्थ 'गमन करना' है। 'उडु' जिसमें 'वान' करे, वह 'उडुव' कहलाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश में आकाश (उडुव) का स्थान पाँचवाँ है, अत पाँचवी सख्या 'औडुवी' कहलाती है। सात स्वरो में नियमानुसार दो स्वरो का लोप होने पर अवशिष्ट पाँच स्वर 'औडुव' कहलाते है। सम्पूर्ण अवस्था को औडुव अवस्था में परिणत करना ही औडुवित या औडुवीकरण है।[३६]

आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी, धैवती, नैषादी, षड्जोदीच्यवा, षड्जमध्यमा, रक्तगान्धारी और कैशिकी, इन दस जातियो में औडुवित प्रयोग होता है।

दस औडुवित जातियो के अशस्वरो का योग बयालीस है, इनमें से बारह औडुवद्वेषी स्वरो की सख्या घटा देने पर वे अशस्वर तीस बचते है, जो औडुवित प्रकारो की सख्या

३४—षडवन्ति प्रयोग ये स्वरास्ते षाडवा मता। षट्स्वर तेषु जातत्वाद् गीत षाडवमुच्यते॥
—रत्नाकर, स्वरा०, अ० स०, पृ० १९१

३५—षट्स्वर षाडवित चतुर्दशविध सप्तचत्वारिंशत्प्रकारम्। पूर्वोक्तविधान यथाजात्यशप्रकारैरिति॥
—भरत०, च० स०, पृ० ४४६

३६—वान्ति यान्त्युडवोऽत्रेति व्योमोक्तमुडुव बुधै।
पञ्चम तच्च भूतेषु पञ्चसख्या तदुद्भवा॥
औडवी सास्ति येषा च स्वरास्ते त्वौडुवा मता।
ते सञ्जाता यत्र गीते तदौडुवितमुच्यते।
तत्सम्बन्धादौडुव च पञ्चस्वरमिद विदु॥
—रत्नाकर, स्वरा०, पृ० १९२

भी 'तीस' कर देते हैं। इसी लिए कहा गया है कि प्रयोगज्ञो को औडुवित दशविध समझना चाहिए, जिसके प्रकार तीस हैं।[३७]

महर्षि भरत के दस जातिलक्षणो की व्याख्या उपर्युक्त है। अन्तरमार्ग, सन्यास और विन्यास को महर्षि ने पृथक् लक्षण न मानकर इनका अन्तर्भाव दस लक्षणो में किया है। शार्ङ्गदेव ने इन तीनो को पृथक् गिनकर 'जाति-लक्षण' तेरह वताये है।[३८]

(१) अन्तरमार्ग

न्यास, अपन्यास, विन्यास, ग्रह और अश के स्थान के अतिरिक्त, बीच-बीच में अश, ग्रह, अपन्यास, विन्यास एव सन्यास स्वरो के साथ अल्प स्वरो की विचित्रता उत्पन्न करनेवाली सङ्गति, जो कही अनभ्यास और कही लघन द्वारा हो, 'अन्तरमार्ग' कहलाती है, जो प्राय विकृत जातियो में होती है।[३९]

(२) सन्यास

गीत की प्रथम 'विदारी' को समाप्त करनेवाला अश का सवादी या अनुवादी स्वर सन्यास कहलाता है। 'विदारी' का अर्थ 'गीतखण्ड' है।[४०]

३७—पञ्चस्वरमौडुवित विज्ञेय दशविध प्रयोगज्ञै ।
त्रिशत्प्रकारविहित पूर्वोक्त लक्षण त्वस्य ॥

—भरत०, व० स०, पृ० ४४४

३८—यद्यपि भरतमतङ्गादिभि सन्यासविन्यासयोर्विदार्याश्रितत्वादपन्यासेऽन्तर्भावेणान्तरमार्गस्याप्यशाद्यवयवानामन्योन्यसघटनात्मकस्याशादिसम्बन्धाधीनसिद्धे पृथगुद्देशो नापेक्षित इति दशक जातिलक्षणमित्युक्तम्, तथापि सन्यासविन्यासयो पृथगवयवत्वेनान्तरमार्गस्य तु सत्स्वशादिष्ववयवेपु तेन विना प्रयोगासिद्धेस्तस्यावश्यकत्वाल् लक्षणेपु पृथगुददिश्य त्रयोदशेत्युक्त ग्रन्थकारेण ।

—आचार्य कल्लिनाथ, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १८१

३९—न्यासादिस्थानमुज्झित्वा मध्ये मध्येऽल्पतायुजाम् ।
स्वराणा या विचित्रत्वकारिण्यशादिसङ्गति ।
अनभ्यासै क्वचित् क्वापि लङ्घनैरेव केवलै ।
कृता सान्तरमार्ग स्यात् प्रायो विकृतजातिपु ॥

—आचार्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १९१

४०—अशाविवादी गीतस्याद्यविदारीसमाप्तिकृत् ।

—आचार्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १८९

(३) विन्यास

जो स्वर विदारी के खण्डरूप पदो अर्थात् शब्दो के अन्त में रहता है, वह 'विन्यास' कहलाता है।[41]

स्थायी स्वर

महर्षि भरत ने इस परिभाषा की चर्चा की है, परन्तु नाट्यशास्त्र के अट्ठाईसवें अध्याय में यह शब्द नही आया है। गान-क्रिया में 'इकतारे' या तानपूरे पर 'अंश' स्वर निरन्तर गूंजता रहता था। तन्त्रीवाद्यो में चिकारियां 'अंश' स्वर में मिलायी जाती थी।[42] निरन्तर गूंजते रहने के कारण ही 'अंश' स्वर 'स्थायी स्वर' कहलाता था। प्राचीन सम्प्रदाय का लोप हो जाने के कारण हम आज प्रत्येक 'स्थायी स्वर' को षड्ज कहने लगे हैं, फलत स्थायी स्वर से अगले स्वरो को हम आज 'ऋषभ' इत्यादि की संज्ञा दे डालते हैं।

'उपोहन' क्रिया में 'स्थायी' स्वर को ही आधार स्वर मानकर अग्रिम स्वरो की यथास्थान स्थापना की जाती थी।[43] 'ध्रुवा'[44] इत्यादि के गान में राग के प्रकाशन के लिए 'झण्टुम्'[45] इत्यादि वर्णो (अक्षरो) का स्थायिस्वराश्रित परिग्रह तथा 'लघु'

४१— अंशाविवाद्येव विन्यास स तु कथ्यते।
यो विदारीभागरूपपदप्रान्तेऽवतिष्ठते ॥
—आचार्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १८९

४२—गान्धाराद्यंशत्वमपि स्वस्थानस्थितानामेव। तेषा स्थायित्वकरणमपि वीणाया-मुपतन्त्रीणा स्वनादसाम्यापादनमिति रहस्यम्।
—आचार्य कल्लिनाथ, स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ०२०३

४३—उपोह्यन्ते समासव्यानत पदकालतालमभिहिता स्वरा यस्मिन् अङ्गे तत् तथो-क्तम्।
—आचार्य अभिनवगुप्त, ना० शा०, बडोदा, द्वि० संस्क०, चतुर्थ अ०, पृ० १८५

४४—गेय पदविशेष 'ध्रुवा' कहलाते हैं, जिनका विस्तृत परिचय यथास्थान दिया जायेगा।

४५—कुछ निरर्थक अक्षर या अक्षरसमूह ब्रह्मप्रोक्त शुष्काक्षर कहलाते हैं, बहिर्गीत या निर्गीत प्रयोग में इनका प्रयोग सार्थक शब्दो के स्थान पर होता है। उपोहन क्रिया में गेय छन्द की गति, यति, लघु आदि अक्षरो का अनुकरण करनेवाला निरर्थक छन्द भी इनसे बन जाता है।

इत्यादि काल के परिज्ञान के लिए ताल का परिग्रह 'उपोहन' कहलाता है[४६]। 'उपोहन' से गीत की प्रवृत्ति (आरम्भ) होती है और वह स्थायिस्वराश्रित होता है।[४७] फलत महर्षि भरत के अनुसार भी गीत का प्रवर्तक स्थायी स्वर 'अश स्वर' ही है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने स्थायी स्वर की परिभाषा करते हुए कहा है कि जिस पर राग का उपवेशन (अधिष्ठान) किया जाय, वह स्थायी स्वर कहलाता है।[४८] फलत स्थायी स्वर राग का 'स्थान' है,[४९] वही राग में प्रयोज्य सप्तक का आरम्भक स्वर होता है।[५०]

जातियो के लक्षण

जातियाँ ब्रह्महत्या के पातक से भी मुक्ति दिलानेवाली मानी गयी है, इसी लिए उनमें मनमाना परिवर्तन नही किया जा सकता। जिस प्रकार ऋक्, यजु और साम में परिवर्तन नही किया जा सकता, उसी प्रकार वेदसम्मित जातियो में परिवर्तन असम्भव

४६—उपोहन नाम—ध्रुवादिगानेषु रागप्रकाशनार्थ स्थायिस्वराश्रयणेन झण्टुमादिवर्णपरिग्रहो लघ्वादिकालपरिज्ञानाय तालपरिग्रहश्च ।
—आचार्य कल्लिनाथ, स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० ३१

४७—उपोह्यन्ते स्वरा यस्मात् तस्माद् गीत प्रवर्तते ।
तस्मादुपोहन ज्ञेय स्थायिस्वरसमाश्रयम् ॥
—नाट्यशास्त्र, का० स०, ३१ अ०, पृ० ३६०

४८—(अ) यत्रोपवेश्यते राग स्थायी स्वर स कथ्यते ।
—आचार्य शार्ङ्ग०, स० र०, अ० स०, प्रकीर्णका०, पृ० १७६
(आ) यत्र यस्मिंस्तत्तद्रागाशभूते षड्जादिष्वन्यतमे स्वरे राग उपवेश्यते स्थाप्यते स स्वरो रागस्थितिहेतुत्वात् स्थायीति कथ्यते ।
—आचार्य कल्लिनाथ, स० र०, अ० स०, प्रकी०, पृ० १७६

४९—स्थायिन रागस्थित स्थानमित्यर्थ ।
—आचार्य कल्लिनाथ, स० र०, अ० स०, वाद्या०, पृ० २९६

५०—अस्या स्थायिनमारभ्य गणयेत् सप्तकद्वयम् ।
—आचार्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, वाद्या०, पृ० २८३
अस्या किन्नर्य्या स्थायिनमशस्वरमारम्य सप्तकद्वय गणयेत् ।
—आचार्य कल्लिनाथ, स० र०, अ० स०, वाद्या०, पृ० २८३

एवं अवाञ्छनीय है।[51] पवित्रता-प्रिय हिन्दू जाति ने इसी लिए जातियो के रूप को अक्षुण्ण रखा है।

पहले कहा जा चुका है कि मतङ्ग ने जातियो की सीमा में सकोच करके बारह स्वरो को जातिरूप की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त मान लिया था, पर जातियों के अन्य लक्षणों में कोई परिवर्तन न तो उनके काल में हुआ था न शार्ङ्गदेव के काल में।

भरत की जाति-परम्परा अक्षुण्ण रही, केवल मन्द्रसीमा और तारसीमा में सकोच हुआ। उसका कारण ऐसे वाद्यो का निर्माण था, जिनमें चौदह सारें होने के कारण एक तार पर तीन सप्तकों का बजना सम्भव नही था। कुछ लोगो का विचार है कि मतङ्ग किन्नरी वीणा के आविष्कारक हैं,[52] यदि यह सत्य है, तो उन्हें बार-बार तारो को सरकाने के झझट से बचने के लिए जातियो की मन्द्रावधि एव तारावधि में सकोच करना पडा होगा। कहा जाता है कि तन्त्रीवाद्यो पर 'सारें' भी पहले पहल मतङ्ग ने ही रखी।

अस्तु, हम विभिन्न आचार्यो के द्वारा किये हुए जातिलक्षण देंगे, जिनसे यह सिद्ध हो जायगा कि उनमें भरत-परम्परा अक्षुण्ण है।

(१) षाड्जी

महर्षि भरत का कथन है—

"षाड्जी' के अंशस्वर निषाद और ऋषभ के अतिरिक्त पांच स्वर (स, ग, म, प, ध) होते हैं। वहाँ गान्धार और पञ्चम अपन्यास होते हैं। इसमें न्यासस्वर षड्ज होता

५१—अपि ब्रह्महण पापाज्जातय प्रपुनन्त्यमू।
 ऋचो यजूंषि सामानि क्रियन्ते नान्यथा यथा।
 तथा सामसमुद्भूता जातयो वेदसमिता॥
 —आचार्य शार्ङ्ग०, स० र०, अ० न०, स्वरा०, पृ० २७२

५२—मतङ्गप्रभृतिभि किन्नरीनामवीणावादनमेव सम्प्रदाये प्रावर्तत (वर्तत ?)।
 —प्रो० रामकृष्ण कवि, भ० को०, पृ० ५१९

आचार्य शार्ङ्गदेव ने देशी किन्नरी को प्राचीन किन्नरी से भिन्न बताकर दोनो के तीन-तीन पृथक् भेद किये हैं। महाराणा कुम्भ ने 'मतङ्गकिन्नरी' के नाम से एक किन्नरी विशेष का लक्षण दिया है, जिसमें चौदह या अठारह सारें बनायी हैं। सभवत मतङ्ग ने किन्नरी में कोई संशोधन किया, 'मतङ्गकिन्नरी' शब्द इसी का द्योतक है। खेद पर मतङ्ग का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं।

है और सप्तम अर्थात् निषाद लोप्य होता है। निषाद के लोप से षाड्जी का षाडव रूप बनता है एव ऋषभ तथा निषाद का प्रयोग अल्प होता है (क्योकि ये दोनो स्वर इस जाति में अनश हैं)। षड्ज-गान्धार तथा धैवत-षड्ज की सङ्गति होती है। प्रयोक्ताओ को इस जाति में गान्धार का बाहुल्य करना चाहिए।"[५३]

मतङ्ग का कथन है—

"षड्ज ग्राम से सम्बद्ध षाड्जी जाति के पाँच अश और ग्रह होते हैं। तो जैसे—षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत ग्रह और अश है। गान्धार और पञ्चम अपन्यास हैं। निषादहीन होने पर यह षाडव होती है। न्यास स्वर षड्ज है। षड्ज-गान्धार और षड्ज-धैवत की सङ्गति है। तारगति पञ्चस्वरपर है, मन्द्रगति षड्ज तक है। षड्ज और धैवत के लोप से औडुवित कभी नही बनता। जब सम्पूर्ण गायी जाती है तब ऋषभ-पञ्चम और निषाद-पञ्चम का अल्पत्व करना चाहिए। अन्य स्वरो का बाहुल्य है। इसकी मूर्च्छना धैवतादि है, ताल 'पञ्चपाणि' है। चित्र मार्ग में मागधी गीति और द्विकल '(एककल ?) पञ्चपाणि ताल, वार्तिक मार्ग में (द्विकल पञ्चपाणि ताल) सम्भाविता गीति, दक्षिण मार्ग में चतुष्कल पञ्चपाणि ताल और पृथुला गीति है। वीर, रौद्र एव अद्भुत रस हैं, (नाटक के) प्रथम प्रेक्षण के ध्रुवागान में इस जाति का विनियोग है।"[५४]

५३—अशा स्यु पञ्च षाड्जाया निषादर्षभवर्जिता ।
　अपन्यासो भवत्यत्र गान्धार पञ्चमस्तथा ॥
　न्यासश्चात्र भवेत् षड्जो लोप्य सप्तम एव तु ।
　षाडव सप्तमोपेतमल्पौ वै धैवतर्षभौ ॥
　षड्जगान्धारसञ्चारस्तथा धैवतषड्जयो ।
　गान्धारस्य च बाहुल्य त्वत्र कार्य प्रयोक्तृभि ॥

—भरत०, व० स०, पृ० ४४७

५४—षड्जग्रामसबद्धाया अशा ग्रहा पञ्च भवन्ति। तद्यथा—षड्जगान्धारमध्यमपञ्चमधैवता गहा अशाश्च। गान्धारपञ्चमावपन्यासौ। निषादहीना षाडवी। षड्जो न्यास। षड्जगान्धारयो षड्जधैवतयोश्च सङ्गति। पञ्चस्वरपरा तारगति। षड्जस्वरपरा मन्द्रगति। षड्जधैवतयोश्चौडुवितत्व सर्वथैव नास्ति। सम्पूर्णा षाडवा। यदा सम्पूर्णा गीयते तदा ऋषभपञ्चमयो निषादपञ्चमयोश्चाल्पत्व कार्यम्। यदा षाडवा गीयते तदा ऋषभस्याल्पत्व कार्यम्। शेषाणा स्वराणा बहुत्वम्। अस्य धैवतादिमूर्च्छना। (ताल) पञ्चपाणि। चित्रे

जाति के रूप के सम्बन्ध में मतङ्ग ने जो कुछ कहा है, वह महर्षि के अनुसार अथवा उनके वचनो का पूरक मात्र है।

गीति, मार्ग और ताल इत्यादि का विनियोग भी महर्षि के अनुसार है, इन विषयो पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

वीर, रौद्र एव अद्भुत रसो में इसका विनियोग बतलाता है कि मतङ्ग षाड्जी की षड्जाश अवस्था का लक्षण प्रधानतया कर रहे हैं।

महर्षि भरत के अनुसार यदि मन्द्र और तारावधि की पराकाष्ठाओ का प्रयोग करना हो, तो मतङ्ग की अठारह सारोवाली किन्नरी में मूर्च्छना का आरम्भ अभीष्ट अशस्वर से करना होगा और इस प्रकार अशस्वर के परिवर्तन के परिणामस्वरूप मूर्च्छना में परिवर्तन करना होगा। अठारह सारोवाली किन्नरी में सातवाँ पर्दा मध्य स्थान का आरम्भक और चौदहवाँ पर्दा तार स्थान का आरम्भक है। अठारहवें पर्दे पर तारसप्तक पाँचवाँ स्वर प्राप्त होता है, तथा इसी पर्दे पर तार को मीडकर छठा एव सातवाँ स्वर भी प्राप्त किया जा सकता है।

इसी लिए मतङ्ग ने मध्यसप्तक (सातवें पर्दे) से मूर्च्छनाओ के निर्देश की बात कही है, जिसके परिणामस्वरूप किन्नरी पर तीनो सम्पूर्ण स्थान प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि मुक्त तार से छठे पर्दे तक मन्द्रस्थान की प्राप्ति हो जाती है।

मतङ्ग ने 'षाड्जी' में 'धैवतादि' मूर्च्छना का निर्देश किया है, फलत इसी एक मूर्च्छना के स्थापित करने से षाड्जी के षड्जाश, गान्धाराश, मध्यमाश और पञ्चमाश रूप की प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि वे बारह स्वरो के अन्दर जाति के रूप की अभिव्यक्ति मान लेते हैं एव मन्द्र तथा तार अवधियो के नियमो का कठोर रूप से पालन आवश्यक नही समझते। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि मतङ्ग की 'धैवतादि' मूर्च्छना 'ध नि स रे ग म प ध नि स रे ग' है, क्योंकि उनकी मूर्च्छनाएँ बारह स्वरो की है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उनकी किन्नरी पर सातवें से अठारहवें तक पर्दो की सख्या 'बारह' ही होनी है।

मार्गे मागधी गीति पञ्चपाणिर्द्विकल (एकल ?)। वार्तिकमार्गे सम्भाविता गीति (द्विकल पञ्चपाणि ताल), चतुष्कल पञ्चपाणि दक्षिणे मार्गे पृथुला गीति। वीररौद्राद्भुता रसा। प्रथमप्रेक्षणिके ध्रुवागाने विनियोग.।
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ६९०

मतङ्ग-किन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करके उनकी मान्यताओ की परीक्षा की जा सकती है ।

मतङ्ग-किन्नरी, धैवतादि मूर्च्छना

	पर्दे	स्वर
मेरु	०	ध
	१	नि
	२	स
	३	रे
	४	ग
	५	म
	६	प
	७	ध
	८	नि
	९	स
	१०	रे
	११	ग
	१२	म
	१३	प
	१४	ध
	१५	नि
	१६	स
	१७	रे
	१८	ग (मीड से म, प)

जिस स्वर को 'अश' मानकर वादन करना हो, वही स्थायी स्वर होगा, फलत 'चिकारी' अभीष्ट अश में मिलाकर वादन करना चाहिए। अश-स्वर से ही सप्तक का आरम्भ मानना होगा, भले ही वह अश-स्वर किसी पर्दे पर हो ।

षड्जाश षाड्जी

षड्ज अश मानकर वादन करने पर नवें पर्दे पर स्थित 'स' मध्यसप्तक का आरम्भक स्वर होगा । दूसरे पर्दे पर स्थित मन्द्रषड्ज तक मतङ्ग-निर्दिष्ट मन्द्रावधि मिल जायगी । सोलहवाँ पर्दा तारसप्तक का आरम्भक होगा, तारसप्तक के पाँच स्वर मिल जायेंगे, जिनमें मध्यम और पञ्चम की प्राप्ति अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा होगी ।

गान्धाराश षाड्जी

यह षाड्जी की अशविकृत अवस्था है, फलत इसमे मन्द्र अश तक जाना अनिवार्य नही ।

चौथे पर्दे पर स्थित गान्धार से पन्द्रहवें पर्दे पर स्थित निषाद तक बारह पर्दे होते है । चिकारी को गान्धार में मिला लेने पर गान्धाराश षाड्जी का रूप व्यक्त करने के लिए मतङ्ग के मत में ये बारह स्वर पर्याप्त हैं । जो मन्द्रावधि से तारावधि में यथेच्छ सीमा तक भ्रमण मानते है, वे मन्द्र और तार स्थान में और भी स्वर प्राप्त कर सकते हैं ।

मध्यमाश षाड्जी

चिकारियाँ मध्यम में मिलायी जानी चाहिए । पाँचवें से सोलहवें पर्दे तक बारह स्वरो में जाति का स्वरूप व्यक्त होगा । अन्य मन्द्र एव तार स्वरो का प्रयोग भी कामचारवादी कर सकते हैं ।

पञ्चमांश षाड्जी

चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर छठे पर्दे से सत्रहवें पर्दे तक बारह स्वर मिलेंगे। ग्रामचारवादियों को अन्य मन्द्र-तार स्वर मिल जायेंगे। जाति का रूप मतंग के अनुसार पूर्वोक्त बारह पर्दों पर अभिव्यक्त हो जायगा।

धैवतांश षाड्जी

धैवत में चिकारियाँ मिलाने पर मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्र स्थान, सातवें से तेरहवें तक मध्य स्थान और चौदहवें से अठारहवें तक (मीड द्वारा प्राप्त मध्यम, पञ्चम को मिलाकर) सम्पूर्ण तारसप्तक की प्राप्ति हो जायगी।

सितारवादक भी सितार पर अभीष्ट स्वरों में चिकारियाँ मिलाकर जातिवादन कर सकते हैं, मूर्च्छनाओं की स्थापना भी की जा सकती है। तरबहीन सितार में यह प्रक्रिया सुविधाजनक रहेगी।

एक जाति के लिए तन्त्रीवाद्यों पर ऐसी मूर्च्छना की स्थापना करने की पद्धति मतङ्ग से पूर्वकालीन है, जिसकी स्थापना के परिणामस्वरूप उस जाति के अंश-विकृत रूपों के वादन के लिए मूर्च्छना न बदलनी पड़े। कश्यप का कथन है कि जाति में अंशों की बहुलता को देखकर बुध व्यक्तियों को मूर्च्छना का निर्देश करना चाहिए।[५५] मतङ्ग ने प्रत्येक जाति की मूर्च्छना निर्दिष्ट करके काश्यप के विधान को स्पष्ट कर दिया है।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है —

"षाड्जी में निषाद और ऋषभ के अतिरिक्त पाँच स्वर अंश होते हैं, निषाद के लोप से षाडव रूप बनता है। पूर्णावस्था में कहीं-कहीं काकली का प्रयोग होता है। इस जाति में षड्जगान्धार एवं षड्ज-धैवत की सङ्गति है और गान्धार स्वर बहुल है। गान्धार के अंश स्वर होने पर निषाद का लोप नहीं होता। इसकी मूर्च्छना 'धैवतादि' है। इस जाति में तीन प्रकार का एककल, द्विकल और चतुष्कल ताल (पञ्चपाणि) है, क्रमशः चित्र, वृत्ति (वार्तिक) एवं दक्षिण मार्ग है, क्रमशः मागधी, सम्भाविता

५५—अंशत्या जात्यंशबाहुल्यं निर्देश्या मूर्च्छना बुधैः।
—मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत—सं० र०, गाना०, ज० सं०, पृ० ३२

और पृथुला गीतियाँ है। प्रथम अक की नैष्क्रामिकी ध्रुवा में इसका विनियोग है।[५६] इस षाड्जी में षड्ज न्यास है, गान्धार और पञ्चम अपन्यास है।"[५७]

नाटक के अतिरिक्त शकरस्तुति में भी इसका विनियोग है।[५८] षड्ज के अश होने पर इसमें कभी-कभी काकली का प्रयोग भरत के प्रतिकूल नही, आरोह में अन्तर स्वरो के प्रयोग की ओर नाट्यशास्त्र में स्पष्ट सकेत है।[५९]

५६—षाड्ज्यामशस्वरा पञ्च निषादर्षभवर्जिता।
निलोपात् षाडव सोऽत्र पूर्णत्वे काकली क्वचित ॥
सगयो सधयोश्चात्र सङ्गतिर्बहुलस्तु ग ।
गान्धारेंऽशे न नेर्लोपो मूर्च्छना धैवतादिका ॥
त्रिधा ताल पञ्चपाणिरत्र चैककलादिक ।
क्रमान्मार्गाश्चित्रवृत्तिदक्षिणा गीतय पुन ॥
मागधी सम्भाविता च पृथुलेति क्रमादिमा ।
नैष्क्रामिकध्रुवाया च प्रथमे प्रेक्षणे स्मृत ॥
विनियोगो .

—स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० १९६-१९७

५७—अस्या षाड्ज्या षड्जो न्यास । गान्धारपञ्चमावपन्यासौ।

—स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० १९७

५८—चकारात्स्वातन्त्र्येणापि ब्रह्मप्रोक्तपदैरन्यैर्वा शकरस्तुतावेव विनियोग समुच्चीयते।

—आचार्य कल्लिनाथ, स० र०, अ०स०, स्वरा०, पृ०१९८

५९—अन्तरस्वरसयोगो नित्यमारोहिसश्रय । —भरत०, ब० स०, पृ० ४३७

षाड्जी जाति का ध्यान

जातियो या रागो के ध्यान का सम्बन्ध यथासम्भव सङ्गीत की आगम-पुराण-परम्परा से है। जगदेकमल्ल ने जातियो के ध्यान भी दिये है। षाड्जी का ध्यान निम्नलिखित है—

वीणाक्वणश्रवणजातकुतूहलेन देवेन कामरिपुणा परिरम्यमाणाम् ।
पाशाकुशाकितकरामरुणावभासा षाड्जी समस्तजननीमनिश नमामि ॥

—जगदेक, भ० को०, पृ० ६९०

अर्थात्—'मै सबकी जननी षाड्जी को निरन्तर प्रणाम करता हूँ, वीणाध्वनि के श्रवण से सकुतूहल, कामरिपु (होने पर भी) भगवान् शकर के द्वारा जिनका आलिङ्गन किया जा रहा है, जिनका करतल पाश और अकुश के चिह्नो से युक्त है और जिनकी कान्ति अरुण है।

(२) आर्षभी

महर्षि भरत का कथन है —

"आर्षभी में धैवत, ऋषभ और निषाद अंश तथा अपन्यास स्वर हैं। न्यासस्वर ऋषभ है। षाडवकारी (षड्ज) का अल्पत्व है, आरोह में पञ्चम का लघन है। षड्ज के लोप से षाडव और पञ्चम के लोप से औडुव प्रकार बनता है, (अन्य अवशिष्ट स्वरों के साथ) निषाद और गान्धार की सङ्गति होती है।"[६०]

मतङ्ग का कथन है —

"शुद्ध आर्षभी का गान होता है, (नियम इस प्रकार है—) षड्ज-पञ्चम का अल्पत्व है। ऋषभ, धैवत एवं निषाद ग्रह हैं, यही स्वर अंश हैं, यही अपन्यास हैं। तार निषाद (अंश स्वर से पाँच स्वर पश्चात् विद्यमान) प्रयुक्त होता है। ऋषभ न्यासस्वर है, मन्द्रावस्था न्यासस्वर पर्यन्त अथवा (अवरोहस्थिति में) उससे पश्चाद्वर्ती स्वर तक मन्द्रावधि है। (ऋषभांश, निषादांश एवं धैवतांश अवस्थाओं में क्रमशः अंशस्वरों से पूर्ववर्ती षड्ज, धैवत और पञ्चम तक मन्द्रावधि है।) निषाद-गान्धार की सङ्गति है। षड्जहीन रूप षाडव एवं षड्ज-पञ्चमहीन रूप औडुव होता है। पूर्णावस्था में षड्ज, गान्धार, पञ्चम का अल्पत्व है और औडुवित अवस्था में गान्धार और मध्यम का। अवशिष्ट स्वर बहुल हैं। तीन सम्पूर्ण, तीन षाडव और तीन औडुव रूप होने के कारण इसके कुल अंशस्वर नौ (तीन ऋषभ+तीन निषाद+तीन धैवत=नौ) शुद्ध एवं अंश विकृत अवस्थाओं में हो जाते हैं। मूर्च्छना पञ्चमादि है। ताल चच्चत्पुट है।

६०—आर्षभ्या तु भवन्त्यंशा धैवतर्षभसप्तमाः ।
एत एव अपन्यासा न्यासश्च ऋषभः स्मृतः ॥
अल्पत्वञ्च विशेषेण भवेत्षाडवकारिणः ।
लघनं पञ्चमस्यैव स्यादारोहणसंश्रयात् ॥
षट्स्वरं सप्तमहीनं* (षड्जहीनत्वे) पञ्चस्वर्यं च पञ्चमः ।
विवादिना स्वराणां च सञ्चारोऽत्र विधीयते ॥

—भरत, व० स०, पृ० ८४८

*नाट्यशास्त्र के मुद्रित संस्करणों का यह पाठ लिपिकों के प्रमाद का परिणाम है। परस्पर सवादी स्वर औडुवावस्था के निर्माता होते हैं। इस पाठ में औडुवकारी स्वर पञ्चम कहा गया है और आरोह में उसका लघन बताया है, फलतः षाडवावस्था के जनक षड्ज का लोप ही सम्भव है। मतङ्ग एवं शार्ङ्गदेव ने भी षड्ज का लोप आर्षभी में षाडवकारी माना है।

एककल ताल चित्रमार्ग से मागधी, द्विकलताल वार्तिक मार्ग से सभाविता और चतुष्कल ताल, दक्षिण मार्ग से पृथुला गीति होती है। वीर, रौद्र एव अद्‌भुत रस है। प्रथम अङ्क मे नैष्क्रामिकी ध्रुवा का गान इसमें होता है।"[६१]

मतङ्ग-लक्षण में गान्धार का अल्पत्व भरत-विधान के अनुकूल नही, इसी लिए सम्भवत शार्ङ्गदेव को यह मान्य नही हुआ।

मतङ्ग-किन्नरी पर पञ्चमादि मूर्च्छना में आर्षभी की विभिन्न अवस्थाएँ देखें—

पर्दे	स्वर
०मेरु	प
१	ध
२	नि
३	म
४	रे
५	ग
६	म
७	प
८	ध
९	नि
१०	स
११	रे
१२	ग
१३	म
१४	प
१५	ध
१६	नि
१७	स
१८	रे

ऋषभाश शुद्ध आर्षभी—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने के पश्चात् चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य एव अठारहवें से तार स्थान का आरम्भ मानिए।

मन्द्र न्यासस्वर ऋषभ की प्राप्ति मन्द्रावस्था में चौथे पर्दे में होगी, अवरोहगति में इससे पर अर्थात् तीसरे पर्दे पर स्थित षड्ज भी मिल जायगा।

अठारहवें पर्दे पर तार को पाँच स्वर तक मीड द्वारा निषाद की प्राप्ति कुशल वैणिको के लिए असम्भव नही। पर्दे में गुजाइश होने पर वैणिक सात-सात स्वर तक खीचते है।

धैवतांश विकृत आर्षभी—चिकारियाँ धैवत में मिलाने के पश्चात् मन्द्रस्थान का आरम्भ पहले, मध्यस्थान का आठवे तथा तारस्थान का पन्द्रहवें से मानिए।

सम्पूर्ण मन्द्रस्थान, सम्पूर्ण मध्यस्थान और अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा ग म, प की सिद्धि करने पर सम्पूर्ण तारस्थान भी प्राप्त हो जायगा।

मतङ्ग के विघान के अनुसार पहले पर्दे से बारहवें तक भी बारह स्वर मिलते है और आठवें पर्दे से, अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा प्राप्त गान्धार तक भी, जो धैवताश षाड्जी के रूप को अभिव्यक्त करने मे समर्थ है। धैवत अश से, (अवरोहगति में) परवर्ती पञ्चम दोनो स्थितियो में सुलभ है।

६१—आर्षभी शुद्धा गीयते। निषाद (षड्ज ?) पञ्चमाल्पत्वम्। ऋषभधैवतनिषादा ग्रहा.। स्वयमेवाशा। त एवापन्यासा। पञ्चस्वरपरस्तारो निषाद। ऋषभो न्यास। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्र। (मन्द्रा ?) षड्जधैवतपञ्चमा। ऋषभ-

निषादांश विकृत आर्षभी—विकारियाँ ऋषभ में मिलाने के पश्चात् दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार-स्थान की प्राप्ति हो जायगी। अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा धैवत प्राप्त करने पर तीनों सम्पूर्ण स्थान प्राप्त होंगे।

बारह स्वरों में जाति के रूप की अभिव्यक्ति माननेवालों को यथेच्छ बारह स्वर मिलेंगे।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"आर्षभी में तीन स्वर अंश होते हैं, निषाद, ऋषभ और धैवत। द्विश्रुति स्वरों की सङ्गति अन्य स्वरों के साथ होती है। पञ्चम का लघन है। षड्ज के लोप से षाडव और षड्ज-पञ्चम के लोप से इस जाति में औडुव रूप होता है। मूर्च्छना पञ्चमादि है, और ताल चञ्चत्पुट। विनियोग षाड्जी जाति के समान है।[६२] इस आर्षभी में ऋषभ न्यास है और अंश स्वर ही अपन्यास स्वर है।"[६३]

(निषाद ?) गान्धारयोस्तु सगति। षड्जहीने (न ?) षाडव (म्) षड्जपञ्चम-हीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थाया षड्जगान्धारपञ्चमानामल्पत्वम्। औडुविते गान्धारमध्यमयोरल्पत्वम्। शेषाणा बहुत्वम्। दश (नव ?) विकल्प चास्या दशा (नवा) शा शुद्धविकृता पूर्णास्वय। पञ्चम्या (मा ?) दि-मूर्च्छना। चञ्चत्पुटस्ताल। एककलेन चित्रेण मागधी। द्विकलेन वार्तिकेन सम्भाविता। चतुष्कलेन दक्षिणेन पृथुला। वीररौद्राद्भुता रसा। प्रथमप्रेक्षणके नैष्क्रामिकी-ध्रुवागाने विनियोग।

—मतङ्ग, स० को०, पृ० ५७

६२—आर्षभ्या तु त्रयोऽशा स्युर्निषादर्षभधैवता।
द्विश्रुत्यो सङ्गति शेषैर्लङ्घन पञ्चमस्य च॥
षाडव षड्जलोपेन सपलोपादिहौडुवम्।
मूर्च्छना पञ्चमादिश्च तालश्चञ्चत्पुटो मत।
अष्टौ कला भवन्तीह विनियोगश्च पूर्ववत्॥

—स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० २०३

६३—अन्यामार्षभ्यामृषभो न्यास। अशा एवापन्यासा।

—स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० २०४

आर्षभी का ध्यान

निम्नीमवाऽननगमो (?) गतिदूरवर्ति यस्या महत्त्वनवधीरयितु प्रवृत्त।
पद्मासनो ऽपि परिहास्यदशा प्रयाति तामार्षभी मुवनिशामनिश नमामि॥

—जगदेक, स० को०, पृ० ५७

ध्यान देने की बात यह है कि जातियो की मूर्च्छनाएँ आचार्य शार्ङ्गदेव ने मतङ्गोक्त ली है, परन्तु इस जाति में मतगविहित गान्धार के अल्पत्व को भरतविरोधी होने के कारण अमान्य कर दिया है।

(३) गान्धारी

महर्षि भरत का कथन है—

"गान्धारी में धैवत और ऋषभ के अतिरिक्त पाँच स्वर अश होते हैं। षड्ज एव पञ्चम अपन्यास होते हैं। गान्धार न्यासस्वर है। ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-धैवत के लोप से औडुवित रूप होता है। ऋषभ और धैवत का लङ्घन है" अर्थात् पूर्णावस्था में इनका प्रयोग अत्यल्प है। ऋषभ से धैवत पर जाना चाहिए।"[६४]

मतङ्ग मुनि का कथन है—

"गान्धारी जाति में गान्धार, षड्ज, मध्यम, पञ्चम, निषाद ग्रह और अश हैं। तारस्थान में पाँच स्वरो तक गति है। न्यास तक अथवा अवरोहगति में उससे पर (ऋषभ) तक मन्द्रगति है। ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-धैवत के लोप से औडुव रूप बनता है। पूर्णावस्था में ऋषभ-धैवत का अल्पत्व होता है, अवशिष्ट स्वरो का बाहुल्य होता है। स्वरनामयुक्त जाति होने के कारण गान्धार न्यास है। षड्ज-मध्यम (पञ्चम) अपन्यास हैं। धैवत-ऋषभ की सगति है। यह दस प्रकार की होती है (पञ्चम अश होने पर केवल सम्पूर्ण अवस्था, निषाद, षड्ज और मध्यम के अश होने पर सम्पूर्ण और षाडव अवस्थाएँ तथा गान्धार के अश होने पर पूर्ण, षाडव और औडुव अवस्थाएँ होती हैं)। मूर्च्छना धैवतादि है। ताल चञ्च-त्पुट है। एककल, द्विकल, चतुष्कल ताल से चित्र, वार्तिक, दक्षिण मार्ग में मागधी,

---

अर्थात्—जिसके निस्सीम, वाणी और मन के अत्यन्त दूरवर्ती महत्त्व का तिरस्कार करने में प्रवृत्त पद्मासन ब्रह्मा भी उपहास के पात्र बनते हैं, मैं उस शुककान्ति आर्षभी को प्रणाम करता हूँ।

६४—गान्धार्यां पञ्च स्युरशा धैवतर्षभवर्जिता।
अपन्यासो भवेच्चात्र षड्ज पञ्चम एव च॥
गान्धारोऽत्र भवेन्न्यास षाडव चर्षभ विना।
ऋषभधैवतोपेत तथा चौडुवित भवेत्।
लघनीयौ च तौ नित्यमृषभो धैवत व्रजेत्॥ —भरत०, व० स०, पृ० ४४९

न्भाविता और पृथुला गीतियाँ होती हैं। करुण रस है। तृतीय अंक के ध्रुवा-गान में इस जाति का प्रयोग करना चाहिए।"[६५]

मतङ्ग के वर्तमान लक्षण में षड्ज-मध्यम का अपन्यास लिपिक के प्रमाद का परिणाम है। भरत, दत्तिल[६६], नान्यदेव[६७] इत्यादि सभी ने इस जाति के अपन्यास स्वर षड्ज-पञ्चम बताये हैं।

मतङ्ग-किन्नरी पर धैवतादि (मध्यमग्राम की) मूर्च्छना स्थापित करके गान्धारी के विभिन्न रूपों को देखना चाहिए—

	पर्दे स्वर
मेरु	०—ध
	१—नि
	२—स
	३—रे
	४—ग
	५—म
	६—प
	७—ध
	८—नि
	९—स
	१०—रे

गान्धाराश शुद्ध गान्धारी—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मन्द्रस्थान चौथे पर्दे, मध्यस्थान ग्यारहवें पर्दे और तारस्थान अठारहवें पर्दे से आरम्भ होगा। अठारहवें पर्दे पर मीड के द्वारा तार मध्यम, पञ्चम, धैवत निषाद भी प्राप्त किये जा सकते हैं। मन्द्रस्थान में न्यासस्वर गान्धार और अवरोह गति में उन पर अर्थात् तीसरे पर्दे पर ऋषभ की प्राप्ति भी हो जायगी।

मध्यमाश विकृत गान्धारी—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर मन्द्रस्थान पाँचवें पर्दे और मध्यस्थान बारहवें पर्दे से मिलेगा। तारस्थानीय म, प, ध, नि अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं। बारह स्वरों में जाति के रूप को देखनेवाले बारह स्वर प्राप्त कर सकते हैं। मन्द्रस्थान में न्यासस्वर भी उन्हें मिल सकता है।

६५—गान्धारषड्जमध्यमपञ्चमनिषादा ग्रहा अंशाश्च। पञ्चस्वरपरस्तार। न्यासपरन्तरगो वा मन्द्र। ऋषभहीन षाडवम्। रिवहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थायाम् ऋषभधैवतयोरल्पत्वम्। शेषाणां बहुत्वम्। स्वरजातित्वाद् गान्धारो न्यास। षड्जमध्यमावपन्यासौ। धैवतर्षभयो सङ्गति। अन्या दशविधलक्षणम्। मूर्च्छना धैवतादि। चस्वतुष्टस्थान। एकद्वित्रिचतुष्कलै। चित्रवार्तिकदक्षिणेषु मागधीसम्भाविता पृथुला गीतय। करुणो रस। तृतीयप्रेक्षणि (ण?) के ध्रुवागाने विनियोग। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० १७३

६६—गान्धार्यां द्वावनंशौ तु ज्ञेयावृषभधैवतौ।
स्मान्वि (त्रि?) त्यसपन्यासौ विज्ञेयौ षड्जपञ्चमौ॥ —दत्तिल, भ० को०, पृ० १७४

६७—सगमपनि स्वरा अंशाश्च। सपावपन्यासौ। गान्धारो न्यास। रिलोपे षाडवम्। रिधलोपे औडुवितम्। रिधौ लङ्घनीयौ। —नान्य०, भ० को०, पृ० १७३

पर्दे	स्वर
११—	ग
१२—	म
१३—	प
१४—	ध
१५—	नि
१६—	स
१७—	रे
१८—	ग

पञ्चमाश विकृत गान्धारी—द्वादशस्वरवादियो को यथेच्छ बारह स्वर मिलेंगे। चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्यस्थान और तेरहवें से तारस्थान मिलेगा। मन्द्र में न्यासस्वर गान्धार और अपन्यास स्वर षड्ज की प्राप्ति भी हो जायगी।

निषादाश विकृत गान्धारी—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्रस्थान, आठवें से मध्यस्थान और पन्द्रहवें से तारस्थान मिलेगा। तारस्थानीय म, प, ध अठारहवें पर्दे पर मीड के द्वारा मिल जायँगे। द्वादशस्वरवादियो को भी यथेष्ट मन्द्र-तार सीमाएँ मिल जायँगी।

षड्जांश विकृत गान्धारी—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर मन्द्रस्थान दूसरे पर्दे, मध्यस्थान नवें पर्दे तथा तारस्थान पन्द्रहवें पर्दे से मिलेगा। कुशल वैणिक अठारहवें पर्दे पर मीड के द्वारा तारस्थानीय म, प, ध, नि भी प्राप्त कर सकते हैं। द्वादशस्वरवादी भी अपनी अभीष्ट सीमाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"गान्धारी में ऋषभ-धैवत के अतिरिक्त पाँच स्वर अश होते हैं, न्यास और अश-स्वरो की परस्पर एव अन्य स्वरो के साथ सगति होती है। क्रमश ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-धैवत के लोप से औडुव रूप बनता है। धैवत से ऋषभ पर जाना चाहिए। पञ्चम (अश होने पर) षाडव अवस्था का द्वेषी (बाधक) होता है। निषाद, षड्ज, मध्यम एव पञ्चम के अश होने पर औडुवित रूप नही होता। मूर्च्छना धैवतादि है, ताल चञ्चत्पुट है। तृतीय अक के ध्रुवागान में प्रयोज्य है।[६८] इस गान्धारी में गान्धार स्वर न्यास है और षड्ज-पञ्चम अपन्यास हैं।"[६९]

६८—पञ्चाशा रिधवर्ज्या स्युर्गान्धार्या सङ्गति पुन ।
न्यासाशाभ्या तदन्येषा धैवताद् ऋषभ व्रजेत् ॥
रिलोपरिधलोपाभ्या षाडवौडुविते क्रमात् ।
पञ्चम षाडवद्वेषी निसमध्यमपञ्चमा ॥
अशा द्विपन्त्यौडुवित कला षोडश कीर्तिता ।
मूर्च्छना धैवतादि स्यात्तालश्चञ्चत्पुटो मत ।
विनियोगो ध्रुवागाने तृतीये प्रेक्षणे भवेत् ॥
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २०६

६९—अस्या गान्धार्यां गान्धारो न्यास । षड्जपञ्चमावपन्यासौ ।
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २०७

(४) मध्यमा

महर्षि भरत का कथन है—

"मध्यमा जाति में गान्धार और निषाद के अतिरिक्त अन्य स्वर अंश होते हैं, वही स्वर अपन्यास भी होते हैं। मध्यम न्यास होता है। गान्धार और निषाद के लुप्त होने पर औडुव एवं गान्धार का लोप होने पर षाडव रूप होता है। इस जाति के प्रयोग में षड्ज-मध्यम का बाहुल्य तथा गान्धार का लंघन प्रयोक्ताओं के द्वारा किया जाना चाहिए।"[७०]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"मध्यमा में गान्धार और निषाद के अतिरिक्त पाँच स्वर अंश होते हैं। षड्ज-मध्यम का बाहुल्य और गान्धार का अल्पत्व होता है। गान्धार के लोप से षाडव और गान्धार-निषाद के लोप से औडुव रूप होता है। मूर्च्छना ऋषभादि है, ताल चच्चत्पुट माना गया है। द्वितीय अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है।[७१] इस जाति में मध्यम न्यास है तथा अगान्धार अपन्यास है।"[७२]

गान्धारी का ध्यान

स्वर्णाभिरामरुचिमुज्ज्वलरूपवेषां वीणाविनोदकुतुकां मृदुमीलिताक्षीम्।
देवीं दयार्द्रहृदयां प्रणतिगतेषु गान्धारमाश्रितवतीमनिशं नमामि॥
—जगदेक, म० को०, पृ० १७४

अर्थात्—मैं निरन्तर उन गान्धारी देवी को प्रणाम करता हूँ, जिनकी कान्ति स्वर्णाभिराम है, जिनका रूप और वेष उज्ज्वल है, वीणा-विनोद जिनका कौतुक है, जिन्होंने (वीणाविनोद के परिणामस्वरूप) मृदुतापूर्वक नेत्र निमीलित कर लिये हैं और जो प्रणाम करनेवालों के प्रति दयार्द्रहृदया है।

७०—मध्यमायां भवन्त्यंशा विना गान्धारसप्तमौ।
एत एव ह्यपन्यासा न्यास एव हि मध्यमः॥
गान्धारसप्तमापेतं पञ्चस्वर्यं विधीयते।
षाड्स्वर्यं चाप्यगान्धारं कर्तव्यं तु प्रयोगतः॥
षड्जमध्यमयोश्चात्र कार्यं बाहुल्यमेव च।
गान्धारलङ्घनं चात्र नित्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः॥—भरत०, च० सं०, पृ० ४५०

७१—अन्यांशा मध्यमायाः स्युर्गान्धारनिषादयोः।
षड्जमध्यमबाहुल्यं गान्धारोऽल्पोऽत्र षाडवम्॥
गनिलोपेन त्वौडुवं [illegible]।

मतङ्ग-किन्नरी पर ऋषभादि मूर्च्छना की स्थापना करके मध्यमा के शुद्ध एव विकृत रूपो की स्थिति देखें—

पर्दे	स्वर
०	रे
१	ग
२	म
३	प
४	ध
५	नि
६	स
७	रे
८	ग
९	म
१०	प
११	ध
१२	नि
१३	स
१४	रे
१५	ग
१६	म
१७	प
१८	ध

मध्यमाश शुद्ध मध्यमा—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर दूसरें पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य एव सोलहवें से तार स्थान का आरम्भ होगा । अठारहवें पर्दे पर मीड के द्वारा निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार की प्राप्ति करने पर तारस्थानीय समस्त स्वर मिल जायँगे।

पञ्चमांश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य एव सत्रहवें से तारस्थान का आरम्भ मिलेगा । अठारहवें पर्दे पर मीड के द्वारा नि, स, ग, म प तक तारस्थानीय स्वर प्राप्त किये जा सकते है।

धैवताश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर मन्द्रस्थान चौथे पर्दे से, मध्यस्थान ग्यारहवें से और तारस्थान अठारहवें से प्रारम्भ होगा। अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा नि, स, रे, ग, म तक तारस्थानीय स्वर मिल जायँगे।

षड्जाश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर मध्यसप्तक का आरम्भ छठे और तारसप्तक का तेरहवें से होगा, तारस्थानीय निषाद अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा प्राप्त हो जायगा। मन्द्र स्थान में षड्ज के अतिरिक्त अन्य छहो स्वरो की प्राप्ति हो जायगी। मन्द्रावधि में न्यासस्वर मध्यम दूसरे पर्दे पर मिलेगा।

ऋषभाश विकृत मध्यमा—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य एव चौदहवें पर्दे से तार-स्थान का आरम्भ होगा, तारस्थानीय निषाद और षड्ज अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा प्राप्त होगे।

ऋषभादिर्मूर्च्छना स्यात्तालश्चञ्चत्पुटो मत ।
विनियोगो ध्रुवागाने द्वितीयप्रेक्षणे भवेत् ॥

—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २११

७२—अस्या मध्यमाया मध्यमो न्यास । अशा एवापन्यासा ।

(५) पञ्चमी

महर्षि भरत का कथन है —

"पञ्चमी जाति में दो स्वर, पञ्चम और ऋषभ, अंश होते हैं। निषाद, पञ्चम और ऋषभ अपन्यास हैं। मध्यमा के समान षाडव-औडुव (अर्थात् गान्धार लोप से षाडव और गान्धार-निषाद के लोप से औडुव) करना चाहिए। इस जाति में षड्ज-गान्धार-पञ्चम दुर्बल है। इस जाति में मध्यम-ऋषभ की सङ्गति है। गान्धार से निषाद पर जाना चाहिए।"[७३]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं —

"पञ्चमी में ऋषभ-पञ्चम अंश हैं, स-ग-म स्वल्प हैं। ऋषभ-मध्यम की संगति है। पूर्णावस्था में गान्धार से निषाद पर जाना चाहिए। गान्धार एवं गान्धार-निषाद के

टिप्पणी—मतङ्गकृत जाति-लक्षण हम भरत-कोष के आधार पर दे रहे हैं, जिन जातियों के मतङ्गकृत लक्षण उसमें नहीं, वे नहीं दिये जा रहे हैं।

मध्यमा का ध्यान

मन्दारकुन्दकुमुदप्रतिरूपरूपाम् इन्दीवरायतविशालविलोलनेत्राम् ।
चन्द्रावतंसपरिचुम्बितपादपद्मां तां मध्यमस्वरमयीमनिशं नमामि ॥

—जगदेक, भ० को०, पृ० ४६७

अर्थात्—मैं उस मध्यमा जाति को निरन्तर प्रणाम करता हूँ, जिसका रूप मन्दार, कुन्द एवं कुमुद का प्रतिरूप है, जिसके नेत्र इन्दीवर के समान विस्तृत, विशाल एवं चञ्चल हैं और चन्द्रावतंस (भगवान् शंकर ?) ने जिसके चरणकमलों का चुम्बन किया है।

७३—द्वावंशावपि पञ्चम्यां भवतः पञ्चमर्षभौ।
अपन्यासो निषादश्च पञ्चमर्षभसंयुतः ॥
न्यासः पञ्चम एव स्यात् मध्यमर्षभहीनता ।
दुर्बलाश्चात्र कर्तव्या षड्जगान्धारमध्यमाः ॥
कुर्याच्चाप्यत्र सञ्चारं मध्यमस्यर्षभस्य च ।
गान्धारगमनं चापि सप्तमात् सम्प्रयोजयेत् ॥

—भरत०, का० सं०, पृ० ३२९

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के बम्बई-संस्करण में 'कुर्यादस्याञ्च संचारं पञ्चमस्यर्षभस्य च' पाठ है, जो लिपिकर्ता के प्रमाद का परिणाम है। माध्यमग्रामिक होने के कारण यह जाति ऋषभ-पञ्चम-परस्परसंवादी है, परस्पर संवादी स्वरों की सङ्गति स्वतः सिद्ध होती है, उसके लिए विशिष्ट विधान की आवश्यकता नहीं होती।

लोप से क्रमश पाडव एव औडुव अवस्था जानना चाहिए। ऋपभ अश होने पर औडुवावस्था का विरोधी है। कलाएँ आठ हैं। मूर्च्छना ताल इत्यादि मध्यमा के समान हैं। तृतीय अक में विनियोग हैं। पञ्चम न्यास है, ऋषभ-पञ्चम-निषाद अपन्यास है।"[७४]

अब मतङ्ग-किन्नरी पर 'ऋषभादि' मूर्च्छना स्थापित करने से पञ्चमी की शुद्ध एव विकृत अवस्थाओ की यह स्थिति होगी—

पर्दे	स्वर
मेरु ०	—रे
१	—ग
२	—म
३	—प
४	—ध
५	—नि
६	—स
७	—रे
८	—ग
९	—म
१०	—प

पञ्चमाश शुद्ध पञ्चमी—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर मन्द्रसप्तक का आरम्भ तीसरे, मध्यसप्तक का दसवें और तारसप्तक का आरम्भ सत्रहवें पर्दे से होगा। अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा तारसप्तक के निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम की प्राप्ति हो जायगी।

ऋषभाश विकृत पञ्चमी—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य एव चौदहवें पद से तारस्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर तारस्थानीय निषाद और षड्ज की प्राप्ति भी मीड से हो जायगी।

साधारणतया षाडवकारी स्वर जातियों में अल्प (अनभ्यासयुक्त) और उसका सवादी औडुवकारी स्वर अल्पतर (लघनयुक्त) होता है। परन्तु इस जाति में औडुवकारी निषाद 'अपन्यास'

७४–रिपावशौ तु पञ्चम्या सगमा स्वल्पका मता ।
रिमयो सगतिर्गच्छेत्पूर्णत्वे गान्निषादकम् ॥
क्रमाद् गेन निगाभ्या च षाडवौडुवता मता ।
ऋषभोऽशस्त्वौडुवित द्वेष्टयष्टौ च कला मता ।
मूर्च्छनादि तु पूर्वावत्प्रेक्षण तु तृतीयकम् ॥
अस्या पञ्चम्या पञ्चमोन्यास ? ऋपभपञ्चमनिषादा अपन्यासा ।

—स० र०, स्वरा०, अ०स०, पृ० २१४

टिप्पणी—यद्यपि पाडवौडुवकारी स्वरो से ऋपभ का सवादित्व नही, तथापि ऋपभ को अशावस्था में औडुवद्वेपी कहना भरत के विधान—
'ऋपभश्चैव पञ्चम्या कैशिक्याञ्चैव धैवत ।
एव हि द्वादशैते स्यु वर्ज्या पञ्च स्वरे सदा ॥'
के अनुसार है। —ना० शा०, ब० स०, पृ० ४४२

पर्दे स्वर	
११—ध	स्वर भी है, फलत उसका प्रयोग अल्पतर नही। इसी लिए भरत और उनके अनुयायी आचार्य शार्ङ्गदेव ने इस जाति में अल्प स्वरो का विधान करते समय उनमें निषाद की गणना नही की।
१२—नि	
१३—स	
१४—रे	गान्धार षाडवकारी होने के कारण अल्प है। षड्ज और मध्यम इस जाति में लोप्य स्वर नही, तथापि इस जाति में उनका अल्प प्रयोग अल्पत्व-सम्बन्धी सामान्य नियम का अपवाद है।
१५—ग	
१६—म	
१७—प	
१८—ध	

(६) धैवती

महर्षि भरत का कथन है—

"धैवती जाति में धैवत न्यास तथा ऋषभ-धैवत अंशस्वर है। इस जाति में धैवत-ऋषभ-मध्यम अपन्यास होते हैं। षड्ज-पञ्चमहीन अवस्था औडुव होती है, षाडव अवस्था पञ्चमहीन होती है। आरोह में षड्ज-पञ्चम का लंघन करना चाहिए। निषाद, ऋषभ एवं गान्धार इस जाति में बलवान् होते हैं।"[७५]

पञ्चमी का ध्यान

वाणी न केवलमहारि यथा (या ?) विजित्य प्रीतिप्रदा पिककुलात्स च वर्णभेद ।
देवेन्द्रशेखरितपादसरोजरेणु ता पञ्चमश्रुतिमयीमनिश नमामि ॥

—जगदेक, भ० को०, पृष्ठ ३४६

अर्थात्—जिसने कोकिल-समूह को जीतकर प्रीतिमयी वाणी ही नही (अपितु) विशेष वर्णभेद (असित) का भी हरण कर लिया, मैं उस पञ्चमी जाति को निरन्तर प्रणाम करता हूँ, जिसके चरणकमलो का पराग देवेन्द्र ने भी सिर पर धारण किया है।

७५–धैवत्या धैवतो न्यास स्यादशौ धैवतर्षभौ ।
अपन्यासा भवन्त्यत्र धैवतर्षभमध्यमा ॥
षड्जपञ्चमहीन च पञ्चस्वर्यं विधीयते ।
पञ्चमेन विना चैव षाडव परिकीर्तितम् ॥
आरोहिणौ च तौ कार्यौ लघनीयौ तथैव हि ।
निषादश्चर्षभश्चैव गान्धारो बलवास्तथा ॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४४८

मतङ्ग का कथन है —

"धैवती के ग्रह और अंश धैवत और ऋषभ हैं। शुद्ध अवस्था में धैवत ही अपन्यास है, विकृत अवस्था में धैवत, ऋषभ और मध्यम अपन्यास हैं। धैवत न्यासस्वर है। षाडव अवस्था पञ्चमहीन है। औडुवित रूप षड्ज-पञ्चम-हीन है। षड्ज-पञ्चम दुर्बल रखने चाहिए, कहीं लघनीय भी हैं। तार गति पाँच स्वरों की है। न्यास अथवा अवरोह गति में उससे पर तक मन्द्रगति है। **पूर्णावस्था में गान्धार, मध्यम, पञ्चम और निषाद अल्प हैं, औडुवितावस्था में इनका अल्पत्व है, शेष स्वरों का बाहुल्य है।** इसकी मूर्च्छना ऋषभादि है। ताल पञ्चपाणि है। चित्र मार्ग में एककल, ताल मागधी गीति, वार्तिक मार्ग में द्विकल ताल, सभाविता गीति तथा दक्षिण मार्ग में चतुष्कल ताल और पृथुला गीति है। चित्र मार्ग में चार, दक्षिण में बारह और वार्तिक में अडतालीस कलाएँ हैं। वीर, बीभत्स और भयानक रस हैं। प्रथम अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है।"[७६]

शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"धैवती में ऋषभ-धैवत अंश हैं। आरोह में षड्ज-पञ्चम लघनीय हैं। पञ्चम के लोप से षाडव और षड्ज-पञ्चम के लोप से औडुव रूप बनता है। मूर्च्छना ऋषभादि है। ताल, मार्ग और गीतियाँ षाड्जी के समान हैं तथा विनियोग भी वैसा ही है। कलाएँ बारह हैं। इस जाति में धैवत न्यास है। ऋषभ, मध्यम एवं धैवत अपन्यास हैं।"[७७]

७६—धैवत्या धैवतर्षभौ अंशौ ग्रहौ च। शुद्धावस्थायां धैवत एव न्यासः (अपन्यासः ?)। विकृतावस्थायां धैवतर्षभमध्यमा अपन्यासाः। धैवतो न्यासः। पञ्चमहीनं षाडवम्। पञ्चमषड्जहीनमौडुवितम्। षड्जपञ्चमस्वरौ बलौ (दुर्बलौ ?) कर्तव्यौ। क्वचिल्लघनीयौ। पञ्चस्वरपरस्तारः। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्रः। पूर्णावस्थायां गान्धारमध्यमपञ्चमनिषादानामल्पत्वम्। शेषाणां च बहुत्वम्। ऋषभादि-मूर्च्छना। तालः पञ्चपाणिः। एककलश्चित्रमार्गे मागधी गीतिः। द्विकलो वार्तिके सम्भाविता गीतिः। चतुष्कलो दक्षिणे पृथुला गीतिः। चित्रे कलाश्चतस्रः। दक्षिणे कला द्वादश। वार्तिकेऽष्टचत्वारिंशत्कलाः। रसा वीरबीभत्सभयानकाः। ध्रुवागाने प्रथमप्रेक्षणके विनियोगः। —मतङ्ग, भ० को०, पृ० २९९

७७—स्तो धैवत्यां रिधावंशौ लङ्घ्यावारोहिणौ सपौ।
पलोपात् षाडवं प्रोक्तमौडुवं सपलोपतः ॥
ऋषभादिर्मूर्च्छना स्यात्तालो मार्गश्च गीतयः।
विनियोगश्च षाड्जीवत् कला द्वादश कीर्तिताः ॥
अस्यां धैवत्यां धैवतो न्यासः, ऋषभमध्यमधैवता अपन्यासाः।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २१७

मतङ्ग ने धैवत का अपन्यासत्व केवल शुद्ध अवस्था में कहा है, फलत सम्पूर्णावस्था में वे मध्यम को भी अल्प मानते हैं, पञ्चम पाडवकारी होने के कारण अल्प है। गान्धार और निपाद अशस्वरो के विवादी होने के कारण अल्प हैं।

मतङ्ग-किन्नरी पर ऋपभादि मूर्च्छना स्थापित करने से हमें शुद्ध एव विकृत धैवती की प्राप्ति इस प्रकार होगी—

पर्दे स्वर	
०—रे	**धैवतांश शुद्ध धैवती**—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर मन्द्र-स्थान चौथे, मध्यस्थान दसवें और तारस्थान अठारहवें से प्राप्त होगा। अठारहवें पर्दे पर तारस्थानीय ध, नि, स, रे भी मीड द्वारा सरलतापूर्वक मिल जायेंगे।
१—ग	
२—म	
३—प	
४—ध	**ऋषभांश विकृत धैवती**—चिकारियाँ ऋपभ में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें पर्दे से तार-स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय निपाद और पड्ज भी अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा मिल जायेंगे।
५—नि	
६—स	
७—रे	
८—ग	**(७) नैषादी**
९—म	महर्षि भरत का कथन है —
१०—प	"निपादिनी में निपाद, गान्धार और ऋपभ अशस्वर होते हैं। यही अपन्यास स्वर हैं, न्यासस्वर निपाद है। पाडव एव ओड़ुव अवस्थाएँ धैवती के समान होती हैं, उसी जाति के समान लघनीय एव वलवान् स्वर हैं।"[७८]
११—ध	
१२—नि	
१३—स	

धैवती का ध्यान

यस्या वपुर्नवसुधारसनिर्विशेप पीत तदप्यतितरा नयनैर्महेशे—
नापीयमानमभितो विदधाति देह ता धवतीमनुगुणामनिश नमामि ॥

—जगदेक, भरतकोश, पृ० २९९

अर्थात्—अपने नेत्रो द्वारा भगवान् शकर जिसके पीत शरीर के शोभामृत का पान अत्यन्त मात्रा में निरन्तर कर रहे हैं, (तब भी, जो शरीर धारण कर रही है,) मैं उस गुणानुरूप धैवती को निरन्तर प्रणाम करता हूँ।

७८–निपादिन्या निशादोऽशो गान्धारस्त्वृपभ स्मृत ।
एत एव अ (ह्य) पन्यासा न्यासश्चैवात्र सप्तम. ॥

पर्दे स्वर
१४—रे
१५—ग
१६—म
१७—प
१८—ध

मतङ्ग मुनि कहते हैं—

"निषादवती में निपाद-ऋपभ-गान्धार अश एव ग्रह-स्वर होते हैं। यही स्वर अपन्यास है। केवल निपाद न्यास है। पाडवावस्था पञ्चमहीन और औडुवावस्था पञ्चम-षड्जहीन होती है। पूर्णावस्था में षड्ज, मध्यम, गान्धार और पञ्चम अल्प होते हैं। औडुवित अवस्था में मध्यम एव धैवत अल्प होते हैं। तारस्थान में पाँच स्वरो का प्रयोग है। न्यासस्वर (निपाद) अथवा (अवरोह गति में) उससे पर (धैवत) तक मन्द्रगति है। मूर्च्छना गान्धारादि है। ताल चञ्चत्पुट है। दक्षिण मार्ग में चौंसठ* कलाएँ, चित्र मार्ग में आठ है, करुण रस है और प्रथम अक के ध्रुवागान में प्रयोज्य हैं।[७९]"

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है —

"नैषादी में नि, रे, ग अश हैं, अनश स्वर अबहुल (अल्प) है। पाडव और औडुव रूप तथा लङ्घ्य स्वर पूर्व जाति (धैवती) के समान हैं, विनियोग भी उसके सदृश

धैवत्या इव कर्तव्यौ (व्ये ?) षाडवौडुविते तथा।
तद्वच्च लघनीयौ तु बलवन्तौ तथैव च ॥

—भरत०, व० स०, पृ० ४४८

७९–निषादवत्या निषादर्षभगान्धारा ग्रहा अशाश्च। निषादगान्धारर्षभा अपन्यासा। निषाद एको न्यास। पञ्चमहीन पाडवम्। पञ्चमषड्जहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थाया षड्जगान्धारमध्यमपञ्चमानामल्पत्वम्। औडुविते मध्यमधैवतयोरल्पत्वम्। पञ्चस्वरपरा तारगति। न्यासपर तत्परो वा मन्द्र। गान्धारादिर्मूर्च्छना। तालश्चञ्चत्पुट। दक्षिणे कलाश्चतुष्षष्टि। चित्रेऽष्टौ। रसश्च करुण। ध्रुवागाने प्रथमप्रेक्षणि (ण ?) के विनियोग।

***टिप्पणी**—'कला' शब्द का अर्थ ताल-भाग भी होता है और एक गुरु (दो लघु) भी। मतङ्ग ने यहाँ दक्षिण मार्ग में चौंसठ कला बताते हुए कला शब्द का प्रयोग 'गुरु' के अर्थ में किया है। शार्ङ्गदेव का प्रयोग ताल भाग के अर्थ में है। चञ्चत्पुट की चार आवृत्तियाँ दोनो का ही तात्पर्य है। दक्षिण मार्ग में प्रयोज्य चतुष्कल चञ्चत्पुट की चार आवृत्तियो में सोलह कलाएँ (तालभाग) होती हैं। प्रत्येक कला (ताल भाग) में चार कलाएँ (गुरु) होती है। फलत १६×४=६४ कलाएँ मतङ्ग ने बतायी हैं।

हैं। ताल चञ्चत्पुट है, कलाएँ सोलह हैं। मूर्च्छना गान्धारादि है। इस जाति में निषाद न्यासस्वर है और अंशस्वर ही अपन्यास स्वर है।"[८०]

मतङ्ग-किन्नरी पर गान्धारी मूर्च्छना की स्थापना करने से निम्नस्थ स्थिति होगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	स
१३	रे
१४	ग
१५	म
१६	प
१७	ध
१८	नि

निषादांश शुद्ध नैषादी—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर मन्द्रस्थान का आरम्भ चौथे, मध्यस्थान का ग्यारहवें और तारस्थान का आरम्भ अठारहवें से होगा।

मन्द्रावस्था में मन्द्र निषाद से अवरोह गति में पर (धैवत) तीसरे पर्दे पर मिलेगा और अठारहवें पर मीड द्वारा स, रे, ग, म प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायेंगे। मतङ्ग का विधान इस प्रकार पूर्ण हो जायगा।

ऋषभांश विकृत नैषादी—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मध्यस्थान छठे और तारस्थान तेरहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय छ स्वर मिलेंगे, जिनमें न्यास स्वर निषाद भी है। अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा तारस्थानीय षड्ज भी मिल जायगा।

गान्धारांश विकृत नैषादी—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्र, सातवें से तेरहवें तक मध्य और चौदहवें से अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा प्राप्त ऋषभ तारस्थान की प्राप्ति होगी।

शुद्ध जातियों में अंशस्वर ही न्यासस्वर होता है। महर्षि भरत के विधान में अंशस्वर से अवरोहगति में मन्द्रगति नहीं होती, क्योंकि महर्षि के मत में, यदि मन्द्र और तार अवधियों की पराकाष्ठा तीनों स्थानों (सप्तकों) में प्राप्त करना है, तो

८०—नैषाद्या निरिगा अंशा अनंशा बहुला स्मृता।
षाडवौडुवलध्या स्युः पूर्ववद् विनियोजनम्।
चञ्चत्पुटः षोडशात्र कला गादिश्च मूर्च्छना ॥
अस्या नैषाद्या निषादो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः।
—ना० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २२०

मूर्च्छना का आरम्भ (एकतन्त्री या मत्तकोकिला जैसी वीणाओ में) अश स्वर से करना चाहिए। तीन से अधिक अति मन्द्र अथवा अति तार स्थान महर्षि के यहाँ नही हैं।

मतङ्ग ने एक जाति के सभी रूपो के लिए एक मूर्च्छना निश्चित की है, फलत अनेक अवस्थाओ में, जहाँ उनके विधान के अनुसार निश्चित मूर्च्छनाओ में सम्पूर्ण तीनो स्थान प्राप्त नही होते, वहाँ अनेक स्थितियो में अति मन्द्र या अति तार स्वर भी प्राप्त हो जाते हैं। इसी लिए मतङ्ग ने अपने जाति-लक्षणो मे विभिन्न मन्द्र-तारावधियो का विशेषरूपेण वर्णन किया है।

शार्ङ्गदेव के काल तक मन्द्र-तारावधि के नियम सर्वथा शिथिल हो गये थे, इस शिथिलता का वीज मतङ्ग के द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद में निहित है।*

ससर्गज विकृत जातियाँ

(८) षड्जकैशिकी

महर्षि भरत का विधान है —

"षड्जकैशिकी में षड्ज-गान्धार-पञ्चम अश होते हैं। षड्ज-पञ्चम-सप्तम अपन्यास होते हैं। गान्धार न्यासस्वर है। इस जाति की षाडव या औडुव अवस्था नही होती। इस जाति में धैवत (मध्यम ?) और ऋषभ को दुर्वल रखना चाहिए।"[८१]

मतङ्ग का कथन है —

"षड्जकैशिकी के ग्रह और अश षड्ज-गान्धार-पञ्चम होते हैं। तारावधि पञ्चस्वर तथा मन्द्रावधि न्यास स्वर तक अथवा (अवरोह गति में) उससे पर तक है। यह जाति नित्य सम्पूर्ण है। धैवत-निषाद-मध्यम का अल्पत्व है और ऋषभ का अल्पतरत्व। शेष स्वरो का बाहुल्य है। गान्धार न्यास स्वर है। चित्र मार्ग में एककल चञ्चत्पुट ताल, मागधी गीति है। वार्तिक मार्ग में द्विकल (चञ्चत्पुट) ताल और

*** नैषादी का ध्यान**

भरत-कोश में न होने के कारण नही दिया जा सका।

८१—अशास्तु षड्जकैशिक्या षड्जगान्धारपञ्चमा।
अपन्यासा　भवन्त्यत्र　षड्जसप्तमपञ्चमा ॥
गान्धारश्च भवेन्न्यासो　हीनस्वर्यं न चात्र तु।
दौर्वल्यञ्चात्र कर्तव्य धैवतस्य (मध्यमस्य) र्षभस्य च ॥
—भरत०, ब० स०, पृ० ४४८

सम्भाविता गीति है। दक्षिण मार्ग में चतुष्कल (चञ्चत्पुट) ताल और पृथुला गीति है। करुण रस है। द्वितीय अक के प्रथम प्रवेश-गीत में विनियोग है।"[८२]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते है —

"षड्जकैशिकी में षड्ज-गान्धार-पञ्चम अश होते है। मध्यम और ऋषभ में अल्पत्व रहता है। धैवत और निषाद (मध्यम और ऋषभ की अपेक्षा) कुछ बहुल होते है। चञ्चत्पुट ताल है, सोलह कलाएँ है। द्वितीय अङ्क की प्रावेशिकी ध्रुवा में विनियोग है। इस जाति में गान्धार न्यास है और षड्ज-निषाद-पञ्चम अपन्यास है।"[८३]

मतङ्ग और शार्ङ्गदेव दोनो ने ही इस जाति की मूर्च्छना निर्दिष्ट नही की है, कल्लिनाथ ने भी इस सबध में मौन का अवलम्बन किया है। मतङ्ग-किन्नरी में षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने पर मतङ्ग-विहित सीमाएँ मिल जायँगी।

मतङ्ग-किन्नरी पर 'षड्जादि' मूर्च्छना स्थापित करने से निम्नस्थ स्थिति स्पष्ट होती है—

पर्दे स्वर	
०—स	षड्जांश षड्जकैशिकी—षड्ज में चिकारियाँ मिलाने पर
१—रे	मेरु से छठे पर्दे तक मन्द्र, सातवें से तेरहवें तक मध्य एव चौदहवें
२—ग	से अठारहवें (मीड द्वारा प्राप्त धैवत, निषाद सहित) तक तार-
३—म	स्थान की प्राप्ति होगी।

८२—षड्जकैशिक्या षड्जगान्धारपञ्चमा ग्रहा अशाश्च। पञ्चस्वरपरस्तार। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्र। नित्यसम्पूर्णा धैवतनिषादमध्यमानामल्पत्वम् ऋषभस्याल्पतरत्वम्। शेषाणा बहुलत्वम्। न्यासस्तु गान्धार। चञ्चत्पुटस्ताल। एककलश्चित्रे मागधी गीति। वार्तिकमार्गे द्विकल सम्भाविता गीति। चतुष्कले (लो) दक्षिणमार्गे पृथुला गीति। रसश्च करुण। प्रथमप्रवेशगीते द्वितीयप्रेक्षणके विनियोग।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ६८७

८३—अशा स्यु षड्जकैशिक्या षड्जगान्धारपञ्चमा।
ऋषभे मध्यमेऽल्पत्व धनिषादौ मनाग्बहू॥
चञ्चत्पुट षोडशास्या कला स्युर्विनियोजनम्।
प्रावेशिक्या ध्रुवाया स्यात्प्रेक्षणे तु द्वितीयके॥
अस्या षड्जकैशिक्या गान्धारो न्यास। षड्ज-निषाद-पञ्चमा अपन्यासा।

—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २२४

पर्दे	स्वर
४	प
५	ध
६	नि
७	स
८	रे
९	ग
१०	म
११	प
१२	ध
१३	नि
१४	स
१५	रे
१६	ग
१७	म
१८	प

गान्धाराश षड्जकैशिकी—गान्धार में चिकारियाँ मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान का आरम्भ होगा। मतङ्ग के विधान के अनुसार मन्द्र गान्धार (न्यास स्वर) से अवरोह गति में ऋषभ पहले पर्दे पर मिलेगा। अठारहवें पर्दे पर धैवत और निषाद की प्राप्ति करने पर तार-स्थानीय पाँच स्वर ग, म, प, ध, नि मिल जायँगे।

पञ्चमाश षड्जकैशिकी—पञ्चम में चिकारियाँ मिलाने पर चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य एव अठारहवें से तार स्थान की प्राप्ति हो जायगी। अठारहवें पर्दे पर भी ध, नि, स प्राप्त किये जा सकते है।

(९) षड्जोदीच्यवा

महर्षि भरत का कथन है—

"षड्जोदीच्यवती के अशस्वर षड्ज, मध्यम, धैवत और निषाद है। न्यासस्वर मध्यम है। इसके अपन्यास स्वर धैवत और षड्ज है। इस जाति में अशस्वरो का परस्पर सञ्चार है। षाडवावस्था में ऋषभ और औडुवावस्था में ऋषभ-पञ्चम का लोप होता है।[84] इसमें गान्धार वली है।"

सामान्यत औडुवकारी स्वर परस्पर सवादी होते है, परन्तु यह जाति इस सबन्ध में अपवाद है। इस जाति के षड्जग्रामीय होने के कारण यद्यपि इसमें ऋषभ-पञ्चम परस्पर सवादी नही, तथापि महर्षि ने ऋषभ-पञ्चम को इस जाति में औडुवकारी कहा है। मतङ्ग और शार्ङ्गदेव ने भी आप्त वाक्य का अनुसरण किया है। इस जाति में औडुवकारी दोनो स्वरो में कोई भी षाडवद्वेषी नही, अपितु अशावस्था को प्राप्त धैवत

८४—षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा।
स्यु षड्जोदीच्यवत्यश न्यासश्चैव तु मध्यम ॥
अपन्यासो भवत्यस्या धैवत षड्ज एव च।
परस्परमिहाशाना सञ्चारश्च विधीयते ॥
पञ्चमर्षभहीन तु पञ्चस्वर्यं तु तत्र वै।
ऋषभ षाडवे हीनो गान्धारश्च वली भवेत् ॥
—भरत०, ब० स०, पृ० ४४९

है। सामान्यत षाडवद्वेषी स्वर औडुवकारी स्वरो में से एक होता है, अत धैवत का षाडवद्वेषित्व भी सामान्य नियम का अपवाद समझना चाहिए।

मतङ्ग का कथन है—

"षड्जोदीच्यवती में ग्रह एव अंश स, म, ध, नि होते हैं। तार गति पाँच स्वरो तक है। न्यास स्वर तक या उससे अवरोहगति में पर गान्धार तक मन्द्रावधि है। षाडवावस्था ऋषभहीन और औडुवित अवस्था ऋषभ-पञ्चमहीन है। पूर्णावस्था में गान्धार-पञ्चम का अल्पत्व है। अंश होने पर गान्धार बहुल है (?)। षाडवावस्था मे पञ्चम अल्प है। औडुवावस्था में कोई अल्प नही, सभी बहुल है। मध्यम न्यास है, ऋषभ-धैवत अपन्यास हैं। गान्धारादि मूर्च्छना है। पञ्चपाणि ताल है। एककल, चित्रमार्ग से मागधी गीति, द्विकल वार्तिक मार्ग से सम्भाविता और चतुष्कल दक्षिण मार्ग से पृथुला गीति होती है। रस शृङ्गार और हास्य है। द्वितीय अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है।"[८५]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"षड्जोदीच्यवा में स, म, नि, ध अंश है, उनकी परस्पर सङ्गति है। मन्द्र गान्धार का बाहुल्य है। तारस्थान मे षड्ज और ऋषभ भी बहुल हैं। ऋषभ के लोप से षाडव और ऋषभ-पञ्चम के लोप से औडुव रूप बनता है। धैवत के अंश होने पर षाडव रूप नही होता। गीत, ताल इत्यादि षाड्जी के समान हैं। मूर्च्छना गान्धारादि है, द्वितीय अङ्क के ध्रुवागान में विनियोग है। इस जाति में न्यास स्वर मध्यम है। षड्ज और धैवत अपन्यास स्वर है।"[८६]

८५—षड्जोदीच्यवत्या षड्जमध्यमधैवतनिषादा ग्रहा अंशाश्च। पञ्चस्वरपरस्तार। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्र। ऋषभहीन षाडवम्। ऋषभपञ्चमहीनमौडुवितम्। पूर्णावस्थाया गान्धारपञ्चमयोरल्पत्वम्। गान्धारस्यांशत्वप्राप्तौ बाहुल्यम्। षाडवे पञ्चमस्याल्पत्वम्। औडुविते न कस्याप्यल्पत्वम्। अशेषाणा बहुत्वमेव। मध्यमो न्यास। ऋषभधैवतावपन्यासौ। गान्धारमूर्च्छना। ताल: पञ्चपाणि। एककलेन चित्रेण मागधी। द्विकलेन वार्तिकेन सम्भाविता। चतुष्कलेन दक्षिणेन पृथुला। रसौ शृङ्गारहास्यौ। ध्रुवागाने द्वितीयप्रेक्षणके विनियोग। —मतङ्ग०, भ० को०, पृ० ६८८

८६—अंशा समनिधा षड्जोदीच्यवाया प्रकीर्तिता।
मिथश्च सगतास्ते स्युर्मन्द्रगान्धारभूरिता॥
षड्जर्षभौ भूरितारौ रिलोपात्षाडव मतम्।

शार्ङ्गदेव के समक्ष नाट्यशास्त्र का पाठ अधुना-मुद्रित पाठो से कही-कही भिन्न था । कल्लिनाथ के समक्ष भी सम्भवत यह पाठ था, जिसके अनुसार इस जाति में षड्ज, ऋषभ और गान्धार को बली बताया गया है ।[87] कल्लिनाथ का कथन है कि इस जाति में ऋषभ की भरतोक्त बलवत्ता तारस्थान में माननी चाहिए ।[88]

मतङ्ग-किन्नरी पर गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर इस जाति के विभिन्न प्रकारो की स्थिति निम्नस्थ होगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	स
१३	रे

मध्यमांश षड्जोदीच्यवा—मध्यम में चिकारियाँ मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी । अठारहवें पर्दे पर षड्ज प्राप्त कर लेने से मतङ्गोक्त तारावधि मिलेगी और पहले पर्दे पर स्थापित मन्द्र मध्यम (न्यास) से अवरोह गति मे पर गान्धार भी मेरु पर मिल जायगा ।

धैवतांश षड्जोदीच्यवा—धैवत में चिकारियाँ मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी । अठारहवें पर्दे पर गान्धार तक प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर ध, नि, स, रे, ग मिल जायँगे । मन्द्र-स्थानीय स्वर यथेष्ट मिलेंगे ।

निषादांश षड्जोदीच्यवा—निषाद में चिकारियाँ मिलाने पर मन्द्रस्थान चौथे पर्दे, मध्यस्थान ग्यारहवें पर्दे और तार-स्थान अठारहवें पर्दे से मिलेगा । अठारहवें पर्दे पर तारस्थानीय स, रे, ग, म भी प्राप्त किये जा सकते है ।

औडुव रिपलोपेन धैवतेंऽशे न षाडवम् ॥
षाड्जीवद् गीततालादि गान्धारादिश्च मूर्च्छना ।
द्वितीये प्रेक्षणे गाने ध्रुवाया विनियोजनम् ॥
अस्या षड्जोदीच्यवत्या मध्यमो न्यास । षड्जधैवतावपन्यासौ ।
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २२८

८७–षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारश्च बली भवेत् ।
—भरत०, कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत „ „

८८–'ऋषभश्च बली भवेत्' इति मुनिवचन तु तारस्थर्षभविषयमिति व्यवस्थापनीयम् ।
—कल्लिनाथ „ पृ० २२८

१४—ग १५—म १६—प १७—ध १८—नि	षड्जाश षड्जोदीच्यवा—षड्ज में चिकारियाँ मिलाने पर मध्यस्थान पाँचवें पर्दे और तारस्थान बारहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय ग, म, प, ध, नि मिलेंगे।

(१०) षड्जमध्यमा

महर्षि भरत का कथन है—

"षड्जमध्यमा में सभी स्वर अश और अपन्यास होते हैं, प्रयोक्ताओ को इस जाति में षड्ज या मध्यम स्वर न्यास रखना चाहिए। गान्धार और निषाद के लोप से औडुव एव निषाद के लोप से षाडव रूप बनाना चाहिए। प्रयोक्ताओ के द्वारा इसमें सभी स्वरो की परस्पर सगति इष्ट है।"[८९]

इस जाति में सभी स्वर अश हैं। सामान्यत अशस्वर लोप्य नही होते, परन्तु इसमें अनशावस्था में निषाद और गान्धार का लोप महर्षि द्वारा विहित है, जो सामान्य नियम का अपवाद है।

मतङ्ग कहते हैं—

"षड्जमध्यमा के ग्रह और अश सातो स्वर है। तार गति पाँच स्वरो तक है। मन्द्र गति न्यासस्वर तक अथवा (अवरोह गति मे) उससे पर तक है। षाडवावस्था निषाद-हीन और औडुवावस्था निषादगान्धार-हीन है। ग्राम के अविरोध के कारण सङ्गति यथेष्ट है। पूर्णावस्था में निषाद और गान्धार का अल्पत्व है। षड्ज-मध्यम न्यास स्वर हैं। सातो स्वर अपन्यास हैं। मूर्च्छना मध्यमादि है। ताल पञ्चपाणि है। एककल, द्विकल, चतुष्कल, चित्र, वार्तिक, दक्षिण मार्गो के द्वारा क्रमश मागधी, सम्भाविता और पृथुला गीतियाँ हैं। सब रसो में इस जाति का प्रयोग होता है। द्वितीय अक के ध्रुवागान में विनियोग है।"[९०]

८९—सर्वेऽशा षड्जमध्याया अपन्यासास्त एव च। षड्जो वा मध्यमो वापि न्यास कार्यं प्रयोक्तृभि। गान्धारसप्तमोपेत पञ्चस्वर्यं तु तत्र वै। षाडव सप्तमोपेत चात्र कार्यं प्रयोगत। सर्वस्वराणा सञ्चार इष्टस्तस्या प्रयोक्तृभि॥

—भरत०, व० म०, पृ० ४४९

९०—षड्जमध्यमाया ग्रहा अशाश्च सप्तैव स्वरा। पञ्चस्वरपरस्तार। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्र। निषादहीना षाडवा। निषादगान्धारहीना औडुविता। ग्रामाविरोधेन

शार्ङ्गदेव का कथन है—

"षड्जमध्यमा में सातो स्वर अश है, उनमें परस्पर सञ्चार होता है। निषाद अनश अवस्था में अल्प होता है। निषाद एव निषाद-गान्धार के लोप से षाडव एव औडुव प्रकार बनते हैं। (अश होने पर) निपाद-गान्धार षाडव एव औडुव अवस्थाओ के विरोधी होते हैं। गीति, ताल, कला इत्यादि षाड्जी के समान है। मूर्च्छना मध्यमादि तथा विनियोग षड्जोदीच्यवती के समान है। इस षड्जमध्यमा में षड्ज और मध्यम न्यास तथा सातो स्वर अपन्यास है।"[९१]

मतङ्गकिन्नरी पर मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने से षड्जमध्यमा के विभिन्न रूपो की स्थिति इस प्रकार होगी—

पर्दे स्वर	
०—म	**षड्जाश षड्जमध्यमा**—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य और अठारहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम मीड द्वारा प्राप्त करने पर मतङ्ग-विधान के अनुसार तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायँगे। अवरोह गति में न्यासस्वर अतिमन्द्र मध्यम मेरु पर मिलेगा और षड्ज स्वर न्यास मानने पर उससे पर मन्द्र निषाद चौथे पर्दे पर मिलेगा।
१—प	
२—ध	
३—नि	
४—स	
५—रे	
६—ग	

यथेष्ट सञ्चार। पूर्णावस्थाया निगयोरल्पत्वम्। समौ न्यासौ। सप्तस्वरा अपन्यासा। मध्यमादिमूर्च्छना। ताल पञ्चपाणि। एककलद्विकलचतुष्कलै चित्रवार्तिकदक्षिणमार्गै क्रमान्मागधी सम्भाविता पृथुलागीतय। सर्वरसात्मिका। ध्रुवागाने द्वितीयप्रेक्षणके विनियोग।"

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ६८८

९१—अशा सप्तस्वरा षड्जमध्यमाया मिथश्च ते।
सगच्छन्ते निरल्पोऽशाद् गाद् ऋते वादिता विना॥
निलोपनिगलोपाभ्या षाडवौडुविते मते।
षाडवौडुवयो स्याता द्विश्रुती तु विरोधिनौ॥
गीतितालकलादीनि षाड्जीवन्मूर्च्छना पुन।
मध्यमादिरिह ज्ञेया पूर्ववद् विनियोजनम्॥
अस्या षड्जमध्यमाया षड्जमध्यमौ न्यासौ। सप्तस्वरा अपन्यासा।

—स० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० २३२

७—म
८—प
९—ध
१०—नि
११—स
१२—रे
१३—ग
१४—म
१५—प
१६—ध
१७—नि
१८—स

ऋषभांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर मध्य स्थान पाँचवें और तारस्थान बारहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे, जिनमें न्यासस्वर मध्यम और षड्ज तथा न्यास षड्ज से पर मन्द्र निषाद भी है।

गान्धारांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मध्यस्थान छठे और तारस्थान तेरहवें पर्दे से मिलेगा। मेरु से पाँचवें पर्दे तक मन्द्रस्थानीय छ स्वर मिलेंगे, जिनमें न्यास-स्वर मध्यम और षड्ज भी है।

मध्यमांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय ऋषभ-गान्धार अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिल जायेंगे।

पञ्चमांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर रे, ग, म प्राप्त होने पर तारस्थान सम्पूर्ण मिलेगा।

धैवतांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर दूसरे से मन्द्र, नवें से मध्य एवं सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर मींड द्वारा रे, ग, म, प प्राप्त करने पर सम्पूर्ण तारस्थान मिल जायगा।

निषादांश षड्जमध्यमा—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर रे, ग, म प्राप्त करने से तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायेंगे।

(११) गान्धारोदीच्यवती

महर्षि भरत का विधान है—

"गान्धारोदीच्यवा में षड्ज और मध्यम अंशस्वर होते हैं। इस जाति में औडुवितत्व नहीं है और षाडव रूप ऋषभ के लोप से बनता है। इसमें अल्पत्व, बहुत्व, न्यास और अपन्यास की विधि षड्जोदीच्यवा-जैसी है।"[९२]

९२—गान्धारोदीच्यवांशौ च विज्ञेयौ षड्ज-मध्यमौ।
पञ्चस्वर्यं न चास्त्यत्र षाड्स्वर्यम् ऋषभं विना॥

नान्यदेव* का कथन है—

"जिसमे षड्ज और मध्यम अश हो, मध्यम न्यास हो, ऋषभ के लोप से षाडव प्रकार बनता हो, जिसमें औडुवावस्था न हो, जिस जाति में पूर्णता विकल्प से हो और मन्द्रस्थान में गान्धार का बाहुल्य हो, वह गान्धारोदीच्यवती जाति है।"[९३]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"गान्धारोदीच्यवा में षड्ज एव मध्यम स्वर अश होते हैं। ऋषभ के लोप से षाडव रूप होता है। पूर्णावस्था में अनश स्वर अल्प रहते हैं, षाडवावस्था में नि, ध, प, ग अल्प होते हैं। ऋषभ-धैवत की सगति है। मूर्च्छना धैवतादि है। ताल चञ्चत्पुट और कलाएँ सोलह हैं। चतुर्थ अक के ध्रुवागान में विनियोग है। गान्धारोदीच्यवा में मध्यम न्यास और षड्ज-धैवत अपन्यास है।"[९४]

मतङ्गकिन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना की स्थापना से निम्नस्थ स्थिति होगी—

अस्यास्त्वल्पबहुत्वस्य न्यासापन्यासयोस्तथा ।
य षड्जोदीच्यवायास्तु सर्वोऽत्र स विधि स्मृत ॥

—भरत०, ब० स०, पृ० ४५०

*मतङ्गलक्षण भरतकोश में न होने के कारण नही दिया जा रहा है।

९३—स्वरौ मध्यमषड्जाख्यौ अशौ यत्र प्रकीर्तितौ ।
न्यास स्यान्मध्यमो यस्या षाडव चर्षभ विना ॥
नास्त्येवौडुवित यस्या विकल्पाद् यत्र पूर्णता ।
मन्द्रस्थाने च गान्धारबाहुल्य दृश्यते तथा ॥

—नान्यदेव, भ० को०, पृ० १७४

९४—गान्धारोदीच्यवाया तु द्वावशौ षड्जमध्यमौ ।
रिलोपात् षाडव ज्ञेय पूर्णत्वेंऽशेतराल्पता ॥
अल्पा निषपगान्धारा षाडवत्वे प्रकीर्तिता ।
रिधयो सङ्गतिर्ज्ञेया धैवतादिश्च मूर्च्छना ॥
तालश्चञ्चत्पुटो ज्ञेय कला षोडश कीर्तिता ।
विनियोगो ध्रुवागाने चतुर्थप्रेक्षणे मत ॥
अस्या गान्धारोदीच्यवाया मध्यमो न्यास । षड्जधैवतावपन्यासौ ।

—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २३६

पर्दे	स्वर
०	ध
१	नि
२	स
३	रे
४	ग
५	म
६	प
७	ध
८	नि
९	स
१०	रे
११	ग
१२	म
१३	प
१४	ध
१५	नि
१६	स
१७	रे
१८	ग

षड्जांश गान्धारोदीच्यवती—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर म, प, ध, नि भी प्राप्त कर लेने से सम्पूर्ण तार स्थान मिल जायगा। ऋषभ की सगति के लिए अति-मन्द्र धैवत मेरु पर मिलेगा।

मध्यमांश गान्धारोदीच्यवती—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे। विकृत जातियों में न्यास की मन्द्रावस्था में जाना आवश्यक नही होता।

(१२) रक्तगान्धारी

महर्षि भरत का कथन है—

"इस जाति का लक्षण, षाडव और औडुव इत्यादि अवस्थाएँ गान्धारी के समान जाननी चाहिए। इस जाति में धैवत और निषाद बलवान् होते हैं। गान्धार और षड्ज की सङ्गति ऋषभ के अतिरिक्त अन्य स्वरो के साथ है। इस जाति में केवल मध्यम अपन्यास है।"[९५]

मतङ्ग का कथन है—

"रक्तगान्धारी के अंश और ग्रह षड्ज-मध्यम-पञ्चम-गान्धार-निषाद होते हैं। तारस्थान मे पाँच स्वरो का प्रयोग है। मन्द्रस्थान में न्यास अथवा उसने अवरोह

९५—गान्धारी (रो?) विहितो न्यास हीनस्वर्य्यञ्च लक्षणम्।
सर्वञ्च रक्तपूर्वाया गान्धार्यश्च विनिर्दिशेत्॥
बलिनौ भवतश्चात्र धैवत सप्तमस्तथा।
गान्धारषड्जयोश्चात्र सञ्चार ऋषभ विना।
अपन्यासस्तथा चात्र एको वै मध्यम स्मृत॥

—भरत०, ब० म०, पृ० ४४९—५०

गति में पर स्वर तक जाते हैं। पाडव अवस्था ऋषभहीन और औडुवावस्था ऋषभ-धैवत-हीन होती है। पूर्णावस्था मे ऋषभ-धैवत का अल्पत्व तथा अवशिष्ट स्वरो का बाहुल्य होता है। **निषाद अश होने के कारण बहुल होना चाहिए, परन्तु (महर्षि भरत के ?) वचन के परिणामस्वरूप वह अबहुल (अल्प) होता है।** पाडव दशा में धैवत का अल्पत्व होता है। ऋषभ का कभी नही होता। औडुवावस्था में सभी अश-स्वरो के रहने के कारण किसी का अल्पत्व नही होता। पूर्वोक्त विधान के परिणाम-स्वरूप अवशिष्ट स्वर बहुल होते हैं। न्यास गान्धार ही है। अपन्यास मध्यम है। षड्ज-गान्धार की सङ्गति है। मूर्च्छना ऋषभादि है। करुण रस है। ताल पञ्चपाणि है। एककल-द्विकल-चतुष्कल, चित्र-वार्तिक-दक्षिण मार्ग में क्रमश मागधी, सम्भाविता, पृथुला गीतियाँ है।"[९६]

मतङ्ग के उपर्युक्त लक्षण में स्थूलाक्षर भाग नाट्यशास्त्र के मुद्रित सस्करणो तथा शार्ङ्गदेव इत्यादि के लक्षणो से मेल नही खाता। सम्भव है कि भरतकोश में दिया हुआ मतङ्गवाला यह पाठ अशुद्ध हो। निषाद का अल्पत्व इस जाति में होना कुछ समझ में नही आता। हो सकता है कि मतङ्ग के समक्ष नाट्यशास्त्र का कोई और पाठ रहा हो या उनको गुरुपरम्परा से इस जाति में निषाद का अल्पत्व प्राप्त हुआ हो। मतङ्ग ने किसी भरत को अपना गुरु कहा है।[९७] मतङ्ग इस जाति में निषाद का अल्पत्व 'वचन' के परिणामस्वरूप अपवाद रूप में मानते हैं।

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"रक्तगान्धारी में धैवत और ऋषभ के अतिरिक्त अन्य स्वर अश होते हैं। षड्ज-गान्धार की सगति ऋषभ के अतिरिक्त अन्य स्वरो के साथ करनी चाहिए। रिलोप

९६—रक्तगान्धार्या षड्जमध्यमपञ्चमगान्धारनिषादा ग्रहा अशाश्च। पञ्चस्वर-परस्तार। न्यासपरस्तत्परो वा मन्द्र। ऋषभहीन षाडवम्। रिधहीनमौडु-वितम्। पूर्णावस्थायाम् ऋषभ-धैवतयोरल्पत्वम्। शेषाणा बाहुल्यम्। **निषाद-स्याशत्वाद् बहुत्वे प्राप्ते वचनादबहुत्वम्।** षाडवे धैवतस्याल्पत्वम्। ऋषभस्य न कदाचिदपि। औडुविते सर्वेषामशत्वान्न कस्याप्यल्पत्वम्। उक्तभङ्ग्या शेषाणा बाहुल्यम्। न्यासो गान्धार एव। अपन्यासस्तु मध्यम। षड्जगान्धा-रयोस्तु सञ्चार। ऋषभादिमूर्च्छना। करुणो रस। ताल पञ्चपाणि। एकद्विचतुष्कलेषु चित्रवार्तिकदक्षिणेषु मागधीसम्भावितपृथुला गीतय।

—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ५१६

९७—भरत गुरुमाह मतङ्ग। —भ० को०, पृ० ४२४

और रिषलोप से षाडव और औडुव रूप होता है। निषाद और धैवत का बाहुल्य है। पञ्चम अंश होने पर षाडवद्वेषी होता है। षड्ज, निषाद, मध्यम और पञ्चम अंश होने पर औडुवद्वेषी होते हैं। षड्ज-गान्धार की भी परस्पर सङ्गति करनी चाहिए। षाड्जी के समान पञ्चपाणि इत्यादि ताल है। मूर्च्छना ऋषभादि है। तृतीय अंक की ध्रुवा में विनियोग है। इस रक्तगान्धारी में गान्धार न्यास और मध्यम अपन्यास है।"[९८]

मतङ्गकिन्नरी पर ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर रक्तगान्धारी के विभिन्न रूपों की स्थिति इस प्रकार होगी—

पर्दे	स्वर
०	रे
१	ग
२	म
३	प
४	ध
५	नि
६	स
७	रे
८	ग
९	म
१०	प
११	ध
१२	नि
१३	स
१४	रे
१५	ग
१६	म
१७	प
१८	ध

गान्धारांश रक्तगान्धारी—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें पर्दे से मध्य एवं पन्द्रहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर निषाद और प्राप्त कर लेने तथा मतङ्गोक्त तार-स्थानीय पाँच स्वर तथा षड्ज-ऋषभ भी प्राप्त कर लेने से तारावधि की पराकाष्ठा प्राप्त हो जायगी। न्यासस्वर से अवरोह गति में पर अतिमन्द्र ऋषभ मेरु पर मिल जायगा।

मध्यमांश रक्तगान्धारी—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर नि, स भी प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर मिल जायेंगे।

पञ्चमांश रक्तगान्धारी—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर नि, स, रे प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वर प्राप्त हो जायेंगे।

निषादांश रक्तगान्धारी—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें पर्दे से तारस्थान की प्राप्ति हो जायगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे जिनमें न्यास स्वर गान्धार भी है।

९८—अंशा. स्यू रक्तगान्धार्यां पञ्च धर्षभवर्जिता।
रिमतिक्रम्य सगयो कार्य्यं सन्निधिमेलने॥

षड्जांश रक्तगान्धारी

चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्य और तेरहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी, तारस्थानीय निषाद भी अठारहवें पर्दे पर प्राप्त किया जा सकता है। मेरु से पाँचवें पर्दे तक मन्द्रस्थानीय छ स्वर मिलेंगे।

(१३) कैशिकी

महर्षि भरत का कथन है—

"ऋषभ के अतिरिक्त अन्य सभी स्वर कैशिकी के अश होते है। यही स्वर अपन्यास होते है। गान्धार और निषाद न्यास होते है। धैवत और निषाद अश होने पर 'पञ्चम' न्यास होता है, कभी इस जाति में ऋषभ भी अपन्यास होता है। ऋषभ के लोप से इस जाति में षाडव और धैवत-ऋषभ के लोप से औडुव रूप बनता है। इस जाति में षड्ज (निषाद ?) पञ्चम बली होते है। इस जाति में विशेषतया ऋषभ का दौर्बल्य और लघन है। स्वर-सञ्चार षड्जमध्या के समान है।"[९९]

दत्तिल* का कथन है—

"कैशिकी में ऋषभ अनशस्वर है, द्विश्रुति दोनो स्वर न्यास है। इसमें क्रमश ऋषभ

रिलोपरिधलोपाभ्या षाडवौडुवमिष्यते।
बहुत्व निधयोरश पञ्चमो द्वेष्टि षाडवम्॥
द्विषन्त्यौडुवित षड्जनिमपा सगतौ सगौ।
पञ्चपाण्यादि षाड्जीवद् ऋषभादिस्तु मूर्च्छना।
तृतीयप्रेक्षणगत—ध्रुवाया विनियोजनम्॥
अस्या रक्तगान्धार्य्या गान्धारो न्यास। मध्यमोऽपन्यास।
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २४०–४२

९९—कैशिक्यशास्तु विज्ञेया स्वरा सर्वेर्षभ विना।
एत एव ह्यपन्यासा न्यासौ गान्धारसप्तमौ॥
धवतेंऽशे निषादे च न्यास पञ्चम इष्यते।
अपन्यास कदाचिच्च ऋषभोऽपि भवेदिह॥
आर्षभ्य षाडव चात्र धैवतर्षभवर्जितम्।
तथा चौडुवित कार्य्य बलिनौ षड्ज (चान्त्य) पञ्चमौ॥
दौर्बल्य ऋषभस्यात्र लघन च विशेषत।
षड्जमध्यावदत्रापि सचारस्तु विधीयते॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४५२–४५३

*अप्राप्त होने के कारण मतङ्ग-लक्षण नही दिया जा रहा है।

और धैवत का लोप करना चाहिए। निषाद और धैवत के अंश होने पर पञ्चम भी न्यास होता है। कुछ लोग अंशस्वरों के समान ही निषाद को भी अपन्यास स्वर कहते हैं। इस जाति में पञ्चम और निषाद बलवान् हैं।"[१००]

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"कैशिकी जाति में ऋषभ के अतिरिक्त स्वर अंश होते हैं। जब नि, ध अंश हों, तो न्यासस्वर पञ्चम तथा अन्य अवस्थाओं में द्विश्रुतिस्वर (ग, नि) न्यास होते हैं। अन्य (मतङ्ग आदि) नि, ध की अंशावस्था में नि, ग, प तीनों स्वरों को न्यास मानते हैं। रिलोप और रिधलोप से षाडव-औडुव प्रकार बनते हैं। ऋषभ अल्प, नि, प बहुल तथा अंशस्वरों में परस्पर संगति है। क्रमशः पञ्चम और धैवत षाडव और औडुव अवस्थाओं के विरोधी हैं। पञ्चपाणि इत्यादि षाड्जी के समान हैं। मूर्च्छना गान्धारादि है। पञ्चम अंक की ध्रुवा में विनियोग है। इस जाति में गान्धार-पञ्चम-निषाद न्यास हैं। ऋषभ के अतिरिक्त छहों स्वर अथवा (कुछ लोगों की दृष्टि में) सातों स्वर अपन्यास हैं।"[१०१]

भरतनाट्यशास्त्र के बम्बई-संस्करण का 'बलिनौ षड्ज-पञ्चमौ' पाठ लेखन-प्रमाद का परिणाम है। काशी-संस्करण में 'बलिनौ चान्यपञ्चमौ' पाठ है, जो कल्लिनाथ द्वारा दिये हुए शुद्ध पाठ 'बलिनौ चान्त्यपञ्चमौ' का अशुद्ध रूप है। दत्तिल और शार्ङ्गदेव ने भी इस जाति में अन्त्य (अन्तिम स्वर निषाद) और पञ्चम को ही बली माना है।

१००—कैशिक्यामृषभोऽनंशो वि (धै?) न्यासौ द्विश्रुती मतौ।
ऋषभो धैवतश्चैव हेयावस्था यथाक्रमम्॥
पञ्चमोऽपि भवेन्न्यासो निषादेंऽशे सधैवते।
ऋषभ स्यादपन्यास कैश्चिदुक्तोऽशवत्तया।
पञ्चमो बलवानस्या स्यान्निषादस्तथैव च॥—दत्तिल, भ० को०, पृ० १५१

१०१—कैशिक्यामृषभान्येऽशा निधावंशौ यदा तदा।
न्यास पञ्चम एव स्यादन्यदा द्विश्रुती मतौ॥
अन्ये तु निगपान् न्यासान् निधयोरंशयोर्विदु।
रिलोपरिधलोपेन षाडवौडुवित मतम्॥
रिरल्पो निपबाहुल्यमंशाना सगतिर्मिथ।
षाडवौडुविते द्विष्ट क्रमात् पञ्चमधैवतौ॥
षाड्जीवत्पञ्चपाण्यादि गान्धारादिस्तु मूर्च्छना।

मतङ्गकिन्नरी पर गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने से कैशिकी की विभिन्न अवस्थाएँ यो होगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	स
१३	रे
१४	ग
१५	म
१६	प
१७	ध
१८	नि

गान्धाराश कैशिकी—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अठारहवें पर्दे पर षड्ज और ऋषभ भी प्राप्त किये जा सकते है। मन्द्रस्थान में गान्वार और निपाद दोनो न्यासस्वर मिल जायँगे।

मध्यमाश कैशिकी—चिकारियाँ मध्यम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय स, रे, ग अठारहवें पर्दे पर प्राप्त किये जा सकते हैं।

पञ्चमांश कैशिकी—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर दूसरे पर्दे से मन्द्र, नवें से मध्य और सोलहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय स, रे, ग, म भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त किये जा सकते है।

धैवताश कैशिकी—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय स, रे, ग भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त किये जा सकते हैं। इस अवस्था में न्यासस्वर 'पञ्चम' मन्द्र एव अतिमन्द्र स्थान में भी मिलेगा।

निषादांश कैशिकी—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य और अठारहवें पर्दे से तारस्थान की प्राप्ति होगी, जिस पर तार स, रे, ग, म भी प्राप्त किये जा सकते है। इस अवस्था में न्यास पञ्चम की मन्द्र एव मन्द्रतम अवस्थाएँ भी प्राप्त होगी।

पञ्चमप्रेक्षणगतध्रुवाया विनियोजनम् ॥
अस्या कैशिक्या गान्धारपञ्चमनिपादा न्यासा। रिवर्ज्या षट् सप्त वा स्वरा अपन्यासा।

—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २४४–२४५

षड्जांश कैशिकी—चिकारियाँ षड्ज में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे, जिनमें गान्धार और निषाद न्यासस्वर भी हैं।

(१४) मध्यमोदीच्यवा

महर्षि भरत का कथन है—

"मध्यमोदीच्यवा का अंशस्वर पञ्चम है। अन्य सब विशेषताएँ गान्धारोदीच्यवा-जैसी हैं।"[१०२]

महाराज हरिपाल का कथन है—

"इस जाति में पञ्चम अंश है और यह नित्य सम्पूर्ण है। इसका अवशिष्ट लक्षण गान्धारोदीच्यवा जैसा है।"[१०३]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"मध्यमोदीच्यवा में पञ्चम अंश होता है, नित्य सम्पूर्ण जाति है। अन्य लक्षण गान्धारोदीच्यवा-जैसे जानने चाहिए। मूर्च्छना मध्यमादि है और ताल चञ्चत्पुट है। चतुर्थ अंक के ध्रुवा-गान में इसका विनियोग है। इस जाति में न्यासस्वर मध्यम है।"[१०४]

मतङ्गकिन्नरी पर मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने से इसकी स्थिति इस प्रकार होगी—

१०२—मध्यमोदीच्यवायास्तु पञ्चमोऽंश प्रकीर्तित।
शेषो विधिस्तु कर्तव्यो गान्धारोदीच्यवागत॥
—भरत०, व० स०, पृ० ४५०

१०३—तत्रांश पञ्चमो नित्य साप्तस्वर्य्यञ्च दृश्यते।
गान्धारोदीच्यवावत् स्यात् शिष्टमस्यास्तु लक्षणम्॥
—हरिपाल, व० स०, पृ० ४५०

१०४—पञ्चमांशा सदा पूर्णा मध्यमोदीच्यवा मता।
लक्ष्म शेष विजानीयाद् गान्धारोदीच्यवागतम्॥
मूर्च्छना मध्यमादि स्यात्तालश्चञ्चत्पुटो मत।
चतुर्थस्य प्रेक्षणस्य ध्रुवाया विनियोजनम्॥
अस्या मध्यमोदीच्यवाया मध्यमो न्यास।
—सं० र०, स्वरा०, अ० स०, पृ० २४८–४९

पर्दे	स्वर
०	म
१	प
२	ध
३	नि
४	स
५	रे
६	ग
७	म
८	प
९	ध
१०	नि
११	स
१२	रे
१३	ग
१४	म
१५	प
१६	ध
१७	नि
१८	स

पञ्चमाश मध्यमोदीच्यवा—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तारस्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय रे, ग, म भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त हो जायँगे।

यद्यपि मतङ्ग का लक्षण हमें प्राप्त नही है, परन्तु जिन-जिन जातियो के मतङ्गलक्षण प्राप्त है, वे सिद्ध करते है कि शार्ङ्गदेव ने जातियो की मूर्च्छनाओ का निर्देश मतङ्ग के अनुसार किया है।

इस जाति में केवल पञ्चम स्वर अश होता है, फलत यदि भरत का यह विधान माना जाय कि मन्द्र अश से अवरोहगति में नही जाना चाहिए, तो इस जाति की मूर्च्छना पञ्चमादि रखने से अन्तिम पर्दे पर गान्धार-मध्यम की प्राप्ति करने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण तीनो स्थान मिल सकते है। परन्तु मतङ्ग ने मन्द्रावस्था में न्यासस्वर या मन्द्रगति में उससे पर स्वर पर अधिक बल दिया है, यहाँ तक कि वे अतिमन्द्र स्थान में जाने से भी नही हिचकते। प्रस्तुत जाति की मूर्च्छना मध्यमादि निश्चित करने में अतिमन्द्र न्यास मध्यम प्राप्त करने की चेष्टा कारण है।

मतङ्ग के विधान में तारस्थान के अधिक-से-अधिक पाँच स्वरो का प्रयोग पाया जाता है और मन्द्रगति में न्यास अथवा मन्द्रगति में उससे पर मन्द्र की ओर अधिक ध्यान रहता है।

(१५) कार्मारवी

महर्षि भरत का कथन है—

"कार्मारवी के अश एव अपन्यास स्वर ऋपभ, पञ्चम, धैवत, निषाद हैं। न्यास स्वर पञ्चम है, सदा सम्पूर्ण जाति है, गान्धार की सङ्गति सभी स्वरो के साथ है।"[१०५] प्रयोग में अनश स्वर सदा वली है।[१०६]

१०५—कार्मारव्या स्मृता ह्यशा ऋषभ पञ्चमस्तथा। धैवतश्च निषादश्चाप्यपन्यासस्त एव तु ॥ पञ्चमश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं न चात्र तु। गान्धारस्य विशेषेण सर्वतो गमन भवेत् ॥

—भरत०, व० स०, पृ० ४५२

महाराज नान्यदेव कहते हैं—

"जिसमें निषाद, धैवत, पञ्चम, ऋषभ अंश होते हैं, यही अपन्यास होते हैं और न्यास स्वर पञ्चम होता है, वह कार्म्मारवी जाति है।"[१०७]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"कार्म्मारवी में निषाद, धैवत, ऋषभ और पञ्चम अंश होते हैं। अन्तर मार्ग का आश्रय लेने से अनंश स्वर भी बहुल होते हैं। गान्धार अत्यन्त बहुल है, क्योंकि उसकी संगति सब अंशस्वरों के साथ भी है (और अनंश स्वरों के साथ भी)। चञ्चत्पुट ताल, सोलह कलाएँ और षड्जादि मूर्च्छना है। पञ्चम अङ्क की ध्रुवा में विनियोग है। इस जाति में पञ्चम न्यास तथा अंशस्वर अपन्यास हैं।"[१०८]

मतङ्गकिन्नरी पर षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने से निम्नस्थ स्थिति होगी—

पर्दे स्वर	
०—म	पञ्चमांश कार्मारवी—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर
१—रे	चौथे पर्दे से मन्द्र, ग्यारहवें से मध्य और अन्तिम पर्दे पर ध, नि, स,
२—ग	रे भी प्राप्त करने पर तारस्थानीय पाँच स्वरों की प्राप्ति होगी।
३—म	धैवतांश कार्मारवी—चिकारियाँ धैवत में मिलाने पर पाँचवें
४—प	पर्दे से मध्य और बारहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से
५—ध	चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वरों की प्राप्ति होगी।

१०६—अनंशा बलवन्तस्तु नित्यमेव प्रयोगतः।

—भरत०, कल्लिनाथ द्वारा उद्धृत, स० र०, स्व०, पृ० २५२

हीनस्वर्यं न चात्र स्यादनंशा बलिनस्तथा।

—भरत०, का० सं०, पृ० ३२९

१०७—अंशा निषादधैवतपञ्चमरिषभा भवन्ति यत्रामी।
अपि चैतेऽपन्यासा न्यासस्थाने च पञ्चमो यस्याम्॥

—नान्य०, भ० को०, पृ० १३१

१०८—कार्मारव्यां भवन्त्यंशा निषादरिषधैवताः। बहवोऽन्तरमार्गत्वादनंशाः परिकीर्तिताः॥
गान्धारोऽत्यन्तबहुलः सर्वांशस्वरसंगतिः। चञ्चत्पुटः षोडशात्र कलाः षड्जादिमूर्च्छना। पञ्चमस्य प्रेक्षणन्य ध्रुवायां विनियोजनम्॥
अस्यां कार्मारव्यां पञ्चमो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः।

—स० र०, स्वरा० अ० सं०, पृ० २५३

६—नि ७—स ८—रे ९—ग १०—म ११—प १२—ध १३—नि १४—स १५—रे १६—ग १७—म १८—प	**निषादांश कार्मारवी**—चिकारियाँ निपाद में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्य और तेरहवें पर्दे से, अन्तिम पर्दे पर धैवत भी प्राप्त कर लेने पर, तार स्थान की प्राप्ति होगी। मन्द्रस्थानीय छ स्वर मेरु से पाँचवें पर्दे तक मिल जायँगे। **ऋषभांश कार्मारवी**—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय ध, नि, स भी अन्तिम पर्दे पर प्राप्त हो जायँगे।

(१६) गान्धारपञ्चमी

महर्षि भरत का विधान है—

"गान्धार-पञ्चमी में अंशस्वर पञ्चम होता है, पञ्चम और ऋषभ अपन्यास कहे गये है। गान्धार न्यासस्वर है। इस जाति में षाडव और औडुव रूप नही होता। इसमें 'गान्धारी' और 'पञ्चमी' के समान स्वर-सगति होती है।"[१०९]

दत्तिल का कथन है—

"गान्धारपञ्चमी में प्रयोक्ताओ को अंशस्वर पञ्चम जानना चाहिए, वह पञ्चम (और) ऋषभ अपन्यास होते हैं। गान्धार न्यास होता है। गान्धारी और पञ्चमी में जो सङ्गति इत्यादि बतायी गयी है, वह इसमें भी जाननी चाहिए। किन्तु यह जाति नित्य सम्पूर्ण होती है।"[११०]

१०९—अथ गान्धारपञ्चम्या पञ्चमा (मो)ऽश प्रकीर्तित ।
पञ्चमञ्च (श्च) र्षभश्चैव अपन्यासौ प्रकीर्तितौ ॥
गान्धारोऽत्र भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं न चेष्यते ।
पञ्चम्यास्त्वथ गान्धार्य्या सञ्चारश्च विधीयते ॥—भरत०,का० स०, पृ० ३२९

११०—ज्ञेयो गान्धारपञ्चम्या पञ्चमोऽश प्रयोक्तृभि ।
सर्षभ स्यादपन्यासो न्यासो गान्धार इष्यते ॥

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"गान्धारपञ्चमी में अंशस्वर पञ्चम है, इस जाति में भी गान्धारी और पञ्चमी के समान बहुल स्वरों से (न्यास और अंशस्वरों से अन्य स्वरों की तथा ऋषभ-मध्यम की) संगति करनी चाहिए। इस जाति में चञ्चत्पुट ताल, सोलह कलाएँ और गान्धारादि मूर्च्छना है। चतुर्थ अंक से सम्बद्ध ध्रुवागान में विनियोग है। इस जाति में गान्धार न्यास है। ऋषभ-पञ्चम अपन्यास है।"[111]

मतङ्गकिन्नरी पर गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने से स्थिति यों होगी—

पर्दे	स्वर
०	ग
१	म
२	प
३	ध
४	नि
५	स
६	रे
७	ग
८	म
९	प
१०	ध
११	नि
१२	म

चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर मेरु से मन्द्र, सातवें पर्दे से मध्य और चौदहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय षड्ज और ऋषभ की प्राप्ति भी अन्तिम पर्दे पर की जा सकती है।

गान्धार्य्यामिथ पञ्चम्या यत्सञ्चारादि कीर्तितम्।
तदस्यामपि विज्ञेय किन्तु पूर्णस्वरा सदा॥
—दत्तिल, भ० को०, पृ० १७३

१११—अंशो गान्धारपञ्चम्या पञ्चम सङ्गति पुन।
कर्तव्यात्रापि गान्धारीपञ्चम्योरिव सूरिभि॥
चञ्चत्पुट षोडशात्र कला गादिश्च मूर्च्छना।
तुर्य्यप्रेक्षणसम्बन्धि ध्रुवागाने नियोजनम्॥
अस्या गान्धारपञ्चम्या गान्धारो न्यास। ऋषभपञ्चमावपन्यासौ।
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २५६

१३—रे
१४—ग
१५—म
१६—प
१७—ध
१८—नि

(१७) आन्ध्री

महर्षि भरत का कथन है—

"आन्ध्री में ऋषभ, पञ्चम, गान्धार, निषाद अश होते है, वही अपन्यास होते हैं। न्यासस्वर गान्धार है, षड्ज के लोप से षाडवावस्था बनती है, गान्धार और ऋषभ की परस्पर सङ्गति है और धैवत एव निषाद की। अशस्वर के पश्चात् पर्यायाशो का प्रयोग करते हुए न्यासस्वर तक सचार है।"[११२]

महाराज हरिपाल कहते हैं—

"इस जाति में षड्ज, मध्यम और धैवत के अतिरिक्त अन्य स्वर अश होते हैं। पड्ज के लोप से षाडव रूप वनता है। न्यासस्वर गान्धार है।"[११३]

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"आन्ध्री में नि, रे, ग, प अश हैं, रि-ग और नि-ध की परस्पर सगति है। अशानुक्रम से न्यासस्वर तक जाना चाहिए। मूर्च्छना मध्यमादि है, कला, काल, विनियोग इत्यादि गान्धारपञ्चमी के समान हैं। इस आन्ध्री जाति में गान्धार न्यासस्वर है और अशस्वर ही अपन्यास है।"[११४]

११२—चत्वारोऽशा भवन्त्यान्ध्यामपन्यासास्त एव तु।
गान्धारश्च भवेन्न्यास षड्जोपेत च षाडवम्॥
गान्धारर्षभयोश्चापि सञ्चारस्तु परस्परम्।
सप्तमस्य च षड्जस्य (षष्ठस्य, का० स०) न्यासो गत्यनुपूर्वंश॥
—भरत०, ब० स०, पृ० ४५१

११३—आन्ध्री निरूप्यतेऽथास्या पड्जमध्यमधैवतै।
हीना स्वरा इहाशा स्यु षाडव पड्जवर्जित।
न्यासो गान्धार एव स्यादान्ध्रजातिरुदाहृता॥
—हरिपाल, भ० को०, पृ० ५२

११४—आन्ध्यामशा निरिगपा रिगयोर्निधयोस्तथा।
सगतिर्न्यासपर्यन्तमशानुक्रमतो -व्रजेत्॥

मतङ्गकिन्नरी पर मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने से स्थिति निम्नोक्त होगी—

पर्दे	स्वर
०	म
१	प
२	ध
३	नि
४	स
५	रे
६	ग
७	म
८	प
९	ध
१०	नि
११	स
१२	रे
१३	ग
१४	म
१५	प
१६	ध
१७	नि
१८	स

निषादांश आन्ध्री—चिकारियाँ निषाद में मिलाने पर तीसरे पर्दे से मन्द्र, दसवें से मध्य और सत्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तारस्थानीय रे, ग, म, प भी अन्तिम पर्दे पर मिल जायेंगे।

ऋषभांश आन्ध्री—चिकारियाँ ऋषभ में मिलाने पर पाँचवें पर्दे से मध्य और बारहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। मेरु से चौथे पर्दे तक मन्द्रस्थानीय पाँच स्वर मिलेंगे।

गान्धारांश आन्ध्री—चिकारियाँ गान्धार में मिलाने पर छठे पर्दे से मध्य और तेरहवें पर्दे से तार स्थान की प्राप्ति होगी। अन्तिम पर्दे पर तारस्थानीय ऋषभ भी मिल सकता है। मेरु से पाँचवें पर्दे तक मन्द्र-स्थानीय छ स्वर भी मिलेंगे।

पञ्चमांश आन्ध्री—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर पहले पर्दे से मन्द्र, आठवें से मध्य और पन्द्रहवें से तार स्थान की प्राप्ति होगी। तार-स्थानीय रे, ग, म भी अन्तिम पर्दे पर मिल जायेंगे।

(१८) नन्दयन्ती

महर्षि भरत का विधान है—

"नन्दयन्ती में पञ्चम ही सदा अंश होता है। मध्यम एवं पञ्चम अपन्यास होते हैं। षड्जहीन अवस्था षाडव होती है, वहाँ षड्ज लघनीय है। इस जाति में स्वर-

---

षाडवं षड्जलोपेन मध्यमादिस्तु मूर्च्छना।
पूर्ववत्तु कलाकालविनियोगाः प्रकीर्तिताः॥
अस्यामान्ध्र्या गान्धारो न्यासः। अंशा एवापन्यासाः।
—सं० र०, अ० स०, स्वरा० २६०–२६१

सञ्चार आन्ध्री के समान है, ऋषभ का सदा लघन (बाहुल्य ?) है। प्रयोक्ताओ ने उस ऋषभ तक मन्द्रगति बतायी है।"[११५]

तारगति षड्ज का अतिक्रमण कभी नही करती। गान्धार स्वर इस जाति में ग्रह और न्यास रखना चाहिए।[११६]

टिप्पणी—नाट्यशास्त्र के मुद्रित सस्करणो के पाठानुसार इसमें ऋषभ का लंघन होना चाहिए, परन्तु ये पाठ निश्चितरूपेण लिपिको के प्रमाद का परिणाम हैं। इस जाति में ऋषभ का बाहुल्य ही सर्वसम्मत है। कल्लिनाथ के समक्ष नाट्यशास्त्र का जो पाठ था उसमें भी ऋषभ का बाहुल्य ही भरतोक्त बताया गया है।[११७]

दत्तिल का कथन है—

"नन्दयन्ती में मध्यम और पञ्चम अपन्यास हैं, ग्रह और न्यासस्वर गान्धार है, अशस्वर पञ्चम है। षाडवावस्था आन्ध्री के समान जाननी चाहिए। इस जाति में औडुव अवस्था नही होती। इसमें मन्द्र ऋषभ तक सञ्चार होता है, वह कही लघनीय भी है।"[११८]

दत्तिल के मत में ऋषभ कही लघनीय भी है।

आचार्य शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"नन्दयन्ती में पञ्चम अशस्वर और गान्धार ग्रहस्वर है। कुछ गीतमर्मज्ञ इसमें पञ्चम को भी ग्रहस्वर कहते हैं। इसमें मन्द्र ऋषभ का बाहुल्य है और षड्ज

११५—नन्दयन्त्या भवन्त्य (त्य ?) श पञ्चमो नित्यमेव तु।
स्यातामस्यामपन्यासौ मध्यम पञ्चमस्तथा॥
षाडव षड्जहीन तु लघनीय स एव तु।
आन्ध्रीवत् सचरो नित्यमृषभस्य च लघनम्।
तत्र मन्द्रगति प्रोक्ता नित्य गानप्रयोक्तृभि॥—भरत०, का० स०, पृ० ३२९

११६—तारगत्या तु षड्ज स्यात्कदाचिन्नातिवर्तते।
गान्धारश्च ग्रह कार्यस्तथा न्यासश्च नित्यश॥—भरत०, व० स०, पृ० ४५२

११७—बाहुल्यमृषभस्यात्र तच्च मन्द्रगत स्मृतम्।
—भरत०, कल्लिनाथोद्धृत, स० र०, स्वरा०, पृ० २६७

११८—नन्दयन्त्यामपन्यासौ ज्ञेयौ मध्यमपञ्चमौ।
ग्रहो न्यासश्च गान्धार पञ्चमोऽश प्रकीर्तित॥
आन्ध्रीवत् षाडव ज्ञेयमनौडुवितमेव च।
स्यान्मन्द्रर्षभसञ्चारो लङ्घनीयश्च स क्वचित्॥ —दत्तिल, भ० को०, पृ० ३०३

के लोप से पाडव प्रकार बनता है। मूर्च्छना 'हृष्यका' है। ताल आन्ध्री के समान और कलाएँ उस जाति से द्विगुण अर्थात् बत्तीस हैं। प्रथम अक के ध्रुवागान में विनियोग है। इस नन्दयन्ती में न्यासस्वर गान्धार है तथा मध्यम-पञ्चम अपन्यास हैं।"[119]

मतङ्ग के प्राप्त जातिलक्षणो में हम यह देख चुके हैं कि वे जातियो की मूर्च्छनाएँ बतलाते समय उनके लिए 'उत्तरमन्द्रा', 'सौवीरी' जैसी पारिभाषिक सज्ञाओ का प्रयोग न करके 'पड्जादि' और 'मध्यमादि' जैसी स्वरारम्भ सज्ञाओ का प्रयोग करते हैं। आचार्य शार्ङ्गदेव ने भी इसी पद्धति का अवलम्बन किया है, केवल नन्दयन्ती के लक्षण में वे 'हृष्यका' शब्द का प्रयोग करते हैं। महर्षि भरत की मध्यमग्रामीय पञ्चमादि मूर्च्छना 'हृष्यका' है और मतङ्ग की मध्यमग्रामीय निपादादि 'द्वादशस्वर' मूर्च्छना हृष्यका है। इस जातिविशेष में आचार्य शार्ङ्गदेव के द्वारा 'हृष्यका' शब्द का प्रयोग बतलाता है कि वे इस जाति की मूर्च्छना पञ्चमादि ही मानते हैं, क्योकि मूर्च्छना-लक्षण में वे द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद की चर्चा नही करते और उनकी अपनी 'हृष्यका' पञ्चमादि है।

महर्षि भरत के अनुसार इस जाति के तारस्थान में प, ध, नि, स ये चार स्वर ही प्रयोज्य हैं, क्योकि वे तारस्थान में पड्ज से आगे जाने का निपेध करते हैं, परन्तु 'रुद्रट' इस जाति में भी प, ध, नि, स, रे, ग, म सातो स्वरो का प्रयोग विहित मानते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त तथा कुम्भ ने मतङ्ग के द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन करते हुए, इस जाति में कम से कम पन्द्रह स्वरो (मन्द्र ऋपभ, गान्धार, मध्यम, मध्यस्थानीय पञ्चम, धैवत, निपाद, पड्ज, ऋपभ, गान्धार, मध्यम और तारस्थानीय प, ध, नि, स, रे) का प्रयोग आवश्यक कहा है। आचार्य शार्ङ्गदेव ने भी इस जाति में तार ऋपभ का प्रयोग किया है।

११९—नन्दयन्त्या पञ्चमोऽशो गान्धारस्तु ग्रह स्मृत ।
कैश्चित्तु पञ्चम प्रोक्तो ग्रहोऽस्या गीतवेदिभि ॥
मन्द्रर्पभस्य बाहुल्य पाडव पड्जलोपत ।
हृष्यका मूर्च्छना ताल पूर्ववद् द्विगुणा कला ॥
विनियोगो ध्रुवागाने प्रथमप्रेक्षणे भवेत् ।
अस्या नन्दयन्त्या गान्धारो न्यान । मध्यमपञ्चमावपन्यानौ ।
—न० र०, अ० न०, स्वरा०, पृ० २६४

मतङ्गकिन्नरी पर पञ्चमादि 'हृष्यका' की स्थापना करने पर स्थिति यो होगी—

पर्दे	स्वर
०	प
१	ध
२	नि
३	स
४	रे
५	ग
६	म
७	प
८	ध
९	नि
१०	स
११	रे
१२	ग
१३	म
१४	प
१५	ध
१६	नि
१७	स
१८	रे

पचमाश नन्दयन्ती—चिकारियाँ पञ्चम में मिलाने पर मेरु से छठे पर्दे तक भरतोक्त पूर्ण मन्द्र स्थान मिल जायगा। जो लोग न्यासस्वर गान्धार या मन्द्रगति में उससे पर ऋषभ तक ही जाना चाहते हैं, उन्हें भी अभीष्ट स्वर मिल जायँगे।

सातवें पर्दे से मध्यस्थान की प्राप्ति होगी।

तारस्थान में चतु स्वरावधि-वादियो को तारस्थानीय चार प, ध, नि, स चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें पर्दे पर मिल जायँगे। रुद्रट के अनुसार सम्पूर्ण तार स्थान प्राप्त करने के इच्छुक अन्तिम पर्दे पर गान्धार और मध्यम भी प्राप्त कर सकते हैं।

अभिनवगुप्त, शार्ङ्गदेव और कुम्भ को अनिवार्य रूप में अभिमत तार ऋषभ अन्तिम पर्दे पर स्वत मिलेगा।

सामान्यत जातियो में अशस्वर ही ग्रहस्वर होता है, परन्तु इस जाति में अशस्वर के अतिरिक्त गान्धार को ग्रह मानना सामान्य नियम का अपवाद है।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने यद्यपि ऐसे मत का उल्लेख किया है, जिसमें पञ्चम को भी इस जाति में ग्रह माना जाता है, परन्तु इस जाति के प्रस्तार में उन्हें भी गान्धार का ग्रहत्व अभिमत है।

कुम्भ ने मतङ्गकिन्नरी का जो लक्षण कहा है, उसमें चौदह या अठारह सारिकाएँ आती हैं। चौदह सारिकाओवाली किन्नरी में तीनो सम्पूर्ण स्थान प्राप्त होने कठिन हैं। मेरु से चौदहवें पर्दे तक पन्द्रह ध्वनियाँ तथा चौदहवें पर मीड द्वारा और चार तारस्थानीय ध्वनियाँ सरलतापूर्वक मिल सकती हैं। इस प्रकार चौदह सारिकाओवाली वीणा पर उन्नीस स्वरो की प्राप्ति होती है।

मतङ्ग एव शार्ङ्गदेव तीनो सम्पूर्ण स्थानो के प्रयोग पर बल नही देते। मतङ्ग तो बारह स्वरो को जाति के रूप की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त मानते हैं और शार्ङ्गदेव को मन्द्र एव तार स्थानो में कामचार (यथारुचि सचार) पर आपत्ति नही। कुछ जातियो के प्रस्तारो में शार्ङ्गदेव ने तार स्थान का प्रयोग किया ही नही है।

चतुर्थ अध्याय

जातियों के प्रस्तार

भरत इत्यादि के जाति-लक्षणो का ज्ञान हमें हो चुका है। उन लक्षणो के उदाहरण जातियो के वे प्रस्तार है, जो उन्होने सङ्गीतरत्नाकर में दिये है। ये प्रस्तार हमें जातियो के 'वर्णो,' (स्वरसन्निवेश, गान-वादनक्रिया) का ज्ञान कराते हैं। इन प्रस्तारो के आधार पर हम जातियो के आलाप और विभिन्न अशस्वरो को 'स्थायी' मानने के पश्चात् प्रापणीय रूपो का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

नाट्यशास्त्र में 'आरम्भ' शव्द का प्रयोग है, आचार्य अभिनवगुप्त ने 'आरम्भ' शव्द को 'आलाप' का पर्यायवाची कहा है।[1] जातियो में 'करणों' का प्रयोग महर्षि भरत को अभिमत है।[2] 'करण' के विपय में यथास्थान लिखा जायगा। सावारणतया इन्हें मध्यलय इत्यादि में आलाप का प्रकार समझा जाना चाहिए।

जाति-लक्षणो में नाटक के विभिन्न अको की ध्रुवाओं में जातियो का विनियोग नाटकाश्रित है। नाटक के अतिरिक्त भी जातियो का गान 'समाजों' या 'सभाओं' में प्रयोज्य है। जातियो का प्रयोग शकरस्तुति में भी विहित है।[3]

१–पूर्व रञ्जकवर्गढौकन तत एव तद्गीतस्योपरञ्जकस्य प्राधान्यम्। तस्य च विम्बभूत शारीर शारीरस्वराणा मूलत्वात्। तदनुसन्धानायालापाख्य आरम्भ।

—आचार्य अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, प्र० ख०, द्वि० गा० स०, पृ० २१३

परिगीतक्रियारम्भ आरम्भ इति कीर्तित।

—भरत०, द्वि० गा० स०, प्र० ख०, पृ० २१३

२–एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो दशलक्षणा।
स्वै स्वैश्च करणैर्योज्या पदेष्वभिनयैरपि॥

—भरत०, च० स०, पृ० ४५३

३–ब्रह्मप्रोक्तपदै सम्यक् प्रयुक्ता शकरस्तुतौ।

—आचार्य शार्ङ्गदेव, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ०२७३

जातियो के प्रस्तार में जो गेय 'पद' निर्दिष्ट है, उन्हें 'ब्रह्म-प्रोक्त पद' कहा गया है।[४] उन सभी में शकर की स्तुति है, फलत वे किसी नाटकविशेष का अग नही और शकर-स्तुति में जाति-समाश्रित पदो के उदाहरण है। इन ब्रह्मप्रोक्त पदो के अतिरिक्त अन्य 'पद' भी गाये जा सकते है।[५]

ब्रह्मप्रोक्त पदो की भाषा लौकिक सस्कृत है, उसमें अपाणिनीय प्रयोग नही है, उनका विषय शकरस्तुति है। वे नाटको में प्रयोज्य ध्रुवाओ के उदाहरण न होकर स्वतन्त्र प्रयोग के उदाहरण हैं।

आगम-पुराण-पद्धति में सगीत का आदिम स्रोत भगवान् शकर हैं, ब्रह्मा ने उन्ही से इस विद्या का ज्ञान प्राप्त किया। ये ब्रह्मप्रोक्त पद सम्भवत शैव-परम्परा में प्रचलित पद हैं, जो भगवान् महादेव की महत्ता के प्रतिष्ठापक हैं।

(१) षाड्जी-प्रस्तार

षाड्जी के प्रस्तुत प्रस्तार में अश एव ग्रहस्वर षड्ज है। इसी स्वर से प्रस्तार का आरम्भ हुआ है। न्यासस्वर षड्ज होने के कारण प्रस्तार की समाप्ति भी षड्ज पर हुई है। यद्यपि इस जाति की विकृत अवस्थाओ में गान्धार एव पञ्चम स्वर भी अपन्यास हो सकते हैं, तथापि निम्न प्रस्तार षाड्जी के शुद्ध रूप का उदाहरण है। फलत इसमें षड्ज अर्थात् अशस्वर ही अपन्यास स्वर है, इसी लिए पद के मध्य की समाप्ति (छठी पक्ति के अन्त में) षड्ज पर हुई है।

निम्नलिखित प्रस्तारो में एक-एक पक्ति एक-एक तालभाग का निदर्शन करती है। एक से बत्तीस तक या एक से अडतालीस सख्याएँ ताल एव गीत में प्रयुक्त तालशास्त्रीय 'लघु' (पाँच लघु अक्षरो के उच्चारण-काल) परिभाषा को प्रकट करती हैं। सख्याओ के ऊपर लिखे हुए सकेत तालक्रिया के द्योतक हैं। सभी प्रस्तारो में 'लघु' का परिमाण यही है और वे दक्षिण मार्ग में निबद्ध हैं। इन सब परिभाषाओ का स्पष्टीकरण यथास्थान किया जायगा।

४–'ब्रह्मणा चतुर्मुखेन प्रोक्तैर्ग्रथितै पदै 'त भवललाट–' इत्यादिभि'
—आचार्य कल्लिनाथ टीका, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० २७४

५–स्वातन्त्र्येणापि ब्रह्मप्रोक्तपदैरन्यैर्वा शकरस्तुतावेव विनियोग समुच्चीयते।
—आचार्य कल्लिनाथ टीका, स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १९८

षाड्जी के निम्नलिखित प्रस्तार में अल्पत्व-बहुत्व का परिज्ञान प्रयुक्त स्वरो की सख्या से होगा।

षड्ज	(ग्रह, अश, न्यास)	३६
ऋषभ	(अनश, अल्प)	१२
गान्धार	(अश से सगत, बहुल)	२०
मध्यम		८
पञ्चम		८
धैवत	(अश से सङ्गत)	१६
निषाद	(अनश, अल्प)	१२

इस जाति में धैवत और गान्धार की सङ्गति षड्ज के साथ विशेष रूप से विहित है, फलत मध्यम एव पञ्चम पर्यायाश होने पर भी अधिक प्रयुक्त नही हुए हैं। प्रस्तुत प्रस्तार 'पञ्चपाणि' ताल की दो आवृत्तियो में पूर्ण हुआ है।

पद

त भवललाटनयनाम्बुजाधिक
नगसूनुप्रणयकेलिसमुद्भवम् ।
स्मरकृततिलकपङ्कानुलेपन
प्रणमामि कामदेहेन्धनानलम् ॥

१	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	सा	पा	निध	पा	धनि
	पद	त	—	भ	व	ल	ला	—	ट
२	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	गम	गा	गा	सा	रिग	धस	धा
	पद	न	य	ना	—	बु	जा	—	धि
३	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रिग	सा	रे	गा	सा	सा	सा	सा
	पद	क	—	—	—	—	—	—	—

४	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	धा	नी	निस	निध	पा	सा	सा
	पद	न	ग	सू	—	नु	प्र	ण	य
५	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	नी	धा	पा	धनि	रे	गा	सा	गा
	पद	के	—	लि	—	स	मु	—	द्भ
६	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	सा	धा	धनि	पा	सा	सा	सा	सा
	पद	व	—	—	—	—	—	—	—
७	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	सा	म	प	मा	मा
	पद	स	र	स	क्रु	त	ति	ल	क
८	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सा	गा	मा	धनि	निध	पा	गा	रेग
	पद	प	—	—	का	नु	ले	प	—
९	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	गा	गा	गा	सा	सा	सा	सा
	पद	न	—	—	—	—	—	—	—
१०	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	सा	रे	गरे	सा	मा	मा	मा
	पद	प्र	ण	मा	—	मि	का	—	म

११	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	नी	पा	धनि	रे	गा	रे	म
	पद	दे	–	हें	–	घ	ना	न	–
१२	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		म०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	रिग	मा	रे	गा	सा	मा	सा	सा
	पद	ल	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तारों में मन्द्र स्वरों के ऊपर बिन्दु तथा तार स्वरों के ऊपर खड़ी रेखा है। मध्यस्थानीय स्वर चिह्नहीन है।*

षाड्जी के इस प्रस्तार में 'पा, धा, नि, सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा' इन ग्यारह स्वरों का उपयोग है। इस जाति में प्रयुक्त मन्द्र पञ्चम षाड्जी जाति की शुद्धावस्था में न्यास या अपन्यास स्वर नहीं। पञ्चम विकृतावस्था (पञ्चमांश अवस्था) में अपन्यास हो सकता है, फलत प्रस्तुत प्रस्तार की मन्द्रगति 'कामचार' का उदाहरण है। इसी प्रकार तारस्थान में केवल अंशस्वर षड्ज का प्रयोग भी कामचार का उदाहरण है, क्योंकि महर्षि भरत ने तारस्थान में अंशस्वर से चतुर्थ, पञ्चम अथवा सप्तम स्वर को तार गति की सीमा माना है। मतङ्ग ने षाड्जी जाति की तारस्थानीय गति पञ्चस्वर पर मानी है।

अठारह सारिकाओंवाली किन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करने के पश्चात् उपर्युक्त ग्यारह स्वर छठे पर्दे से सोलहवें पर्दे तक मिल जायेंगे। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम दो स्वर चौदहवें पर्दे पर मींड द्वारा मिलेंगे।

(२) आर्षभी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार ऋषभांश शुद्ध आर्षभी का उदाहरण है। ऋषभ स्वर ग्रह, न्यास एव अपन्यास होने के कारण उसकी स्थिति प्रस्तार के आरम्भ, अन्त तथा मध्य (चतुर्थ

---

* . मन्द्रो बिन्दुशिरा भवेत् ।
ऊर्ध्वरेखाशिरास्तारो लिपौ . ॥

—स० र०, अ० म०, स्वरा०, पृ० १५३

४	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	धा	नी	निस	निध	पा	सा	सा
	पद	न	ग	सू	–	नु	प्र	ण	य
५	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	नी	धा	पा	धनि	रे	गा	सा	गा
	पद	के	–	लि	–	स	मु	–	द्भ
६	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	सा	धा	धनि	पा	सा	सा	सा	सा
	पद	व	–	–	–	–	–	–	–
७	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	सा	म	प	मा	मा
	पद	स	र	स	कृ	त	ति	ल	क
८	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सा	गा	मा	धनि	निध	पा	गा	रेग
	पद	प	–	–	का	नु	ले	प	–
९	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	गा	गा	गा	सा	सा	सा	सा
	पद	न	–	–	–	–	–	–	–
१०	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	सा	रे	गरे	सा	मा	मा	मा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	का	–	म

११	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	नी	पा	धनि	रे	गा	रे	स
	पद	दे	–	हें	–	घ	ना	न	–
१२	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	रिग	मा	रे	गा	सा	सा	सा	सा
	पद	ल	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तारो में मन्द्र स्वरो के ऊपर विन्दु तथा तार स्वरो के ऊपर खडी रेखा है। मध्यस्थानीय स्वर चिह्नहीन हैं।*

षाड्जी के इस प्रस्तार में 'पा, धा, नि, सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा' इन ग्यारह स्वरो का उपयोग है। इस जाति में प्रयुक्त मन्द्र पञ्चम षाड्जी जाति की शुद्धावस्था में न्यास या अपन्यास स्वर नही। पञ्चम विकृतावस्था (पञ्चमाश अवस्था) में अपन्यास हो सकता है, फलत प्रस्तुत प्रस्तार की मन्द्रगति 'कामचार' का उदाहरण है। इसी प्रकार तारस्थान में केवल अशस्वर षड्ज का प्रयोग भी कामचार का उदाहरण है, क्योकि महर्षि भरत ने तारस्थान में अशस्वर से चतुर्थ, पञ्चम अथवा सप्तम स्वर को तार गति की सीमा माना है। मतङ्ग ने षाड्जी जाति की तारस्थानीय गति पञ्चस्वर पर मानी है।

अठारह सारिकाओवाली किन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करने के पश्चात् उपर्युक्त ग्यारह स्वर छठे पर्दे से सोलहवें पर्दे तक मिल जायेंगे। चौदह पर्दोवाली किन्नरी पर अन्तिम दो स्वर चौदहवें पर्दे पर मीड द्वारा मिलेंगे।

(२) आर्षभी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार ऋषभाश शुद्ध आर्षभी का उदाहरण है। ऋषभ स्वर ग्रह, न्यास एव अपन्यास होने के कारण उसकी स्थिति प्रस्तार के आरम्भ, अन्त तथा मध्य (चतुर्थ

---

* मन्द्रो विन्दुशिरा भवेत् ।
ऊर्ध्वरेखाशिरास्तारो लिपौ ॥
—स० र०, अ० म०, स्वरा०, पृ० १५३

तालभाग के अन्त) में है। प्रस्तुत प्रस्तार, बत्तीस लघुवाले चञ्चत्पुट ताल की दो आवृत्तियो में पूर्ण हुआ है। इसमें आठ कलाएँ अर्थात् तालभाग हैं।

स्वर-सख्या निम्नस्थ है—

षड्ज (लोप्य, षाडवकारी, अनश)	१२
ऋषभ (अश, ग्रह, न्यास)	३०
गान्धार (सगतिकारक)	१६
मध्यम (अनश)	१२
पञ्चम (लोप्य, अनश, औडुवकारी)	६
धैवत (अश-सवादी)	१०
निषाद (धैवत-सगतिकारक)	६

पद

गुणलोचनाधिकमनन्तममरमजरमजेयम् ।
प्रणमामि दिव्यमणिदर्पणामलनिकेत मव्रममेयम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	सा	रिग	मा	रिम	गा	रिरि
	पद	गु	ण	लो	–	च	ना	–	धि
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	निध	निध	गा	रिम	मा	पनि
	पद	क	म	न	–	त	म	म	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	धा	नी	धा	पा	पा	सा	गा
	पद	म	ज	र	म	–	–	क्ष	य
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	धनि	रे	गरि	सध	गरि	रे	रे
	पद	म	जे –	–	–	–	–	य	–

५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	मा	गरि	सव	सस	रिस	रिग	मम
	पद	प्र	ण	—	मा	—	—	मि	दिव्य
६	ताल	आ०		ता०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	निव	पा	रे	रे	रिप	गरि	सव	सा
	पद	म	णि	द	—	र्प	णा	—	म
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रिस	रिस	रिग	रिग	मा	मा	मा	गरि
	पद	ल	नि	के	—	—	—	त	—
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	नी	रे	म	गरि	सध	गरि	गरि
	पद	भ	व	म	मे	—	—	—	यम्

प्रस्तुत प्रस्तार में 'ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' नौ स्वरों का उपयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर मन्द्र धैवत धैवतांश अवस्था में अपन्यास होता है। वह प्रस्तुत प्रस्तार में अंशस्वर का संवादी है। तारस्थान का सर्वथा परित्याग कामचार का परिणाम है।

किन्नरी पर पञ्चमादि मूर्च्छना स्थापित करने से ये नौ स्वर दूसरे पर्दे से नवें तक मिल जायेंगे। अठारह पर्दोंवाली किन्नरी पर आठवें पर्दे से सोलहवें पर्दे तक भी ये मिलेंगे।

(३) गान्धारी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार गान्धारांश शुद्ध गान्धारी का उदाहरण है। ग्रह, न्यास एवं अपन्यास स्वर गान्धार प्रस्तार के आदि, अन्त एवं मध्य (आठवें तालभाग के अन्त) में हैं। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों अर्थात् सोलह कलाओं में इसकी पूर्ति हुई है।

स्वरसंख्या निम्नस्थ है—

षड्ज	(पर्यायांश)	१३
ऋषभ	(लोप्य, षाडवकारी)	७
गान्धार	(अंश, ग्रह, न्यास, अपन्यास)	५३
मध्यम	(पर्यायांश)	२४
पञ्चम	(पर्यायांश)	२५
धैवत	(लोप्य, औडुवकारी)	१५
निषाद	(पर्यायांश, अंशसंवादी)	३२

पद

एत रजनिवधूमुखविभ्रमद निशामय वरोरु
तव मुखविलासवपुश्चारुममलमृदुकिरण ममृतभवम् ।
रजतगिरिशिखरमणिशकलशंखवरयुवतिदन्त पंक्तिनिभ
प्रणमामि प्रणयरतिकलहरवनुद शशिनम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	गा	सा	नी	सा	गा	गा	गा
	पद	ए	—	—	—	त	—	—	—
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निस
	पद	र	ज	नि	व	धू	—	मु	ख
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	गा	गा
	पद	वि	—	—	भ्र	म	—	द	—
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२

	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निम
	पद	नि	शा	म	य	व	रो	—	रु
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	मा	सा
	पद	त	व	मु	ख	वि	ला	—	स
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	सा	गा	गा	गा	गम	गा	गा
	पद	व	पुश्	चा	रु	—	म	म	ल
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निम
	पद	मृ	दु	कि	र	ण	—	—	—
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	गा	गा
	पद	म	मृ	त	भ	व	—	—	—
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	मा	पध	रे	गा	मा	सा
	पद	र	ज	त	गि	रि	शि	ख	र
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	म	णि	श	क	ल	श	—	ख
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	गा	गम	पा	पा	धप	मा	निध	निस
	पद	व	र	यु	व	ति	द	–	त
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	निध	पनि	मा	मपरि	गा	गा	गा	गा
	पद	प	–	क्ति	नि	भ	–	–	–
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	पा	नी	गा	मा	गा	सा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	प्र	ण	य
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	सा	गा	गा	गा	गम	गा	गा
	पद	र	ति	क	ल	ह	र	व	नु
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पा	मा	मा	निध	निस	निध	पनि
	पद	द	–	–	–	–	–	–	–
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	परिग	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	श	शि	–	–	न	–	–	–

इस प्रस्तार में 'नि, सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा' इन नौ स्वरो का उपयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर अशस्वर गान्धार का सवादी है, परन्तु न्यास या अपन्यास स्वर नही। तारस्थान में भी कामचार है।

चौदह पर्दोवाली किन्नरी पर धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करने से उपर्युक्त नौ स्वर पहले पर्दे से नवें पर्दे तक मिलेंगे, अठारह पर्दोवाली किन्नरी पर आठवें से सोलहवें पर्दे तक भी मिलेंगे।

(४) मध्यमा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार मध्यमाश शुद्ध मध्यमा जाति का उदाहरण है। ग्रह, न्यास और अपन्यास स्वर मध्यम होने के कारण प्रस्तार के आदि, अन्त, मध्य (चौथे तालभाग के अन्त) में मध्यम का प्रयोग है। प्रस्तुत प्रस्तार चञ्चत्पुट ताल की दो आवृत्तियो अर्थात् वत्तीस लघुओ में सम्पन्न हुआ है।

स्वर-सख्या निम्नस्थ है—

पड्ज	(पर्यायाश)	९
ऋपभ	(पर्यायाश)	७
गान्वार	(लोप्य, पाडवकारी)	४
मध्यम	(अश, ग्रह, न्यास)	२७
पञ्चम	(पर्यायाश)	१२
धैवत	(पर्यायाश)	८
निपाद	(पाडवकारी)	१२

टिप्पणी—इस प्रस्तार में वहुल प्रयोज्य पड्ज नौ वार और अल्प निपाद वारह वार प्रयुक्त हुआ है। परन्तु आलाप में ऐसा नही होगा।

पद

पातु भवमूर्धजाननकिरीटमणिदर्पणम् ।
गौरीकरपल्लवाङ्गुलिसुतेजित सुकिरणम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		शु०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	मा	मा	पा	धनि	नी	धप
	पद	पा	–	–	तु	भ	व	मू	–
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	पम	मा	सा	मा	गा	रे	रे
	पद	र्ध	जा	–	–	न	न	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	पा	मा	रिम	गम	मा	मा	मा	मा
	पद	कि	री	ट	–	–	–	–	–
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	निध	निस	निध	पम	पध	मा	मा
	पद	म	णि	द	–	पं	–	ण	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	रे	रे	नी	रे	रे	पा
	पद	गौ	–	री	–	क	र	प	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	मप	मा	मा	सा	सा	सा	सा
	पद	ल्ल	वा	–	–	गु	लि	–	सु
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	नि	सा	गा	धप	मा	धनि	सा
	पद	ते	–	–	–	–	–	जि	त
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	सा	पा	निधप	मा	मा	मा	मा
	पद	सु	कि	र	–	ण	–	–	–

इस प्रस्तार में 'नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म' बारह स्वरों का उपयोग है। मन्द्रावधि एव तारावधि में कामचार है। मन्द्रतम प्रयुक्त निषाद से अश स्वर मध्यम का षड्ज-मध्यम-भाव है, परन्तु निषाद इस जाति में 'अनश' स्वर है।

ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह पर्दोंवाली किन्नरी पांचवें पर्दे से सोलहवें पर्दे तक हमें ये स्वर देगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम दो स्वर हमें चौदहवें पर्दे पर मीड द्वारा मिलेंगे।

(५) पञ्चमी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमाश शुद्ध पञ्चमी का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास और न्यास होने के कारण पञ्चम प्रस्तुत प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में है। यह प्रस्तार चचत्पुट ताल की दो आवृत्तियो में निवद्ध है।

स्वर-सख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अल्प)	८
ऋषभ	(पर्यायाश)	६
गान्धार	(षाडवकारी स्वर)	४
मध्यम	(अल्प)	८
पञ्चम	(अश, ग्रह, न्यास)	२०
धैवत	(अनश)	७
निषाद	(औडुवकारी)	१५

पद

हरमूर्धजानन महेशममरपतिवाहुस्तम्भनमनन्तम्, ।
त प्रणमामि पुरुषमुखपद्मलक्ष्मीहरमम्बिकापतिमजेयम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	धनि	नी	नी	मा	नी	मा	पा
	पद	ह्	र	मू	—	र्ध	जा	—	न
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१२	१४	१५	१६
	स्वर	गा	गा	मा	सा	मा	मा	पा	पा
	पद	न	म	हे	—	श	म	म	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पा	पा	धा	नी	नी	नी	गा	मा
	पद	प	ति	वा ।		हु	स्त	—	म

४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	मा	धा	नी	निध	पा	पा	पा
	पद	न	म	न	—	त	—	—	—
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	प्र	ण	मा	—	मि	पु	रु	ष
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	निंग	सा	सध़	नी	नी	नी	नी
	पद	मु	ख	प	द्म	—	ल	—	क्ष्मी
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	स्स	सा	मा	पा	पा	पा	पा
	पद	ह	र	म	—	बि	का	—	प
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	मा	धा	नी	पा	पा	पा	पा
	पद	ति	म	जे	—	य	—	—	—

इस प्रस्तार में 'म, प, ध, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे' इन तेरह स्वरो का उपयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर मध्यम 'अल्प' स्वर है, परन्तु उसकी सङ्गति ऋषभ के साथ है, मध्यम इस जाति में 'न्यास' या 'अपन्यास' स्वर नही, न्यास से परे है। फलत इस प्रस्तार की मन्द्रगति कामचार का परिणाम है। तारस्थान में प्रयुक्त अन्तिम स्वर ऋषभ इस जाति में पञ्चम का सवादी अवश्य है और अशस्वर से पञ्चम है।

ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर किन्नरी दूसरे पर्दे से चौदहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त तेरह स्वर प्राप्त करा देगी।

(६) धैवती-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार धैवतांश शुद्ध धैवती का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास एव न्यास स्वर धैवत प्रस्तार के आदि, मध्य एव अन्त में विद्यमान हैं। पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियो अर्थात् बारह तालभागो में प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-सख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(षाडवकारी)	२१
ऋषभ	(पर्यायांश, बली)	१०
गान्धार	(बली)	१०
मध्यम	(अनश)	१५
पञ्चम	(औडुवकारी)	१०
धैवत	(अंश, ग्रह, न्यास)	३५
निषाद	(बली)	१९

प्रस्तुत प्रस्तार में अनश एव षाडवकारी षड्ज का प्रयोग बली स्वरो की अपेक्षा अधिक हुआ है। अनश मध्यम भी बली स्वरो की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त है।

पद

तरुणामलेन्दुमणिभूषितामलशिरोज
भुजगाधिपैककुण्डलविलासकृतशोभम् ।
नगसूनुलक्ष्मीदेहार्धमिश्रितशरीर
प्रणमामि भूतगीतोपहारपरितुष्टम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	निध	पध	मा	मा	मा	मा
	पद	त	रु	णा	—	म	लें	—	दु
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
					।	।	।	।	।
	स्वर	धा	धा	निध	निस	सा	सा	सा	सा
	पद	म	णि	भू	—	पि	ता	—	म

पद

त सुरवन्दितमहिषमहासुरमथनमुमापतिं भोगयुतम् ,
नगसुतकामिनीदिव्यविशेषकसूचकशुभनखदर्पणकम् ।
अहिमुखमणिखचितोज्ज्वलनूपुरबालभुजङ्गमरवकलितम् ,
द्रुतमभिव्रजामि शरणमनिन्दितपादयुग्मपङ्कजविलासम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	नी	नी	सा॑	धा	नी	नी
	पद	त	–	सु	र	व	–	दि	त
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	पा	मा	सा	धा	नी	नी	नी	नी
	पद	म	हि	ष	म	हा	–	सु	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	गा	गा	नी	नी	धा	नी
	पद	म	थ	न	मु	मा	–	प	तिं
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा॑	सा॑	धा	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	भो	–	ग	यु	त	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	गा	मा	मा	मा	मा
	पद	न	ग	सु	त	का	–	मि	नी

	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	पा	धा	पा	मा	मा	मा	मा
	पद	दि	—	व्य	वि	शे	—	ष	क
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे̍	गा̍	सा̍	सा	रे̍	गा̍.	नी	नी
	पद	सू	—	च	क	शु	भ	न	ख
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	पा	धनि	नी	नी	नी	नी
	पद	द	—	पं	ण	क	—	—	—
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	सा	मा	मा	मा	मा
	पद	अ	हि	मु	ख	म	णि	ख	चि
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	मा	मा	नी	धा	मा	मा
	पद	तो	—	ज्ज्व	ल	नू	—	पु	र
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	धा	नी	नी	रे	गा	मा	मा
	पद	वा	ल	—	भु	ज	ग	—	म
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मा	पा	धा	नी	नी	नी	नी
	पद	र	व	क	लि	—	त	—	—

१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	नी	नी	रे	रे	रे	रे
	पद	द्रु	त	म	भि	व्र	जा	–	मि
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	मा	मा	मा	रे	गा	सा	सा
	पद	श	र	ण	म	निं	–	दि	त
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	मा	रे	गा	सा	धा	नी	नी
	पद	पा	–	द	यु	ग	प	–	क
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	मा	रे	गा	नी	नी	नी	नी
	पद	ज	वि	ला	–	स	–	–	–

इस प्रस्तार में 'म, प, ध, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प' सोलह स्वरो का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम स्वर के साथ अशस्वर निपाद का सवाद-सम्वन्ध है। परन्तु मध्यम इस जाति में अनश है, तारतम प्रयुक्त स्वर पञ्चम भी 'अनश' स्वर है। मन्द्र एव तार सीमाओ में कामचार है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोवाली किन्नरी पहले पर्दे से सोलहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त सोलह स्वर प्राप्त करा देगी। चौदह सारोवाली किन्नरी पर अन्तिम दो स्वर हमें चौदहवें पर्दे पर मीड द्वारा प्राप्त होगे।

(८) षड्जकैशिकी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार षड्जाश षड्जकैशिकी का उदाहरण है। ससर्गज विकृत जाति होने के कारण इसका न्यासस्वर गान्धार अशस्वर से भिन्न है। प्रस्तार का आरम्भ अशस्वर षड्ज से, उत्तरार्ध का आरम्भ अपन्यासस्वर षड्ज से तथा अन्त न्यासस्वर गान्धार पर हुआ है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियो में प्रस्तार की पूर्ति हुई है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अश, ग्रह, अपन्यास)	३३
ऋषभ	(दुर्बल)	१८
गान्धार	(पर्यायाश)	१५
मध्यम	(दुर्बल)	२०
पञ्चम	(पर्यायांश)	१८
धैवत	(अनश)	२८
निषाद	(अनश)	१४

धैवत और निषाद अनश होने पर भी मध्यम और ऋषभ स्वरो की अपेक्षा, रत्नाकर में बहुल विहित है ।

पद

देवमसकलशशितिलक द्विरदगति
निपुणमति मुग्धमुखाम्बुरुहदिव्यकान्तिम् ।
हरमम्बुदोदधिनिनादमचलवरसूनु-
देहार्धमिश्रितशरीर प्रणमामि तमहमनुपममुखकमलम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	मा	पा	गरि	मग	मा	मा
	पद	दे	–	–	–	–	–	–	–
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	मा	मा	सा	सा	सा	सा
	पद	व	–	–	–	–	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	धा	पा	पा	धा	धा	रे	रिम
	पद	अ	स	क	ल	श	शि	ति	ल

४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	रे	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	क	–	–	–	–	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	पा	धनि	मा	मा	पा	पा
	पद	द्वि	र	द	ग	तिं	–	–	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	धा	पा	धनि	धा	धा	पा	पा
	पद	नि	पु	ण	म	तिं	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	सा	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	मु	–	ग्ध	–	मु	खा	–	बु
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	धा	पा	धा	धनि	धा	धा	धा
	पद	रु	ह	दि	–	व्य	का	–	तिम्
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	रिग	सा	रिग	धा	धा
	पद	ह	र	म	–	बु	दो	–	द
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	धा	पा	पा	धा	धा	नी	नी
	पद	वि	नि	ना	–	द	–	–	–

११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	रे	गा	सा	सा	मा	सा	गा
	पद	अ	च	ल	व	र	सू	–	नु
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	रिंस	रें	सरिं	रें	सरि	सा	सा
	पद	दे	–	हा	–	र्ध	मि	–	श्रि
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सरि	रे	सरि	रे	सा	सा	सा
	पद	त	श	री	–	र	–	–	–
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	मा	मा	निध	पध	मा	मा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	तम	ह्	–
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	पा	पम	पा	पम	पध	रिग
	पद	अ	नु	प	म	मु	ख	क	म
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		म०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	गा	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	ल	–	–	–	–	–	–	–

इस प्रस्तार में 'स, रें, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' चौदह स्वरो का उपयोग है। यहां मन्द्रस्थान में महर्षि भरत के अनुसार मन्द्रावधि की अन्तिम सीमा अंशस्वर (षड्ज) का प्रयोग है, परन्तु तारस्थान का प्रयोग सर्वथा लुप्त है।

षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने पर किन्नरी मेरु से तेरहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त चौदह स्वरों की प्राप्ति करा देगी।

(९) षड्जोदीच्यवा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार षड्जाश षड्जोदीच्यवा का उदाहरण है। आरम्भ, मध्य और अन्त में क्रमश अंश, ग्रह षड्ज, अपन्यास षड्ज और न्यास स्वर मध्यम है। पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियो में प्रस्तार पूर्ण हुआ है।

स्वर-सख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अश, ग्रह , अपन्यास)	२७
ऋषभ	(षाडवकारी)	०
गान्धार	(अनश, बली)	१५
मध्यम	(पर्य्यायाश)	१४
पञ्चम	(औडुवकारी)	१२
धैवत	(पर्य्यायाश)	२०
निषाद	(पर्य्यायाश)	८

पद

शैलेशसूनुप्रणयप्रसङ्गसविलासखेलनविनोदम्।

अधिकमुखेन्दुनयन नमामि देवासुरेश तव रुचिरम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	सा	मा	मा	गा	गा
	पद	शै	—	—	—	ले	—	—	—
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	मा	पा	मा	गा	मा	मा	धा
	पद	श	—	सू	—	—	—	—	नु
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१८	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	मा	गा	पा	पा	नी	धा
	पद	शै	—	ले	—	श	सू	—	नु

४								
ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	धा	नी	सा	सा	धा	नी	पा	मा
पद	प्र	ण	य	–	प्र	स	–	ग

५								
ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
स्वर	गा	सा	सा	सा	सा	सा	सा	गा
पद	स	वि	ला	–	स	खे	–	ल

६								
ताल	आ०		नि०		वि०		म०	
लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
स्वर	धा	धा	पा	धा	पा	नी	धा	धा
पद	न	वि	नो	–	–	–	द	–

७								
ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
स्वर	सा	गा	गा	गा	गा	गा	मा	सा
पद	अ	–	धि	–	क	–	–	–

८								
ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	नी	धा	पा	धा	पा	धा	धा	धा
पद	मु	–	खे	–	–	–	–	न्दु

०								
ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	सा̍	सा̍	मा	गा	पा	पा	नी	धा
पद	अ	वि	क	–	मु	खे	–	न्दु

१०								
ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	धा	नी	सा̍	सा̍	धा	नी	पा	मा
पद	न	य	न	–	न	मा	–	मि

११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	गा	सा	सा	सा	सा	सा	सा	गा
	पद	दे	–	वा	–	सु	रे	–	श
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	धा	धा	पा	धा	गा	मा	मा	मा
	पद	त	व	रु	चि	र	–	–	–

इस प्रस्तार में अर्धमागधी गीति का भी आश्रय लिया गया है। अर्धमागधी इत्यादि गीतियो की चर्चा यथास्थान की जायगी।

'ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म' सोलहो स्वर प्रयुक्त हुए हैं। मन्द्रतम स्वर न्यास से पर है। तार स्थान में प्रयुक्त तारतम स्वर मध्यम अश-स्वर षड्ज से चतुर्थ है। तारावधि भरत-सम्मत है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोवाली किन्नरी मेरु से पन्द्र-हवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त सोलह स्वर प्राप्त करा देगी। चौदह सारोवाली किन्नरी पर अन्तिम स्वर मीड द्वारा मिलेगा।

(१०) षड्जमध्यमा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार मध्यमाश षड्जमध्यमा का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास और न्यासस्वर मध्यम का प्रयोग जाति के आदि, मध्य एव अन्त में हुआ है। प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियो में पूर्ण हुआ है।

स्वरसख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(पर्य्यायाश)	१६
ऋषभ	(पर्य्यायाश)	१३
गान्धार	(औडुवकारी)	२५
मध्यम	(अश, न्यास, अपन्यास)	४८
पञ्चम	(पर्य्यायाश)	२१
धैवत	(पर्य्यायाश)	२५
निषाद	(षाडवकारी)	८

पद

रजनिवधूमुखविलासलोचन
प्रविकसितकुमुददलफेनसन्निभम् ।
कामिजननयनहृदयाभिनन्दिन
प्रणमामि देव कुमुदाधिवासिनम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	गा	सग	पा	धप	मा	निध	निम
	पद	र	ज	नि	व	धू	–	मु	ख
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
		।	।	।	।।	।।			
	स्वर	मा	मा	सा	रिग	मग	निध	पध	पा
	पद	वि	ला	–	स	लो	–	–	च
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	गा	रे	गा	मा	मा	सा	सा
	पद	न	–	–	–	–	–	–	–
४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मगम	मा	मा	निध	पध	पम	गमम
	पद	प्र	वि	क	सि	त	कु	मु	द
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	सा
	पद	द	ल	फे	न	स	–	–	नि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८

	स्वर	निध	सा	रे	मगम	मा	मा	मा	मा
	पद	भ	–	–	–	–	–	–	–
७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	मगम	मध	धप	पध	पम	गमग
	पद	का	–	मि	ज	न	न	य	न
८	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	सा
	पद	हृ	द	या	भि	न	–	–	दि
९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	मा	धनि	धस	धप	मप	पा	पा
	पद	न	–	–	–	–	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मगम	मा	निंध	पध	पमग	गा	मा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	दे	व	–
११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	पध	परि	रिग	मग	रिग	सधस	सा
	पद	कु	मु	दा	धि	वा	–	–	सि
१२	ताल	आ०	–	नि०	–	वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	निध	सा	रे	मगम	मा	मा	मा	मा
	पद	न	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'ग, म, प, ध, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म' सोलह स्वरों का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर गान्धार पर्य्यायाश है, मतङ्ग की भाषा में 'तत्पर' (न्यास से पर) भी है। तारतम प्रयुक्त स्वर मध्यम अश है।

मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोंवाली किन्नरी हमें छठे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक तेरह स्वर तथा अन्तिम पर्दे पर मीड द्वारा अवशिष्ट तीन स्वर देगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम तीन स्वर नही मिलेंगे और उनसे पूर्ववर्ती प, ध, नि, सं, चौदहवें पर्दे पर मीड द्वारा मिलेंगे।

(११) गान्धारोदीच्यवती-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार षड्जांश गान्धारोदीच्यवा का उदाहरण है। ग्रह स्वर षड्ज, अपन्यास षड्ज और न्यासस्वर मध्यम क्रमश इस प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में हैं। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में प्रस्तार पूर्ण हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है —

षड्ज	(अंश, ग्रह, अपन्यास)	२८
ऋषभ	(षाडवकारी)	६
गान्धार	(बली)	२४
मध्यम	(पर्य्यायांश, न्यास)	२४
पञ्चम	(अनंश)	२२
धैवत	(अनंश)	१४
निषाद	(अनंश)	२७

पञ्चम, धैवत और निषाद अनंश होते हुए भी इस प्रस्तार में अल्पप्रयुक्त नही हैं। जिन जातियों के योग से यह जाति बनी है, उनमें 'गान्धारी' भी है, इन स्वरों की अनल्पता गान्धारी के मिश्रण का परिणाम है।

पद

सौम्यगौरीमुखाम्बुरुहदिव्यतिलक—
परिचुम्बितार्चितसुपाद प्रविकसितहेमकमलनिभम्।
अतिरुचिरकान्तिनखदर्पणामलनिकेत मनसिजशरीर—
ताडन प्रणमामि गौरीचरणयुगमनुपमम्॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	पा	मा	पा	धप	पा	मा
	पद	सौ	—	—	—	—	—	—	—

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	पा	मा	मा	सा	सा	सा	सा
	पद	म्य	–	–	–	–	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	सा	सा	मा	मा	पा	पा
	पद	गौ	–	री	–	मु	खा	–	वु
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	रु	हृ	दि	–	व्य	ति	ल	क
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	धा	निस	नी	नी	नी	नी
	पद	प	रि	चु	–	बि	ता	–	चि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	सा	सा
	पद	त	सु	पा	–	द	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	मग	पा	पध	मा	धनि	पा	पा
	पद	प्र	वि	क	सि	त	हे	–	म
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	सा	सध	नी	नी	धा	धा
	पद	क	म	ल	नि	भ	–	–	–

९

ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
स्वर	गा	रिग	सा	सनि	गा	रिग	सा	सा
पद	अ	ति	रु	चि	र	का	—	ति

१०

ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	सा	सा	सा	मा	मनि	धनि	नी	नी
पद	न	ख	द	—	पं	णा	—	म

११

ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	सा	सा
पद	ल	नि	के	—	त	—	—	—

१२

ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	गा	सा	गा	सा	मा	पा	मा	परिग
पद	म	न	सि	ज	श	री	र	—

१३

ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
स्वर	गा	मा	गा	सा	गा	गा	गा	सा
पद	ता	—	—	ड	न	—	—	—

ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	नी	नी	पा	धा	नी	गा	गा	गा
पद	प्र	ण	मा	—	मि	गौ	—	री

ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	नी	नी	धा	पा	धा	पा	मा	पा
	पद	च	र	ण	यु	ग	म	नु	प
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	पा	सा	सा	मा	मा	मा	मा
	पद	म	–	–	–	–	–	–	–

इस प्रस्तार में 'स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' चौदह् स्वरो का प्रयोग हुआ है। मन्द्र स्थान का प्रयोग सर्वथा नही है। तार स्थान में अश स्वर से सप्तम निषाद भरत-विधान के अनुकूल है।

धैवतादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोवाली किन्नरी दूसरे से पन्द्रहवे पर्दे तक हमें उपर्युक्त चौदह स्वर दे देगी। चौदह सारोवाली किन्नरी पर अन्तिम स्वर अन्तिम पर्दे पर मीड द्वारा मिलेगा।

(१२) रक्तगान्धारी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमाश रक्तगान्धारी का उदाहरण है। प्रस्तार का आरम्भ ग्रहस्वर पञ्चम से और अन्त न्यासस्वर गान्धार पर हुआ है। गेय पद का पूर्वार्धं अपन्यास स्वर मध्यम पर समाप्त हुआ है। पञ्चपाणि ताल की दो आवृत्तियो में यह प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-सख्या इस प्रकार है—

षड्ज		७
ऋषभ	(षाडवकारी)	४
गान्धार	(पर्य्यायाश, न्यास)	१७
मध्यम	(पर्य्यायाश)	२३
पञ्चम	(अश, ग्रह)	३८
धैवत	(औडुवकारी, वहुल)	८
निषाद	(पर्य्यायाश, वहुल)	६

लक्षण में वैवत एव निषाद का वाहुल्य है, परन्तु प्रस्तार में नही है।

पद

त बालरजनिकरतिलकविभूषणविभूतिम् ।
प्रणमामि गौरीवदनारविन्दप्रीतिकरम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	नी	सा	सा	गा	सा	पा	नी
	पद	त	—	बा	—	ल	र	ज	नि
२	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सो	सो	पा	पा	मा	मा	गा	गा
	पद	क	र	ति	ल	क	भू	—	ष
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	पा	धा	पा	मा	पा	धप	मग
	पद	ण	वि	भू	—	—	—	—	—
४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा
	पद	ति	—	—	—	—	—	—	—
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	धा	नी	पा	मप	धा	नी	पा	पा
	पद	—	—	—	—	—	—	—	—
६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	मा	पा	मा	धनि	पा	पा	पा	पा
	पद	—	—	—	—	—	—	—	—

७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	मा	पा	पा	पा	मा	पा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	गौ	–	री
८	ताल	आ०		ता०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
		।	।	।	।	।	।	।	।
	स्वर	रे	गा	मा	पा	पा	पा	मा	पा
	पद	व	द	ना	–	र	विं	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पा	पा	पा	पा	पा	पा	पा	पा
	पद	द	–	–	–	–	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	सा	सा	रे	गा	गा	गा
	पद	प्री	–	ति	क	र	–	–	–
११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
		।	।	।	।।	।	।।		
	स्वर	गा	गा	पा	धम	धा	निधे	पा	पा
	पद	–	–	–	–	–	–	–	–
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
		।	।	।	।।।	।	।		।
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	–	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'म, प, ध, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरो का प्रयोग हुआ है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम 'अंश' से पर है, मध्यमांश अवस्था में अपन्यास भी है। तार स्थान में निषाद तक प्रयोग में कामचार है।

ऋषभादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोवाली किन्नरी दूसरे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक हमें सत्रह स्वर देगी, अन्तिम स्वर अठारहवें पर्दे पर मीड द्वारा मिलेगा। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर चौदहवें पर्दे पर तार ऋषभ मिलेगा, मीड द्वारा अवशिष्ट स्वर प्राप्त करना वादक की कुशलता पर निर्भर है।

(१३) कैशिकी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमाश कैशिकी का उदाहरण है। ग्रह पञ्चम, अपन्यास पञ्चम और न्यास गान्धार क्रमश इस प्रस्तार के आदि, मध्य एव अन्त में प्रयुक्त हुए हैं। पञ्चपाणि की दो आवृत्तियो में प्रस्तुत प्रस्तार की पूर्ति हुई है।

स्वर-सख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(पर्य्यायाश)	९
ऋषभ	(अनश षाडव०)	११
गान्धार	(न्यास)	२०
मध्यम	(पर्य्यायाश)	१७
पञ्चम	(ग्रह, अश)	१५
धैवत	(औडुवकारी)	१४
निषाद	(बली)	२०

प्रस्तुत प्रस्तार में अत्यन्त बली होने के कारण गान्धार एव निषाद का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है। सभी स्वरो का सञ्चार होने के कारण सभी स्वरो का प्रयोग सञ्चारी रूप में है। दुर्बल ऋषभ का भी ग्यारह बार प्रयोग इसी सञ्चार का परिणाम है।

साधारणतया किसी जाति का न्यासस्वर एक होता है, परन्तु इस जाति में गान्धार, पञ्चम एव निषाद तीन न्यासस्वर सम्भव हैं।

प्रस्तुत प्रस्तार में ग्रहस्वर पञ्चम है, इसी लिए हमने इस प्रस्तार में पञ्चम को अश माना है। अश से भिन्न ग्रह केवल नन्दयन्ती जाति में होता है।

पद

केलीहतकामतनुविभ्रमविलास
तिलकयुत मूर्ध्वोर्ध्ववालसोमनिभम्।
मुखकमलमसमहाटकसरोज
हृदि सुखद प्रणमामि लोचनविशेषम्॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	धनि	पा	धनि	गा	गा	गा	गा
	पद	के	–	ली	–	ह	–	त	–
२	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	पा	पा	मा	निध	निध	पा	पा	पा
	पद	का	–	म	त	नु	–	–	–
३	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	सा	सा	रे	रे	रे	रे
	पद	वि	–	भ्र	म	वि	ला	–	स
४	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	सा	रे	गा	मा	मा	मा
	पद	ति	ल	क	यु	त	–	–	–
५	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	मा	धा	नी	धा	मा	धा	मा	पा
	पद	मू	–	र्धो	–	र्ध्व	वा	–	ल
६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	गा	रे	सा	धनि	रे	रे	रे	रे
	पद	सो	–	म	नि	भ	–	–	–
७	ताल	आ०		नि०		वि०		प्र०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	रे	सा	सा	धा	धा	मा	मा
	पद	मु	ख	क	म	ल	–	–	–

८	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	गा	गा	मा	मा	निधनि	नी	नी
	पद	अ	स	म	–	हा	–	ट	–

९	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	गा	नी	नी	गा	गा	गा	गा
	पद	क	स	रो	–	ज	–	–	–

१०	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	गा	नी	नी	निध	पा	पा	पा
	पद	हृ	दि	सु	ख	द	–	–	–

११	ताल	आ०		ता०		वि०		प्र०	
	लघु	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०
	स्वर	मा	पा	मा	पा	पा	पा	मा	मा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	लो	च	–

१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८
	स्वर	सा	मा	गा	निधनि	नी	नी	मा	गा
	पद	न	वि	शे	–	प	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरो का उपयोग हुआ है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर न्यास से पर है, तारतम प्रयुक्त निषाद का प्रयोग कामचार से है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह पर्दोवाली किन्नरी पहले पर्दे से अन्तिम पर्दे तक हमें उपर्य्युक्त अठारह स्वर दे देगी। चौदह पर्दोवाली किन्नरी पर अन्तिम चार स्वर अन्तिम पर्दे पर मीड द्वारा मिलेंगे।

(१४) मध्यमोदीच्यवा-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमाश मध्यमोदीच्यवा का उदाहरण है। ग्रह स्वर पञ्चम, अपन्यास स्वर पञ्चम तथा न्यास स्वर मध्यम क्रमश प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियो में यह प्रस्तार पूर्ण हुआ है।

स्वर-सख्या इस प्रकार है —

षड्ज	(अनश)	८
ऋषभ	(षाडवकारी)	१४
गान्धार	(अनश)	२४
मध्यम	(न्यास)	१६
पञ्चम	(अश, ग्रह)	२८
धैवत	(अनश)	१४
निषाद	(अनश)	४२

इस प्रस्तार में निषाद का प्रयोग बहुल है। यह सामान्य नियम का अपवाद है।

पद

देहार्धरूपमतिकान्तिममलममलेन्दुकुन्दकुमुदनिभ
चामीकराम्बुरुहदिव्यकान्तिप्रवरगणपूजितमजेयम्।
सुराभिष्टुतमनिलमनोजवमम्बुदोदधिनिनादमतिहास
शिव शान्तमसुरचमूमथन वन्दे त्रैलोक्यनतचरणम्॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	धनि	नी	नी	मा	पा	नी	पा
	पद	दे	–	हा	–	र्ध	रू	–	प
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	रे	गा	सा	रिग	गा	गा
	पद	म	ति	का	–	ति	म	म	ल

३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	म	म	लें	—	दु	कु	—	द

४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	धप	मा	निध	निध	पा	पा
	पद	कु	मु	द	नि	भ	—	—	—

५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	चा	—	मी	—	क	रा	—	वु

६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	रिग	सा	सध	नी	नी	नी	नी
	पद	रु	ह	दि	—	—	व्य	का	ति

७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	पा	नी	सा	पा	पा	गा	गा
	पद	प्र	व	र	ग	ण	पू	—	जि

	ताल	आ०		नि०		वि०		सं०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गा	पा	मा	निध	नी	नी	सा	सा
	पद	त	म	जे	—	यं	—	—	—

	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	मा	धनि	पा	पा	पा	पा
	पद	सु	रा	मि	ष्टु	व	म	नि	ल

१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	पा	मा	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	म	नो	ज	–	व	–	म	वु
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पा	मा	पा	नी	नी	नी	नी
	पद	दो	–	द	धि	नि	ना	–	द
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	म	ति	हा	–	स	–	–	–
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	गा	गा	गा	मा	निध	नी	नी
	पद	शि	व	शा	–	त	म	सु	र
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	नी	धप	मा	निध	निध	पा	पा
	पद	च	मू	म	य	न	–	–	–
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	गा	सा	सा	मा	निधनि	नी	नी
	पद	व	–	दे	–	त्रै	लो	क्य	–
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	धा	पा	धा	पा	मा	मा
	पद	न	त	च	र	ण	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरों का प्रयोग है। मन्द्रतम प्रयुक्त स्वर मध्यम 'न्यास' है, तार स्थान में कामचार है। मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारिकाओंवाली किन्नरी पहले पर्दे से अन्तिम पर्दे तक उपर्युक्त अठारह स्वर प्राप्त करा देगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम चार स्वर मींड द्वारा मिलेंगे।

(१५) कार्मारवी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार ऋषभांश कार्मारवी का उदाहरण है। इसका आरम्भ ग्रहस्वर ऋषभ और अन्त न्यासस्वर पञ्चम पर हुआ है। अपन्यास स्वर पञ्चम प्रस्तार के मध्यम में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियों में यह प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-संख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अनंश)	१०
ऋषभ	(अंश, ग्रह)	१९
गान्धार	(अनंश)	२९
मध्यम	(अनंश)	१७
पञ्चम	(पर्य्यायांश, न्यास)	२२
धैवत	(पर्य्यायांश)	८
निषाद	(अनंश)	३४

अनंश स्वरों का बहुल प्रयोग इस जाति की विशेषता है। भरत-विधान इस बहुलता का आधार है।

पद

त स्थाणुललितवामाङ्गसक्तमतितेज प्रसरसौधांशुकान्ति-
फणिपतिमुखमुरोविपुलसागरनिकेत सितपन्नगेन्द्र-
मतिकान्त षण्मुखविनोदकरपल्लवांगुलिविलासकीलन-
विनोद प्रणमामि देवयज्ञोपवीतकम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	रे	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	त	—	स्था	—	णु	ल	लि	त

ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	मा	गा	सा	गा	सा	नी	नी	नी
पद	वा	—	मा	—	ग	स	—	क्त

ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	नी	मा	नी	मा	पा	पा	गा	गा
पद	म	ति	ते	—	ज	प्र	स	र

ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	गा	पा	मा	पा	नी	नी	नी	नी
पद	सौ	—	धां	—	शु	का	—	ति

ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
स्वर	रे	गा	सा	नी	रे	गा	रे	मा
पद	फ	णि	प	ति	मु	ख	—	—

ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	रे	गा	रे	सा	नी	धनि	पा	पा
पद	उ	रो	वि	पु	ल	सा	—	ग

ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	मा	पा	मा	पेरिग	गा	गा	गा	गा
पद	र	नि	के	—	त	—	—	—

ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	रे	रे	गा	सम	मा	मा	पा	पा
पद	सि	त	प	—	भ्र	गे	—	न्द्र

९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	म	ति	का	–	त	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	नी	पा	मा	धा	नी	सा	सा
	पद	प	–	ण्मु	ख	वि	नो	–	द
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	क	र	प	–	ल्ल	वा	–	ङ्गु
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मा	धा	नी	सनिनि	धा	पा	पा
	पद	लि	वि	ला	–	स	की	–	ल
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	न	वि	नो	–	द	–	–	–
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	नी	पा	धनि	गा	गा	गा	गा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	दे	–	व
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	रे	गा	सा	नी	नी	नी	नी
	पद	य	–	शो	–	प	वी	–	त

१६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	धा	धा	पा	पा	पा	पा
	पद	क	–	–	–	–	–	–	–

प्रस्तुत प्रस्तार में 'म, प, ध, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरो का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम 'न्यास से पर' है। तारस्थान में निषाद तक प्रयोग कामचार से है।

षड्जादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह सारोवाली किन्नरी तीसरे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक सोलह स्वर तथा अन्तिम पर्दे पर मीड द्वारा अवशिष्ट दो स्वर प्राप्त करायेगी। चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम छ स्वर प्राप्त करना वादक की कुशलता पर निर्भर है।

(१६) गान्धारपञ्चमी-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमाश गान्धारपञ्चमी का उदाहरण है। प्रस्तार के आरम्भ एव अन्त में क्रमश ग्रहस्वर पञ्चम एव न्यास स्वर गान्धार है। अपन्यास स्वर ऋषभ प्रस्तार के मध्य में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियो में प्रस्तुत प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वरसख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अनश)	१०
ऋषभ	(अनश, अपन्यास)	१४
गान्धार	(अनश, न्यास)	१९
मध्यम	(अनश)	१६
पञ्चम	(अश, ग्रह)	२७
धैवत	(अनश)	१२
निषाद	(अनश)	४८

गान्धार न्यास एव पचम अश से अन्य स्वरो की सङ्गति, ऋषभ और मध्यम से अन्य स्वरो की सङ्गति तथा ऋषभ-मध्यम की पारस्परिक सङ्गति के परिणामस्वरूप निषाद का प्रयोग इस प्रस्तार में सर्वाधिक है।

पद

कान्त वामैकदेशप्रेङ्खोलमान–
कमलनिभ वरसुरभिकुसुमगन्धाधिवासितमनोज्ञ-
नगराजसूनुरतिरागरभसकेलीकुचग्रहलीलं
त प्रणमामि देव चन्द्रार्धमण्डितविलासकीलनविनोदम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	मप	मध	नी	धप	मा	धा	नी
	पद	का	–	–	–	–	–	–	–
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सनिनि	धा	पा	पा	पा	पा	पा	पा
	पद	–	–	त	–	–	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	सा	सा	मा	मा	पा	पा
	पद	वा	–	मैं	–	क	दे	–	श
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	प्रे	–	ङ्खो	–	ल	मा	–	न
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	धप	मा	निध	निध	पा	पा
	पद	क	म	ल	नि	भ	–	–	–
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

	स्वर	पा	पा	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	व	र	सु	र	भि	कु	सु	म
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	रिग	सा	सध	नी	नी	नी	नी
	पद	ग	–	धा	–	धि	वा	–	सि
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	नी	सा	रिस	रे	रे	रे	रे
	पद	त	म	-नो	–	ज्ञ	–	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	गा	सा	निग	सा	नी	नी	नी
	पद	न	ग	रा	–	ज	सू	–	नु
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	मा	नी	मा	पा	पा	गा	गा
	पद	र	ति	रा	–	ग	र	भ	स
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पा	मा	पा	नी	नी	नी	नी
	पद	के	–	ली	–	कु	च	–	ग्र
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	मा
	पद	ह	लीं	ल	–	त	–	–	–
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८

	स्वर	नी	नी	पा	धा	नी	गा	गा	गा
	पद	प्र	ण	मा	–	मि	दे	–	व
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी	नी
	पद	च	–	द्रा	–	र्ध	म	–	डि
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	मा	धा	नी	सनिनि	धा	पा	पा
	पद	त	वि	ला	सकी	ल	–	–	–
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	गा	गा
	पद	न	वि	नो	–	द	–	–	–

इस प्रस्तार में 'म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे' तेरह स्वरो का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम अपन्यास से पर है। तारतम प्रयुक्त स्वर ऋषभ अशस्वर पञ्चम से पाँचवाँ है।

गान्धारादि मूर्च्छना स्थापित करने पर उपर्युक्त तेरह स्वर किन्नरी पर पहले पर्दे से तेरहवें तक मिल जायँगे।

(१७) आन्ध्री-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार गान्धाराश आन्ध्री का उदाहरण है। ग्रह, अपन्यास एव न्यास स्वर गान्धार प्रस्तार के आदि, मध्य और अन्त में है। चञ्चत्पुट ताल की चार आवृत्तियो में प्रस्तुत प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वर-सख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अनश)	७
ऋषभ	(पर्यायाश)	३६
गान्धार	(अश, ग्रह, न्यास)	४४
मध्यम	(अनश)	१५

पञ्चम	(पर्यायाश)	१३
धैवत	(अनश)	४
निषाद	(पर्य्यायाश)	१९

ऋषभ-गान्धार एव निषाद-धैवत की सङ्गति के कारण तथा निषाद के अश सवादी होने के कारण ऋषभ और निषाद का प्रयोग अश की अपेक्षा अल्प तथा इतर स्वरो की अपेक्षा बहुल है।

पद

तरुणेन्दुकुसुमखचितजट त्रिदिवनदीसलिलधौतमुख
नगसूनुप्रणय वेदनिधि परिणाहितुहिनशैलगृहम् ।
अमृतभव गुणरहित तमवनिरविशशिज्वलनजलपवन-
गगनतनु शरण व्रजामि शुभमतिकृतनिलयम् ॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	रे	रे	रे	रे	रे	रे	रे
	पद	त	रु	णे	–	न्दु	कु	सु	म
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	गा	रे	गा	रे	रे	रे	रे
	पद	ख	चि	त	ज	ट	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	रे	गा	गा	रे	रे	मा	मा
	पद	त्रि	दि	व	न	दी	स	लि	ल
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	सा	धनि	नी	नी	नी	नी
	पद	धौ	–	त	मु	ख	–	–	–

५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	रे	नी	रे	धंनि	धनि	पा	पा
	पद	न	ग	सू	–	नु	प्र	ण	य
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	पा	मा	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	वे	–	द	नि	घि	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	रे	गा	सस	मा	मा	पा	पा
	पद	प	रि	णा	–	हि	तु	हि	न
८	ताल	आ०		नि०		वि०		म०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	शै	–	ल	गृ	ह	–	–	–
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	नी	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	अ	मृ	त	भ	व	–	–	–
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	पा	पा	मा	रिग	गा	गा	गा	गा
	पद	गु	ण	र	हि	त	–	–	–
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	नी	नी	रे	रे	रे	रे
	पद	त	म	व	नि	र	वि	श	शि

१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	रे	गा	नी	सा	सा	नी	नी
	पद	ज्व	ल	न	ज	ल	प	व	न
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	पा	पा	मा	रिग	गा	गा	गा	गो
	पद	ग	ग	न	त	नु	—	—	—
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	गा	सम	मा	मा	पा	पा
	पद	श	र	ण	—	म्र	जा	—	मि
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	मा	नी	नी	सा	रे	गा	पा
	पद	शु	भ	म	ति	कृ	त	नि	ल
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		म०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रिग	गा	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	य	—	—	—	—	—	—	—

प्रस्तुत प्रस्तार में 'म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग, म, प, ध, नि' अठारह स्वरो का उपयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर मध्यम इस जाति के अपन्यास स्वरो में है। तारस्थान में प्रयुक्त अन्तिम स्वर अशस्वर गान्धार से पांचवां है।

मध्यमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर अठारह पर्दोवाली किन्नरी मेरु से सत्रहवें पर्दे तक हमें उपर्युक्त अठारह स्वरो की प्राप्ति करा देगी । चौदह पर्दोंवाली किन्नरी पर अन्तिम तीन स्वर मींड द्वारा मिलेंगे ।

(१८) नन्दयन्ती-प्रस्तार

प्रस्तुत प्रस्तार पञ्चमांश नन्दयन्ती का उदाहरण है। केवल इसी जाति में ग्रह-स्वर गान्धार अनंश होने पर भी है, जिससे प्रस्तार का आरम्भ हुआ है। प्रस्तार के मध्य में अपन्यास पञ्चम तथा अन्त में न्यासस्वर गान्धार है। चञ्चत्पुट ताल की आठ आवृत्तियों में यह प्रस्तार सम्पन्न हुआ है।

स्वरसंख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(षाडवकारी)	५१
ऋषभ	(अनंश)	२५
गान्धार	(न्यास)	५९
मध्यम	(अनंश)	५१
पञ्चम	(अंश)	७०
धैवत	(अनंश)	३२
निषाद	(अनंश)	३०

पद

सौम्य वेदाङ्गवेदकरकमलयोनिं तमोरजोविवर्जित हर
भवहरकमलगृह शिव शान्त सन्निवेशनमपूर्व
भूषणलीलमुरगेशभोगभासुरशुभपृथुलम्।
अचलपतिसूनुकरपंकजामलविलासकीलनविनोद
स्फटिकमणिरजतसितनवदुकूलक्षीरोदसागरनिकाशम्।
अजशिर कपालपृथुभाजन वन्दे सुखद
हरदेहममलमधुसूदनसुतेजोऽधिकसुगतियोनिम्॥

प्रस्तार

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	गा	गा	गा	पा	पा	धप	मा
	पद	सौ	–	—	—	—	—	—	—
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

	स्वर	धा	धा	धा	धा	धा	नी	सनिनि	धा
	पद	—	—	—	—	—	—	—	—
३	ताल	आ०		श०		वि०		पु०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पा	पा	पा	पा	पा	पा	पा	पा
	पद	म्य	—	—	—	—	—	—	—
४	ताल	आ		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	नी	मा	पा	गा	गा	गा	गा
	पद	वे	—	दा	—	ङ्ग	वे	—	द
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	रे	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	क	र	क	म	ल	यो	—	निं
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	पा	पा	धा	निध	पा	पा
	पद	त	मो	र	जो	वि	व	—	—
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	मा	पा	गा	गा	गा	गा
	पद	जि	त	—	—	—	—	—	—
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	गम	पा	पा	पा	मा	मा	गा	गा
	पद	हर	—	—	—	—	—	—	—
९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८

	स्वर	धा	नी	मा	पा	गा	गा	गा	गा
	पद	भ	व	ह	र	क	म	ल	गृ
१०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा	मा
	पद	ह	—	—	—	—	—	—	—
११	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	रे	गा	मा	पा	पम	पा	पा	नी
	पद	शि	व	शा	—	त	स	—	नि
१२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रें	रें	रें	रें	पा	पा	मा	मा
	पद	वे	—	श	न	म	पू	—	वं
१३	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	नी	सनिंनिं	धा	पा	पा	पा	पा
	पद	भू	ष	—	ण	ली	—	ल	—
१४	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	नी	मा	पा	गा	गा	गा	गा
	पद	उ	र	गे	—	श	भो	—	ग
१५	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	पा	पा	पा	धा	मा	गा	मा
	पद	भा	—	सु	र	शु	भ	पृ	थु
१६	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२

	स्वर	धा	धा	नी	धा	पा	पा	पा	पा
	पद	ल	—	—	—	—	—	—	—
१७	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	गा	मा	पा	पम	पा	पा	नी
	पद	अ	च	ल	प	ति	सू	नु	—
१८	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रें	रें	रें	रें	पा	पा	पा	पा
	पद	क	र	प	—	क	जा	—	म
१९	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	पा	पा	पा	पा	धा	मा	मा	मा
	पद	ल	वि	ला	—	स	की	—	ल
२०	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	पा	गा	गम	गा	गा	गा	गा
	पद	न	वि	नो	—	द	—	—	—
२१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रें	रें	गा	गा	मा	मा	मा	मा
	पद	स्फ	टि	क	म	णि	र	ज	त
२२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	पा	नी	मा	नी	धा	पा	पा
	पद	सि	त	न	व	दु	कू	—	ल
२३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

	स्वर	सा	सा	धनि	धा	पा	पा	पा	पा
	पद	क्षी	—	रोद	—	सा	—	—	ग
२४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	पा	मा	परिग	गा	गा	सा	सा
	पद	र	नि	का	—	श	—	—	—
२५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रे	रे	गा	गा	मा	मा	पा	पा
	पद	अ	ज	शि	र	क	पा	—	ल
२६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	रे	रे	रे	गा	मा	रिग	मा	मा
	पद	पृ	थु	भा	—	—	ज	न	—
२७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	नी	पा	नी	गा	गा	गा	गा
	पद	व	—	दे	—	सु	ख	द	—
२८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	मा	पा	पा	धा	धनि	निध	मा
	पद	ह	र	दे	—	ह	म	म	ल
२९	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	सा	नी	धा	नी	पा	पा
	पद	म	धु	सू	—	द	न	—	सु
३०	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

	स्वर	रे	रे	रे	रे	मा	पा	धा	मा
	पद	ते	—	जो	—	धि	क	—	सु
३१	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	नी	नी	नी	धा	पा	मा	मा
	पद	ग	ति	यो	—	—	—	—	—
३२	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	परिग	गा	गा	गा	गा	गा	गा
	पद	—	—	नि	—	—	—	—	—

प्रस्तुत प्रस्तार में 'रें, ग, म, प, ध, नि, स, रे, ग,म, प, ध, नि, स, रे' पन्द्रह स्वरो का प्रयोग है। प्रयुक्त मन्द्रतम स्वर 'न्यास' से पर तथा अश-सवादी है। तारस्थानीय ऋषभ अशस्वर पञ्चम से पाँचवाँ है।

पञ्चमादि मूर्च्छना स्थापित करने पर उपर्युक्त पन्द्रह स्वर, अठारह सारोवाली किन्नरी, चौथे पर्दे से अठारहवें पर्दे तक प्राप्त करायेगी। चौदह पर्दोवाली किन्नरी पर अन्तिम चार स्वर मीड द्वारा मिलेंगे।

पंचम अध्याय

साधारण

्वर-साधारण

पूर्व स्थिति का जहाँ पूर्णतया अन्त न हो और पर स्थिति को भी जहाँ अनागत कहा जा सके, वह स्थिति 'सावारण' स्थिति होती है। मान लीजिए, छाया में ाने पर शीत का अनुभव होता है और धूप में जाने पर पसीना आने लगता है, तो तो यही कहा जा सकता है कि शिशिर का अन्त हो गया है (क्योंकि छाया में ीत का अनुभव होता है) और न यही कहा जा सकता है कि वसन्त नही आया है, क्योकि धूप में पसीना आ रहा है)। फलत शिशिर और वसन्त दोनो की विशेप-ाओ से युक्त इस काल में 'काल-साधारणता' है।[1]

इसी प्रकार यदि कोई स्वर अपनी शुद्ध स्थिति की अपेक्षा चढ गया हो और अगले ्वर तक भी न पहुँचा हो, तो उसकी 'सावारण' अवस्था होगी, क्योकि न तो वह अपने ूल स्थान पर रहा है और न उसने अग्रिम स्वर की स्थिति प्राप्त की है।

गान्वार जब अपने स्थान से दो श्रुति चढ जाता है, अर्थात् मध्यम की दो श्रुतियो ा ग्रहण कर लेता है, तब 'अन्तरगान्वार' कहलाता है।[2]

निपाद जब अपने स्थान से दो श्रुति चढ जाता है, अर्थात् षड्ज की दो श्रुतियो ा ग्रहण कर लेता है, तब 'काकलीनिपाद' कहलाता है।[3]

१—छायासु भवति शीत प्रस्वेदो भवति चातपस्थस्य।
न च नागतो वसन्तो न च नि:शेप शिशिरकाल: ॥
इति कालसावारणता। —भरत०, व० स०, पृ० ४३६

२—एव गान्वारोऽप्यन्तरस्वरसञ्ज्ञो गान्वारो न मध्यम।
—भरत०, व० स०, पृ० ४३७

३—द्विश्रुतिप्रकर्पणान्निपादवान् काकलीसञ्ज्ञो निपाद:, न षड्ज। द्वाभ्याम् अन्तर-स्वरत्वात्। —भरत०, व० स०, पृ० ४३७

निषाद जब अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति चढ़ता है तब 'कैशिकनिषाद' कहलाता है और षड्ज जब अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति उतर जाता है, तब 'च्युतषड्ज' कहलाता है। ये दोनो क्रियाएँ होने पर कैशिकनिषाद और च्युतषड्ज में दो श्रुतियो का अन्तर रह जाता है।[४]

गान्धार जब अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति चढता है, तब 'साधारण गान्धार' कहलाता है और और जब मध्यम अपने स्थान से एक प्रमाणश्रुति उतर जाता है, तब 'च्युतमध्यम' कहलाता है। ये दोनो अवस्थाएँ सम्पन्न होने पर साधारण गान्धार और च्युतमध्यम में दो श्रुतियो का अन्तर रह जाता है।[५]

शार्ङ्गदेव ने इन चारो स्वर-साधारणो को क्रमश अन्तर-साधारण, काकली-साधारण, षड्ज-साधारण एव मध्यम-साधारण कहा है।[६]

प्रथम दो अवस्थाएँ, अन्तर-साधारण और काकली-साधारण एक स्वर में उत्पन्न विकार का परिणाम होती हैं, परन्तु 'षड्ज-साधारण' एव 'मध्यम-साधारण' अवस्थाएँ दो-दो स्वरो की स्थान-विकृति का परिणाम हैं।

यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक चतु श्रुतिक स्वर की आदिम एव अन्तिम श्रुतियो का परिमाण 'ग' है*, अर्थात् वे प्रमाणश्रुतियाँ हैं। षड्ज-साधारण में कैशिक-निषाद अपने शुद्ध स्थान से 'ग' अन्तर चढा हुआ है और षड्ज अपने स्थान से 'ग' अन्तर उतरा हुआ है। इसी प्रकार मध्यम-साधारण में साधारण गान्धार अपनी शुद्ध स्थिति से एक 'ग' अन्तर चढा हुआ है और मध्यम अपनी मूल स्थिति से एक 'ग' अन्तर उतरा हुआ है। 'ग' अन्तर ही 'केशाग्र' अन्तर है। षड्ज-साधारण एव मध्यम-साधारण अवस्थाओ में स्वरो का अपने स्थान से एक 'ग' अन्तर हटना प्रयोग (गान-वादन क्रिया) की सूक्ष्मता का परिणाम है, इसी प्रयोगसूक्ष्मता के कारण इसे 'कैशिक' नाम दिया गया

४—निषादो यदि षड्जस्य श्रुतिमाद्या समाश्रयेत्।
ऋषभस्त्वन्तिमा प्रोक्त षड्जसाधारण तदा।
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १४९

५—मध्यमस्यापि गपयोरेव साधारण मतम्। ,, ,, ,, ,,

६—स्वरसाधारण तत्र चतुर्धा परिकीर्तितम्॥
काकल्यन्तरषड्जैश्च मध्यमेन विशेषणात्। ,, ,, १४७

*देखिए, प्रथम अध्याय में श्रुतियो के परिमाण।

है।[७] षड्ज-साधारण का प्रयोग षड्जग्राम में और मध्यम-साधारण का प्रयोग मध्यम-ग्राम में होता है।

निम्नस्थ मण्डल-प्रस्तार में यह स्थिति स्पष्ट है।

पहली श्रुति पर स्थित कैशिकनिषाद अपने मूलस्थान बाईसवी श्रुति से एक 'ग' अन्तर चढ गया है और तीसरी श्रुति पर स्थित च्युत षड्ज अपने मूलस्थान चौथी श्रुति से एक 'ग' अन्तर उतर गया है।

दसवी श्रुति पर स्थित साधारण गान्धार अपने मूल स्थान नवी श्रुति से एक 'ग' अन्तर चढ गया है और बारहवी श्रुति पर स्थित च्युतमध्यम अपने मूलस्थान तेरहवीं श्रुति से एक 'ग' अन्तर उतर गया है। *

७—साधारणोऽत्र स्वरविशेष इति षड्जसाधारणम्।
अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकमिति नाम निष्पद्यते।

—भरत०, व० स०, पृ० ४३७

* यह केशाग्र अन्तर प्रयोग में व्यवहार्य स्वर-सगति का परिणाम है। मध्ययुग में उत्पन्न कुछ राग दोनो ग्रामो की थोडी-थोडी विशेषताओ को धारण करने के कारण 'द्विग्राम'

कैशिक निषाद और च्युत षड्ज में तथा साधारण गान्धार और च्युत मध्यम में प्राप्त होनेवाला द्विश्रुतिक अन्तर 'क, ख', ऋषभ-गान्धार, धैवत-निषाद, काकली-निषाद-षड्ज और अन्तर गान्धार-मध्यम में प्राप्त होनेवाले द्विश्रुतिक अन्तर 'ख, ग' से और निषाद, काकलीनिषाद एव गान्धार अन्तरगान्धार में प्राप्त होनेवाले द्विश्रुतिक अन्तर 'ग, क' से विलक्षण है। फलत यह द्विश्रुतिक अन्तर अनिष्ट न होकर इष्ट है।

महर्षि भरत ने स्वरसाधारण के दो प्रकारो, अर्थात् अन्तरगान्धार एव काकली-निषाद का प्रयोग भी मध्यमाश मध्यमा, पञ्चमाश पञ्चमी एव षड्जाश षड्जमध्यमा जाति मे बताया है।[८] 'कम्बल' और 'अश्वतर' इनका प्रयोग उन जातियो में सामान्य रूप से बताते हैं, जिनमें निषाद या गान्धार अल्प हो,[९] फलत आचार्य शार्ङ्गदेव ने षाड्जी जाति में काकलीनिषाद के क्वचित् प्रयोग का जो विधान किया है,[१०] वह इन्ही दोनो शास्त्रकारो के मत के अनुसार है। षाड्जी जाति में निषाद लोप्य स्वर है।

कहलाते थे। वर्तमान 'भीमपलासी' में 'म, प, नि, स, नि, ध, प' स्वर-समुच्चय हमें कैशिक निषाद और च्युत षड्ज का दर्शन कराता है, क्योकि इसमें कैशिक निषाद के बाद हम षड्ज का स्पर्श करके लौट आते है, परन्तु यदि षड्ज पर ठहर जायँ, तो वह अपने शुद्ध स्थान पर जाकर ठहरता है। इसी प्रकार 'नि, स, ग, म, ग, रे, स' स्वर-समुच्चय हमें साधारण गान्धार और च्युत मध्यम का साक्षात् कराता है, परन्तु जब हम मध्यम पर ठहरते हैं, तब वह मध्यम अपने ठीक स्थान पर लगता है। यह प्रयोग तन्त्रीबोध्य है।

८—स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातय ।
मध्यमा पञ्चमी चैव षड्जमध्या तथैव च ॥
आसामगा (शा)स्तु विज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमा ।
यथास्व

—भरत०, ब० स०, पृ० ४३८

९—एतदल्पनिगास्वाहु कम्बलाश्वतरादय । —स० र०, अ स०, स्वरा०, पृ० १७७

नाट्यशास्त्र के मुद्रित सस्करणो में 'अस्याल्पनिपादगान्धारासु जातिपु प्रयोग' पाठ प्रक्षिप्त है। शार्ङ्गदेव का उपर्युक्त कथन इस सम्बन्ध में प्रमाण है।

—स० र०, अ० म०, स्वरा०, पृ० १९६

१०—पूर्णत्वे काकली क्वचित्।

जातियो में अन्तर स्वरो का प्रयोग आरोही में तथा अल्प करना चाहिए, अवरोही में अन्तर स्वरो (अन्तर गान्धार और काकली निषाद) का प्रयोग जातियो में सर्वथा निषिद्ध है।[११]

अन्तर स्वरो के प्रयोग की विधि इस प्रकार है—

षड्ज का उच्चारण करके क्रमश काकली निषाद और धैवत का उच्चारण करना चाहिए अथवा 'षड्ज' एव 'काकली' का उच्चारण करके पुन षड्ज एव उससे परवर्ती स्वरो का उच्चारण करना चाहिए।[१२]

इसी प्रकार मध्यम, अन्तर गान्धार, ऋषभ का उच्चारण या मध्यम, अन्तर गान्धार, मध्यम एव उससे परवर्ती स्वरो का उच्चारण करना चाहिए।[१३]

कैशिक स्वरो (षड्ज-साधारण, मध्यम-साधारण) का उपयोग षड्जकैशिकी एव कैशिकी जाति में क्रमश होता है। षड्जकैशिकी षड्जग्रामीय जाति है, अत उसमें षड्जसाधारण का प्रयोग होता है और कैशिकी मध्यमग्रामीय जाति है, फलत उसमें मध्यमसाधारण का प्रयोग होता है।[१४]

११—अन्तरस्वरसयोगो नित्यमारोहिसश्रय ।
कार्य स्वल्पविशेषेण नावरोही कदाचन ॥ —भरत०, व० स०, पृ० ४३७

१२—प्रयोज्यौ षड्जमुच्चार्य्य काकलीधैवतौ क्रमात् । . . .
षड्जकाकलिनौ यद्वोच्चार्य षड्ज पुनर्व्रजेत् । तत्परान्यतम चैव—
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १४८

१३—एवं मध्यममुच्चार्य्य प्रयुञ्जीतान्तरर्षभौ ।
. मध्यम चान्तरस्वरम् ।
प्रयुज्य मध्यमो ग्राह्यस्तत्परान्यतमोऽथवा ॥
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १४८

१४—यत्कैश्चिदेते सम्प्रोक्ते कैशिके सूक्ष्मदृष्टिभि ।
साधारणेन तद्राजराजसम्मतिमर्हति ॥
यतोऽभिनवगुप्तोक्तिरहस्यज्ञो क्षमाधिप ।
अन्यथैतद्वचोगुम्फयुक्तिव्याकरण व्यधात् ॥
कैशिकीषड्जकैशिक्यौ यतस्तत्त्वज्ञसम्मते ।
एते कैशिकमाश्रित्य प्रवृत्ते . . ।
क्षेत्रराजमतादेतत्स्वरसाधारण स्फुटम् ॥
—कुम्भ, भ० को०, पृ० ९६५

कैशिक निषाद और च्युत षड्ज में तथा साधारण गान्धार और च्युत मध्यम में प्राप्त होनेवाला द्विश्रुतिक अन्तर 'क, ख', ऋषभ-गान्धार, धैवत-निषाद, काकली-निषाद-षड्ज और अन्तर गान्धार-मध्यम में प्राप्त होनेवाले द्विश्रुतिक अन्तर 'ख, ग' से और निषाद, काकलीनिषाद एव गान्धार अन्तरगान्धार में प्राप्त होनेवाले द्विश्रुतिक अन्तर 'ग, क' से विलक्षण है। फलत यह द्विश्रुतिक अन्तर अनिष्ट न होकर इष्ट है।

महर्षि भरत ने स्वरसाधारण के दो प्रकारो, अर्थात् अन्तरगान्धार एव काकली-निषाद का प्रयोग भी मध्यमाश मध्यमा, पञ्चमाश पञ्चमी एव षड्जाश षड्जमध्यमा जाति में बताया है।[८] 'कम्बल' और 'अश्वतर' इनका प्रयोग उन जातियो में सामान्य रूप से बताते हैं, जिनमें निषाद या गान्धार अल्प हो,[९] फलत आचार्य शार्ङ्गदेव ने षाड्जी जाति में काकलीनिषाद के क्वचित् प्रयोग का जो विधान किया है,[१०] वह इन्ही दोनो शास्त्रकारो के मत के अनुसार है। षाड्जी जाति में निषाद लोप्य स्वर है।

कहलाते थे। वर्तमान 'भीमपलासी' में 'म, प, नि, स, नि, ध, प' स्वर-समुच्चय हमें कैशिक निषाद और च्युत षड्ज का दर्शन कराता है, क्योकि इसमें कैशिक निषाद के बाद हम षड्ज का स्पर्श करके लौट आते है, परन्तु यदि षड्ज पर ठहर जायें, तो वह अपने शुद्ध स्थान पर जाकर ठहरता है। इसी प्रकार 'नि, स, ग, म, ग, रे, स' स्वर-समुच्चय हमें साधारण गान्धार और च्युत मध्यम का साक्षात् कराता है, परन्तु जब हम मध्यम पर ठहरते हैं, तब वह मध्यम अपने ठीक स्थान पर लगता है। यह प्रयोग तन्त्रीबोध्य है।

८—स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातय ।
मध्यमा पञ्चमी चैव षड्जमध्या तथैव च ॥
आसामगा (शा)स्तु विज्ञेया षड्जमध्यमपञ्चमा ।
यथास्व

—भरत०, ब० स०, पृ० ४३८

९—एतदल्पनिगास्वाहु कम्वलाश्वतरादय । —स० र०, अ स०, स्वरा०, पृ० १७७

नाट्यशास्त्र के मुद्रित सस्करणो में 'अस्याल्पनिषादगान्धारासु जातिषु प्रयोग' पाठ प्रक्षिप्त है। शार्ङ्गदेव का उपर्युक्त कथन इस सम्बन्ध में प्रमाण है।

—स० र०, अ० म०, स्वरा०, पृ० १९६

१०—पूर्णत्वे काकली क्वचित्।

जातियो में अन्तर स्वरो का प्रयोग आरोही में तथा अल्प करना चाहिए, अवरोही में अन्तर स्वरो (अन्तर गान्धार और काकली निषाद) का प्रयोग जातियो में सर्वथा निषिद्ध है ।[११]

अन्तर स्वरो के प्रयोग की विधि इस प्रकार है—

षड्ज का उच्चारण करके क्रमश काकली निषाद और धैवत का उच्चारण करना चाहिए अथवा 'षड्ज' एव 'काकली' का उच्चारण करके पुन षड्ज एव उससे परवर्ती स्वरो का उच्चारण करना चाहिए ।[१२]

इसी प्रकार मध्यम, अन्तर गान्धार, ऋषभ का उच्चारण या मध्यम, अन्तर गान्धार, मध्यम एव उससे परवर्ती स्वरो का उच्चारण करना चाहिए ।[१३]

कैशिक स्वरो (षड्ज-साधारण, मध्यम-साधारण) का उपयोग षड्जकैशिकी एव कैशिकी जाति में क्रमश होता है। षड्जकैशिकी षड्जग्रामीय जाति है, अत उसमें षड्जसाधारण का प्रयोग होता है और कैशिकी मध्यमग्रामीय जाति है, फलत उसमें मध्यमसाधारण का प्रयोग होता है।[१४]

११—अन्तरस्वरसयोगो नित्यमारोहिसश्रय ।
कार्य स्वल्पविशेषेण नावरोही कदाचन ॥ —भरत०, ब० स०, पृ० ४३७

१२—प्रयोज्यौ षड्जमुच्चार्य्य काकलीधैवतौ क्रमात् । . . .
षड्जकाकलिनौ यद्वोच्चार्य षड्ज पुनर्व्रजेत् । तत्परान्यतम चैव—
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १४८

१३—एव मध्यममुच्चार्य्य प्रयुञ्जीतान्तरर्षभौ ।
. . मध्यम चान्तरस्वरम् ।
प्रयुज्य मध्यमो ग्राह्यस्तत्परान्यतमोऽथवा ॥
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १४८

१४—यत्कैश्चिदेते सम्प्रोक्ते कैशिके सूक्ष्मदृष्टिभि ।
साधारणेन तद्राजराजसम्मतिमर्हति ॥
यतोऽभिनवगुप्तोक्तिरहस्यज्ञो क्षमाधिप ।
अन्यथैतद्वचोगुम्फयुक्तिव्याकरण व्यधात् ॥
कैशिकीषड्जकैशिक्यौ यतस्तत्त्वज्ञसम्मते ।
एते कैशिकमाश्रित्य प्रवृत्ते . ।
क्षेत्रराजमतादेतत्स्वरसाधारण स्फुटम् ॥

—कुम्भ, भ० को०, पृ० ९६५

षड्ज-साधारण अवस्था में षड्ज की अन्तिम श्रुति ऋषभ के अधिकार-क्षेत्र में चली जाती है, फलत ऋषभ चतुश्रुतिक हो जाता है। मध्यम-साधारण अवस्था में मध्यम की अन्तिम श्रुति माध्यमग्रामिक पञ्चम ले लेता है, फलत वह चतुश्रुतिक हो जाता है।

कैशिक स्वरो की प्रयोगजन्य अवस्था को देखते हुए ही मूर्च्छना-विधान में कैशिक-स्वरयुक्त मूर्च्छनाएँ नही मानी गयी हैं,[15] अपितु अन्तर एव काकली में ही उनका अन्तर्भाव मान लिया गया है।[16] इसके अतिरिक्त षड्ज-साधारण एव मध्यम-साधारण का प्रयोग ग्रामविशेष में नियत होने के कारण मूर्च्छनाओ के साधारण (अन्तर-काकलीयुक्त) प्रकार-निरूपण के प्रसग में षड्ज-साधारण एव मध्यम-साधारण की चर्चा अनुपयोगी है, क्योकि भरत ने स्पष्ट कहा है कि षड्ज-साधारण षड्जग्राम में और मध्यम-साधारण मध्यमग्राम में होता है। यह आचार्य-रहस्य असम्प्रदायज्ञ व्यक्तियो के लिए दुर्ग्रह है।[17]

साधारण स्वरो का ग्रामविशेष में प्रयोग जाति-प्रकरण में है। रागो में अन्तर गान्धार एव काकली-निषाद का प्रयोग किसी ग्रामविशेष तक सीमित नही रहता।

१५—षड्जमध्यमयो साधारणीकृतयो स्वरूपेण भेदकत्वे सम्भवत्यपि काकल्यन्तरयोः साधारणयोरन्तर्भूतत्वेन तयो पृथग्भेदकत्वम्।

—आचार्य्य कल्लिनाथ, स० र० टी०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १०८

१६—साधारणस्वरौ निषादगान्धारवन्तौ तदादिविकृतास्तत्रैवान्तर्भूता।

—मतङ्ग, कल्लिनाथोद्धृत, स० र० टी०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १०८

१७—किञ्च ग्रामद्वये मूर्च्छनासाधारणप्रकारभेदनिरूपणावसरे प्रतिनियतग्रामवर्तिनो षड्जमध्यमसाधारणयोरनुपयोगाच्च। यथोक्त भरतेन—'षड्जग्रामे षड्जसाधारण मध्यमग्रामे मध्यमसाधारणम्' इति। इत्याचार्यरहस्यमसप्रदायविदुषा कृते दुर्ग्रहम्।

—आचार्य कल्लिनाथ, स० र० टी०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १०८

यहाँ यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि अल्पनिषाद-गान्धार जातियो में अन्तरगान्धार एव काकलीनिषाद का ही प्रयोग अभीष्ट है। षड्जसाधारण एव मध्यमसाधारण के प्रयोग में निषाद और गान्धार की अल्पता वाञ्छनीय नही। षड्जसाधारण के प्रयोगस्थल षड्जकैशिकी जाति एव मध्यमसाधारण के प्रयोग-स्थल कैशिकी जाति में निषाद-गान्धार की अल्पता नही है।

नाट्यशास्त्र के मुद्रित सस्करणो में 'अस्याल्पनिषादगान्धारासु जातिषु प्रयोग' पाठ प्रक्षिप्त है, शार्ङ्गदेव ने यह मत कम्बल और अश्वतर का बतलाया है और फलतः

स्वर-सावारण के विषय में कुछ परवर्ती विद्वानो ने कहा है कि जव श्रुति के उत्कर्प से किसी स्वर का स्वरूप अस्फुट और लुप्त-सा हो जाता है, तव गीतज्ञ व्यक्ति उस स्थिति को स्वर-साधारण कहते हैं। पड्ज-पञ्चम एव ऋपभ-धैवत की श्रुतियो का अत्युत्कर्प (दो श्रुतियो का उत्कर्ष) नही होता। (षड्ज-पञ्चम के परवर्ती स्वर ऋपभ-धैवत त्रिश्रुतिक और ऋपभ-धैवत के परवर्ती स्वर गान्धार-निपाद द्विश्रुतिक हैं, अत)अत्युकर्प से षड्ज और पञ्चम में वेसुरापन उत्पन्न हो जाता है और अववान-हीनता आ जाती है। ऋपभ और धैवत को दो श्रुति चढाने पर क्रमश गान्धार एव निपाद में उनका सकर हो जायगा और पश्चाद्वर्ती स्वरो की अभिव्यक्ति नही होगी, फलत अपनी शुद्ध अवस्था से दो श्रुति चढे हुए अन्तर-गान्धार एव काकली-निपाद में दो श्रुतियो का स्फुट उत्कर्ष होता है।[१८]

अल्पनिपाद जाति 'षाड्जी' में काकली का भी विधान किया है। यह सत्य है कि मध्यमा, पञ्चमी तथा पड्जमध्यमा जातियाँ भी 'अल्पनिपाद-गान्धार' हैं, परन्तु भरत के द्वारा इन विशिष्ट जातियो के नामो का निर्देश इस वात का सूचक है कि पाड्जी जैसी अल्पनिषाद जाति में काकली-प्रयोग भरत को वाञ्छनीय नही। भरतोक्त तीनो जातियों की अल्पनिषाद-गान्धारता देखकर ही कम्वल और अश्वतर ने इस नियम की सीमा वढाकर अन्य जातियो को भी इस नियम के क्षेत्र में सम्भवत ले लिया है। फलत षाड्जी में भरत के द्वारा अनुक्त काकलीविधान कम्वल और अश्वतर को सम्मत होने के कारण ही शार्ङ्गदेव को माननीय हुआ है।

"स्वरसाधारण प्रोक्त मुनिभिर्भरतादिभि ।
अशेपु समपेष्वेतद् यथास्व नियमाद् भवेत्।
एतदल्पनिगास्वाहु कम्वलाश्वतरादय ॥"

—म० र०, अ० म०, स्वरा०, पृ० १७७

कहकर आचार्य शार्ङ्गदेव ने दोनो मतो का स्पप्टतया पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। फलत यह सिद्ध है कि शार्ङ्गदेव को उपलव्ध नाट्यशास्त्र में 'अस्याल्प-निपादगान्धारादिपु जातिपु प्रयोग ।' पाठ नही था। नाट्यशास्त्र के मुद्रित सस्करणो में उपलभ्यमान यह पाठ प्रक्षिप्त है और अवसरानुकूल न होने के कारण असगत है। इस पाठ ने अनेक विचारको के समक्ष उलझन उपस्थित की है।

१८—यदा श्रुतिसमुत्कर्पात् स्वनो लुप्त इवास्फुट ।
गीतज्ञैर्गीयते ज्ञेय स्वरसावारण तदा ॥
अत्युत्कर्पस्तु सपयोर्न भवेद् रिधयोरपि।

उपर्युक्त विधान बाईसो श्रुतियो का प्रत्यक्षीकरण होने पर अक्षरश सत्य सिद्ध होता है।

जाति-साधारण—

एक ग्राम में उत्पन्न समानाश जातियो में होनेवाला समान गान जाति-साधारण है।[१९] दत्तिल इत्यादि मनीषियो ने शुद्ध-कैशिक-मध्यम इत्यादि रागो को ही जाति-साधारण कहा है।[२०]

वैस्वर्याद् (र्य) व्यवधानाच्च (धान च) श्रुतीना तेन जायते ॥
गन्योस्तु ताभ्या साङ्कर्य्ये स्वरव्यक्तिर्न लभ्यते ।
पारिशेष्यादतो गन्यो श्रुत्युत्कर्ष स्फुटो भवेत् ॥
—पण्डितमण्डली, भ० को०, पृ० ७१३

आधुनिक स्वरो पर पृथक् विचार किया गया है। यहाँ केवल इतना समझ लेना चाहिए कि कोमल धैवत और कोमल ऋषभ पञ्चम एव षड्ज से 'क' 'ख' अन्तर पर स्थित, धैवत और ऋषभ की, दूसरी श्रुति पर नही उत्पन्न होते, न हो सकते हैं।

१९—(अ) 'जातिसाधारणमेकाशाना विशेषाज्जातीना तु समवायात् ।'
—भरत०, ब० स०, पृ० ४३७

(आ) एकग्रामोद्भवास्वेकाशासु जातिपु यद् भवेत् ।
समान गानमार्य्यास्त जातिसाधारण जगु ॥
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १५०

(इ) एकग्रामसमुत्पन्नास्वेकाशास्वपि जातिषु ।
यत्सम गानमार्य्यास्तज्जातिसाधारण जगु ॥
—पण्डित०, भ० को०, पृ० ७१७

(ई) एकाशोपचितास्वेकग्रामजेपु (जासु) च जातिषु ।
यद् गान समता प्राप्त जातिसाधारण तु तत् ॥
—कुम्भ०, भ० को०, पृ० ९६६

२०—(अ) जातिसाधारण केचिद् रागानेव प्रचक्षते ।
—स० र०, अ० स०, स्वरा०, पृ० १५०

(आ) केचिद् रागा एव शुद्धकैशिकमध्यमादयो जातिसाधारणमित्याहु ।
—सिंह०, स० र०, अ० स, स्वरा०, पृ० १५१

(इ) दत्तिलाद्या पुनरिद रागानेव प्रचक्षते ।
—कुम्भ०, भ० को०, पृ० ९६६

(ई) रागानेवोचुरपरे जातिसाधारण बुधा ।
—पण्डित०, भ० को०, पृ० ९२१

षष्ठ अध्याय

राग

महर्षि भरत ने सात ग्रामराग गिनाये हैं, उनके प्रयोग के अवसर भी निर्दिष्ट किये हैं,[१] अन्तर स्वरो के प्रयोग से जातिरागो का जन्म भी बताया है[२], परन्तु 'राग' का लक्षण नही किया है। महर्षि ने ग्रामरागो को जाति से उत्पन्न बताया है।[३] उन्होंने यह भी कहा है कि लोक में जो कुछ गाया जाता है, वह सब कुछ जातियो में स्थित है।[४] वस्तुत जातियो के विशद परिसख्यान ने, जहाँ तिरसठ अश हैं, तथा लक्षणविकृति से जहाँ जातियो के अनेक अवान्तर भेद सम्भव हैं, जातियो के क्षेत्र को इतना विस्तृत बना दिया है कि उसमें किसी भी 'राग' का अन्तर्भाव हो सकता है।

१—मुखे तु मध्यमग्राम षड्ज प्रतिमुखे भवेत्।
गर्भे साधारितश्चैव अवमर्शे तु पञ्चम ॥
सहारे कैशिक प्रोक्त पूर्वरङ्गे तु षाडव।
चित्रस्याष्टादशागस्य त्वन्ते कैशिकमध्यम।
शुद्धाना विनियोगोऽय ब्रह्मणा समुदाहृत ॥

—भरत०, भ० को०, पृ० ५४२

२—जातिराग श्रुतिञ्चैव नयन्ते चान्तरस्वरा।

—भरत०, ब० म०, पृ० ४३७

३—नन्वेते रागा ग्रामविशेषनबद्धा इति कुतोऽय विशेषलाभ ?
उच्यते, भरतवचनादेवासौ विशेषो लभ्यते। तथा चाह भरतमुनि—
'जातिसम्भूतत्वाद् ग्रामरागाणाम्' इति।

—कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, १०८

४—यत्किञ्चिद् गीयते लोके तत्सर्व जातिषु स्थितम्।

—भरत०, " " "

षड्ज इत्यादि स्वरो और स्थायी इत्यादि वर्णों से विभूषित वह ध्वनिविशेष राग है, जिससे मनुष्यो के मन का रञ्जन होता हो[५]। विशिष्ट स्वर, वर्ण (गानक्रिया) से अथवा ध्वनिभेद के द्वारा जो जन-रञ्जन में समर्थ है, वह राग है।[६] जो राग स्थायी, आरोही, अवरोही, सञ्चारी वर्णों से शोभन हो, वह सब कुछ (वर्णचतुष्टय) जहाँ दिखाई देता हो, वे राग कहे गये हैं।[७] जिनके द्वारा तीनो लोको में विद्यमान प्राणियो के हृदय का रञ्जन होता है, भरत इत्यादि मुनियो ने उन्हें राग कहा है।[८]

रञ्जन के कारण ही राग की सज्ञा 'राग' है, यही राग की व्युत्पत्ति है।[९] राग शब्द 'अश्वकर्ण' जैसे शब्दो के समान रूढ, 'मन्थ' इत्यादि शब्दो के समान यौगिक अथवा 'पकज' शब्द के समान योगरूढ है।[१०] यदि किसी व्यक्ति को कोई राग नही भाता, तो वह राग उसके लिए रञ्जक नही, परतु उस अरञ्जक राग को भी रूढि के कारण राग ही कहा जाता है।[११]

५—योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविशेषित ।
रञ्जको जनचित्ताना स च राग उदाहृत ॥
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ९२१

६—स्वरवर्णविशेषेण ध्वनिभेदेन वा पुन ।
रज्यते येन य कश्चित् स राग सम्मत सताम् ॥
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ९२१

७—चतुर्णामपि वर्णाना यो राग शोभनो भवेत् ।
स सर्वो दृश्यते येषु तेन रागा इति स्मृता ॥
—काश्यप, कल्लि०, स० टी०, अ स०, राग०, पृ० ६-७

८—यैस्तु चेतासि रज्यन्ते जगत्त्रितयवर्तिनाम् ।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभि ॥
—शुभङ्कर, भ० को०, पृ० ९२२

९—इत्येव रागशब्दस्य व्युत्पत्तिरभिधीयते ।
रञ्जनाज्जायते रागो व्युत्पत्ति समुदाहृता ॥
—मतङ्ग, भ० को०, पृ० ९२३

१०—अश्वकर्णादिवद् रूढो यौगिको वापि मन्थवत् ।
योगरूढोऽथवा रागो ज्ञेय पकजशब्दवत् ॥
—मतङ्ग, कल्लि०, स० र०, अ० स०, राग०, पृ० २

११—रागशब्दस्य केवलरूढत्व तु येन केनचिद् रागेण य कश्चन न रज्यते, त प्रति तस्यारञ्जकत्वात् 'अय रागो मह्य न रोचते' इति तद्वाक्यप्रयोगे द्रष्टव्यम् ।

जातियाँ वास्तव में 'मूल राग' हैं जिनमें विकार होने से अनेक रागो का जन्म होता है। जातियो के दस लक्षणो में प्रमुख लक्षण 'अंश' का वर्णन करते हुए उसके लक्षण में महर्षि ने कहा है कि राग का जिसमें निवास होता है और राग जिस स्वर से प्रवृत्त होता है वह अंशस्वर है।[१२] इससे यह सिद्ध है कि महर्षि जातियो को भी 'राग' ही मानते हैं। ग्रामराग जातियो या मूल रागो से उत्पन्न अथवा उनके विकृत रूप हैं। महर्षि के कथन के अनुसार यदि अन्तर स्वरो का प्रयोग अवरोह में भी हो, तो जातियाँ 'जातिराग' हो जाती हैं।[१३]

यहाँ हमारे विचार का प्रधान विषय महर्षि के द्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित सात शुद्ध राग हैं[१४]—

१—मध्यमग्राम (मध्यमग्रामीय)
२—षड्जग्राम (षड्जग्रामीय)
३—साधारित (षड्जग्रामीय)
४—पञ्चम (मध्यमग्रामीय)
५—कैशिक (मध्यमग्रामीय)
६—षाडव (मध्यमग्रामीय)
७—कैशिक मध्यम (षड्जग्रामीय)

(१) मध्यमग्राम

कश्यप का कथन है—

गान्धारी, मध्यमा और पञ्चमी जाति से मध्यमग्राम नामक राग का जन्म हुआ है। इसमें षड्ज अंशस्वर और मध्यम न्यासस्वर होता है।[१५]

शार्ङ्गदेव का विधान है—

१२—रागस्तु यस्मिन् वसति यस्माच्चैव प्रवर्तते। —भरत०, व० म०, पृ० ४२३

१३—अन्तरस्वरसयोगो नित्यमारोहिसंश्रय।
कार्यं स्वल्पविशेषेण नावरोही कदाचन॥
क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहु।
जातिराग श्रुतिञ्चैव नयन्ते चान्तरस्वरा॥ —भरत०, व० स०, ४३७

१४—देखिए, सकेत १

१५—गान्धारीमध्यमाजात्यो सपञ्चम्यो समुत्थित।
षड्जांशो मध्यमग्रामो मध्यमो न्यास एव च॥ —कश्यप, भ० को० ४६५

"मध्यमग्राम राग का विनियोग हास्य एव शृङ्गार में है। यह राग गान्धारी, मध्यमा और पञ्चमी जातियो से मिलकर उत्पन्न हुआ है। काकली-निषाद का प्रयोग इसमें विहित है। इस राग का अश-ग्रह स्वर मन्द्र षड्ज, न्यास स्वर मध्यम और मूर्च्छना (मध्यमग्रामीय मध्यमादि) 'सौवीरी' है। 'प्रसन्नादि' और 'अवरोही' के द्वारा मुखसन्धि में इसका विनियोग है। यह राग ग्रीष्मऋतु के प्रथम प्रहर में सदा रञ्जक है।"[१६]

आलाप

सा नीधापाधा धाधरि। गासा। रिगानीसा। सगपापपप निनिपनि सा सा गपसानिधनिनि निरिगासा। पा म प निधामा।

करण

निनिपपगगससरिग। निं स सासा।ससगगपपधध मधनिसनिध पापापापा पनी पनी सासासा गागासागासनी धनीनीनिनिरिगासासापापामापानिध पामामा।

पद

अमरगुरुममरपतिमजय
जितमदन सकलशशितिलकम्।
गणशतपरिवृतमशुभहर
प्रणमत सितवृषरथगमनम्॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गां	गा	पा	पा	मा	मा
	पद	अ	म	र	गु	रु	म	म	र

१६—गान्धारीमध्यमापञ्चम्युद्भव काकलीयुत।
मन्यासो मन्द्रषड्जाशग्रह सौवीरमूर्च्छन॥
प्रसन्नाद्यवरोहिभ्या मुखसधौ नियुज्यते।
मध्यमग्रामरागोऽय हास्यशृगारकारक॥
ग्रीष्मेऽह्न प्रथमे यामे ध्रुवप्रीत्यै। —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ५९

२								
ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	गा	मा	मा	मा	धा	नी	सा	सा
पद	प	ति	म	ज	य	—	—	—

३								
ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	सा	सा	मा	मा	पा	पा	सा	सा
पद	जि	त	म	द	न	स	क	ल

४								
ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	रे	गा	नी	सा	सा	सा	सा	सा
पद	श	शि	ति	ल	क	—	—	—

५								
ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
स्वर	नी	नी	नी	नीं	धा	पा	मा	मा
पद	ग	ण	श	त	प	रि	वृ	त

ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	गा	मा	गा	मा	धा	नी	सा	सा
पद	म	शु	भ	ह	र	—	—	—

ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	नी	रें	गा	नीं	सा	सा	पा	पा
पद	प्र	ण	म	त	सि	त	वृ	प

ाल	आ०		नि०		वि०		स०	
घु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
वर	सा	सा	निध	पा	मा	मा	मा	मा
द	र	थ	ग	म	नं	—		

"मध्यमग्राम राग का विनियोग हास्य एव शृङ्गार में है। यह राग गान्धारी, मध्यमा और पञ्चमी जातियो से मिलकर उत्पन्न हुआ है। काकली-निषाद का प्रयोग इसमें विहित है। इस राग का अश-ग्रह स्वर मन्द्र षड्ज, न्यास स्वर मध्यम और मूर्च्छना (मध्यमग्रामीय मध्यमादि) 'सौवीरी' है। 'प्रसन्नादि' और 'अवरोही' के द्वारा मुखसन्धि में इसका विनियोग है। यह राग ग्रीष्मऋतु के प्रथम प्रहर में सदा रञ्जक है।"[१६]

आलाप

सा नीधापाधा धाधरि। गासा। रिगानीसा। सगपापपप निनिपनि सा सा गपसानिधनिनि निरिगासा। पा म प निधामा।

करण

निनिपपगगससरिग। निं स सासा। ससगगपपधध मधनिसनिध पापापापा पनी पनी सासासा गागासागासनी धनीनीनिनिरिगासासापापामापानिध पामामा।

पद

अमरगुरुममरपतिमजय
जितमदन सकलशशितिलकम्।
गणशतपरिवृतमशुभहर
प्रणमत सितवृषरथगमनम्॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	गा	गा	पा	पा	मा	मा
	पद	अ	म	र	गु	रु	म	म	र

१६—गान्धारीमध्यमापञ्चम्युद्भव काकलीयुत।
मन्यासो मन्द्रपड्जाशग्रह सौवीरमूर्च्छन॥
प्रसन्नाद्यवरोहिभ्या मुखसधौ नियुज्यते।
मध्यमग्रामरागोऽय हास्यशृगारकारक॥
ग्रीष्मेऽह्न प्रथमे यामे ध्रुवप्रीत्यै। —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ५९

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	मा	मा	मा	धा	नी	सां	सा
	पद	प	ति	म	ज	य	–	–	–
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	मा	मा	पा	पा	सा	सा
	पद	जि	त	म	द	न	स	क	ल
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	रे	गा	नी	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	श	शि	ति	ल	क	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	नी	नी	नी	नीं	धा	पा	मा	मा
	पद	ग	ण	श	त	प	रि	वृ	त
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	गा	मा	गा	मा	धा	नी	सा	सा
	पद	म	शु	भ	ह	र	–	–	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	रें	गा	नी	सा	मा	पा	पा
	पद	प्र	ण	म	त	सि	त	वृ	प
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	निध	पा	मा	मा	मा	मा
	पद	र	थ	ग	म	न	–	–	–

उपर्युक्त आक्षिप्तिका में 'स, रें, ग, म, प, ध, निं, स, रे, ग, म, प, ध, नि' इन चौदह स्वरो का उपयोग हुआ है। मध्यमादि मूर्च्छनायुक्त अठारह सारोवाली किन्नरी के चौथे पर्दे से सत्रहवें पर्दे तक ये चौदहो स्वर मिल जायँगे।

इस राग में 'ग, रि, स, नि, ध, प, म' अवरोही वर्ण प्रयुक्त हो सकता है, तदनन्तर 'मा मा मा' के रूप में प्रसन्नादि अलकार सम्मिलित किया जा सकता है।

आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरो की सख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अश)	१९
ऋषभ		२
गान्धार		७
मध्यम	(अश, सवादी, न्यास)	१५
पञ्चम		८
धैवत		४
निषाद		१०

(२) षड्जग्राम

कश्यप का कथन है—

"षड्जग्राम षाड्जी और षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न सम्पूर्ण राग है। इसमें अशस्वर षड्ज और न्यासस्वर मध्यम है।"[१७]

शार्ङ्गदेव कहते हैं—

"षड्जग्राम नामक राग षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न हुआ है, सम्पूर्ण राग है। इसका ग्रह एव अशस्वर तार षड्ज है, न्यासस्वर मध्यम है, अपन्यास स्वर षड्ज है, अवरोही और प्रसन्नान्त अलकार इसमें प्रयोज्य है। इसकी मूर्च्छना षड्जादि (उत्तर-मन्द्रा) है, इसमें काकली-निषाद एव अन्तर-गान्धार का प्रयोग होता है, वीर, रौद्र, अद्भुत रसो में, (नाटक की) प्रतिमुख (सन्धि) में इसका विनियोग है। इस राग का देवता वृहस्पति है और वर्षाऋतु, दिन के प्रथम प्रहर में यह गेय है।"[१८]

१७—षड्जाशो मध्यमन्यास स्यात् षाड्जीषड्जमध्ययो ।
षड्जग्राम इति प्रोक्त• सम्पूर्णस्वरकस्तथा ॥ —कश्यप० भ० को०, पृ० ६८८

१८—षड्जमध्यमया सृष्टस्तारषड्जग्रहाशक ।
सम्पूर्णो मध्यमन्यास षड्जापन्यासभूषित ॥

आलाप

स स (स स)* री गवगरिस सनिधापाधाधारीगासा। री गा सा सग पनि धनिम सा सा। गसरिग पधनिप मामा।

करण

रीरी गाधा गरि सासा नीधपापा। रीरी गध परि सा सा सा सा। सा सा गानिधा रीरीगा। धा गारी सा सा निधपापा। री री पापा निधनि सा सा सा। सरि सरि पधनिध पमामामामा।

पद

स जयतु भूताधिपति
परिकरभोगीन्द्रकुण्डलाभरण ।
गजचर्मपटनिवसन
शशाङ्कचूडामणि शम्भु ॥

आक्षिप्तिका—ताल चञ्चत्पुट

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	रें	रे	गा	सा	गा	रे	गा	सा
	पद	स	ज	य	तु	भू	–	ता	–

अवरोहिप्रसन्नान्तर्भप षड्जादिमूर्च्छन ।
काकल्यन्तरसयुक्तो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे ॥
विनियुक्त प्रतिमुखे वर्णामु गुरुदैवत ।
गेयोऽह्न प्रथमे यामे षड्जग्रामाभिधो वुधै ॥

—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० २६–२७

* लक्षण में तार षड्ज को इस राग का अंश एवं ग्रहस्वर माना गया है। रत्नाकर के मुद्रित सस्करणो में इसके आलाप का आरम्भ मन्द्र षड्ज से हुआ है, जो हमारी दृष्टि में लिपिक के प्रमाद का-परिणाम है।

२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	धा	पा	पा	रे	रे	गा	धा
	पद	धि	प	ति	–	प	रि	क	र
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	गा	रे	सा	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	भो	–	गी	द्र	–	कु	–	ह
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	गा	धनि	नी	नी	नी	नी
	पद	ला	–	भ	र	ण	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	गा	रिग	धा	धा	गा	गरि	सा	सा
	पद	ग	ज	च	–	र्मं	प	ट	नि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	नी	धा	पा	पा	रे	रे	पा	पा
	पद	व	स	न	–	श	शा	–	क
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	धा	नी	सा	सा	सा	सा	रिसरि
	पद	चू	–	डा	म	णि	–	–	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	पा	धा	निध	पा	मा	मा	मा	मा
	पद	श	–	–	–	मु	–	–	–

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में स्वरसख्या इस प्रकार है—

षड्ज	(अंश, ग्रह, अप०)	१७
ऋषभ		१२
गान्धार		१०
मध्यम	(न्यास)	४
पञ्चम		८
धैवत		९
निषाद		१०

प्रस्तुत राग का आलाप ग्रहस्वर षड्ज से आरम्भ हुआ है और न्यासस्वर मध्यम पर उसकी समाप्ति हुई है, जो न्यासस्वर है। करण और आक्षिप्तिका का आरम्भ अंशस्वर से न होकर ऋषभ से हुआ है, जो करण एव आक्षिप्तिका को प्रयोग का अनिवार्य अङ्ग सिद्ध करता है। जातियों के प्रस्तार सदा ग्रहस्वर से आरम्भ हुए है, परन्तु रागो की आक्षिप्तिकाओ में ग्रहस्वर से आरम्भ करने का अनिवार्य बन्धन नही। करण और आक्षिप्तिका की समाप्ति न्यासस्वर पर ही हुई है।

(३) साधारित (शुद्ध साधारित)

शार्ङ्गदेव का कथन है—

"शुद्ध साधारित राग षड्ज-मध्यमा जाति से उत्पन्न हुआ है, तार षड्ज इसका ग्रह एव अंशस्वर है, निषाद और गान्धार का प्रयोग इस राग में अल्प है, इस राग का न्यासस्वर मध्यम है। यह राग सम्पूर्ण है और इसकी मूर्च्छना षड्जादि (उत्तरमन्द्रा) है। अवरोही प्रसन्नान्त से अलकृत है, इसका देवता सूर्य है, दिन के प्रथम प्रहर में वीर, रौद्र रस में गेय है। गर्भसन्धि में इसका विनियोग है।"[19]

१९—षड्जमध्यमया जातस्तारषड्जग्रहांशक ।
निगाल्पो मध्यमन्यास पूर्ण षड्जादिमूर्च्छन ॥
अवरोहिप्रसन्नान्तालकृतो रविदैवत ।
वीरे रौद्रे रसे ज्ञेय प्रहरे वासरादिमे ।
विनियुक्तो गर्भसन्धौ शुद्धसाधारितो बुधै ॥

—स० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १९–२०

मोक्षदेव कहते हैं—

"शुद्ध साधारित सम्पूर्ण राग है, षड्ज इसमें अंश एवं ग्रहस्वर हैं, निषाद-गान्धार अल्प हैं, न्यासस्वर मध्यम है, यह राग षड्ज-मध्यमा जाति से उत्पन्न हुआ है।"[२०]

आलाप*

सा पा धा रीपापाधारी पाधा सासापाधानीधा पामामा रीपा धारी पाधारी पाधा पाधापापा सासा मा। सा गा री मा। मगरि सासा सरिग पाधारीपाधारीपाधापाधा-सासा सारीगामाधापानीधापानीधापा सा सा।

करण

सस‡ पप धध रिरि पप धस साम्† २ (सस पध धध रिरि पप धस साम्)। रिरि पप धनि पप रिप धस सा सा २ (रिरि पप धनि पप रिप धस सा सा)। सस धध मम गारी गम रिग मम मगरिग सासा २ सस धस रिंग सासा पाधा निधप मम।

पद

उदयगिरिशिखरशेखरतुरगखुरक्षत विभिन्न घनतिमिर।
गगनतलसकलविलुलितसहस्रकिरणो जयतु भानु॥

आक्षिप्तिका—ताल चञ्चत्पुट

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	धा	नी	पा	पा	पा	पा
	पद	उ	द	य	गि	रि	शि	ख	र

२०—सांशग्रहो निगाल्प स्यात् षड्जमध्यमया कृत।
सपूर्णो मध्यमन्यास शुद्धसाधारितो मत॥ —मोक्ष० भ० को०, पृ० ६७१

* प्रस्तुत आलाप और करण कल्लिनाथ की टीका के अनुसार शुद्धीकृत रूप में है।

‡ यह 'सा' के सानुस्वार उच्चारण का रूप है। 'दो' का चिह्न जिस स्वरसमूह के पुनरुच्चारण का सूचक है, वह कोष्ठक में पुन लिख दिया गया है।

† यहाँ ग्रह तारषड्ज से होना चाहिए।

२ ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	धा	धा	नी	नी	री	री	पा	पा
पद	गे	ख	–	र	तु	र	ग	खु

३ ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	रे	पा	पा	पा	धा	नी	पा	मा
पद	र	–	क्ष	त	वि	भि	–	न्न

४ ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	धा	मा	धा	सा	सा	सा	सा	सा
पद	घ	न	ति	मि	र	–	–	–

५ ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
स्वर	धा	धा	सा	धा	सा	रे	गा	सा
पद	ग	ग	न	त	ल	स	क	ल

६ ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	रे	गा	पा	पा	पा	पा	पा	पा
पद	वि	लु	लि	त	स	ह	–	स्र

७ ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	धा	मा	धा	मा	सा	सा	सा	सा
पद	कि	र	–	णो	ज	य	–	तु

८ ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	पा	धा	निव	पा	मा	पा	मा	मा
पद	भा	–	–	–	नु	–	–	–

आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरो की सख्या इस प्रकार है —

षड्ज	(अश)	१४
ऋषभ		५
गान्धार	(अल्प)	२
मध्यम	(न्यास)	७
पञ्चम	(अश-सवादी)	१९
धैवत		१३
निषाद	(अल्प)	५

(४) पञ्चम (शुद्ध पञ्चम)

कश्यप का कथन है —

"शुद्ध पञ्चम, राग मध्यमा और पञ्चमी जातियो से मिलकर उत्पन्न हुआ है, इसमें अश एव न्यासस्वर पञ्चम है। गान्धार और निषाद इसमें स्वल्प हैं।"[२१]

शार्ङ्गदेव कहते हैं —

"यह राग मध्यमा और पञ्चमी जातियो से उत्पन्न हुआ है, इसमें काकलीनिषाद एव अन्तरगान्धार का प्रयोग है, इसका अश, ग्रह एव न्यास स्वर मध्य सप्तक का पञ्चम है, इसकी मूर्च्छना हृष्यका है, देवता कामदेव है, सचारी वर्ण इसमें शोभा देता है। ग्रीष्म ऋतु, दिन के प्रथम प्रहर में गेय है, अवमर्श सन्धि में इसका विनियोग है।"[२२]

आलाप

पाधा माधा नीधापापा। पधनीरिमपधामा धनि ध पापारीगा सासा। मापमागा रीरी। रीमापधा मा पनिधपापा। सागा नीधा पप निरी मा पाधामाध निध पापा।

२१—मध्यमापञ्चमीजात्यो सम्भूत शुद्धपञ्चम।
अशोऽस्य पञ्चमो न्यासस्स्वल्पद्विश्रुतिकस्वर॥
—कश्यप, भ० को०, पृ० ६६६

२२—मध्यमापञ्चमीजात काकल्यन्तरसयुत।
पञ्चमाशग्रहन्यासो मध्यसप्तकपञ्चम।
हृष्यकामूर्च्छनोपेतो गेय कामादिदैवत।
चारुसञ्चारिवर्णश्च ग्रीष्मेऽह्न प्रहरेऽग्रिमे।
शृङ्गारहास्ययो सधाववमर्शे प्रयुज्यते॥
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ९५

करण

पापधपधमधधनिध पापा । पापाधनि रिगपापा मधनिध पापा पपधनि। रीरी गग सम गग रीरी रीरी मम पप धम धध निध पा।

पद

जय विषमनयन मदनतनुदहन
वरवृषभगमन पुरदहन ।
नतसकलभुवन सितकमलवदन
भव मम भयहर भव शरणम् ॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	सा	री	री	गा	सा
	पद	ज	य	वि	ष	म	न	य	न
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	गा	पम	गा	री	री	री	री
	पद	म	द	न	त	नु	द	ह	न
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	मा	सा	सा	सा	री	री	गा	सा
	पद	व	र	वृ	ष	भ	ग	म	न
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	मा	गा	पम	गा	री	री	रीं	री
	पद	पु	र	द	ह	न	—	—	—
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८

	स्वर	री	री	मा	मा	पा	मा	धा	मा
	पद	न	त	स	क	ल	भु	व	न
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	मा	धा	सा	सा	नी	धा	पा	मा
	पद	सि	त	क	म	ल	व	द	न
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	धा	नी	री	मा	री	मा	पा	पा
	पद	भ	व	म	म	भ	य	ह	र
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	मा	धा	नी	पा	पा	पा	पा
	पद	भ	व	श	र	ण	—	—	—

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरो की सख्या निम्नलिखित है —

षड्ज	११
ऋषभ	१६
गान्धार	६
मध्यम	१४
पञ्चम (अश)	१०
धैवत	६
निषाद	३

(५) कैशिक (शुद्ध कैशिक)

शार्ङ्गदेव का कथन है —

"शुद्ध कैशिक राग कार्म्मारवी एव कैशिकी जाति से उत्पन्न हुआ है, इसमें अश एव ग्रहस्वर तार षड्ज है, न्यासस्वर पञ्चम है, काकलीनिषाद का प्रयोग होता है। अवरोही वर्ण एव प्रसन्नान्त अलकार से विभूषित है और सम्पूर्ण राग है। इसकी मूर्च्छना षड्जादि (शुद्धमध्या) है। वीर, रौद्र एव अद्भुत रस में प्रयोज्य है, शिशिर

ऋतु में गेय है, इसका देवता मङ्गल है। दिन के प्रथम प्रहर में व्यवहार्य है और निर्वहण सन्धि में इसका विनियोग है।"[23]

मोक्षदेव कहते है —

"शुद्ध कैशिक कार्म्मारवी एव कैशिकी जाति मे उत्पन्न हुआ है, इसका न्यास पञ्चम है, इसमें काकलीनिपाद का प्रयोग है,-सम्पूर्ण राग है और वीर, रौद्र एव अद्भुत रस में इसका विनियोग है।"[24]

आलाप

सा*सा गामा गारी गामा सानी सारी साधा माधा माधा नीधा पामा गामा पापा।

वर्तनी

सासासासा रीरीसासारीरी गागा सासासासा मामा गारी गारी सासारीरी धनि सासासासा रीरी मामा पापाधामा मामाधानी सासासासा रीरीगामा सासापापा धामागामा पामा पापापापा।

पद

अग्निज्वालाशिखाकेशि
माशशोणितभोजिनि।
सर्वाहारिणि निर्मासे
चर्म्ममुण्डे नमोऽस्तु ते ॥

२३—कार्मारव्याश्च कैशिक्या सञ्जात शुद्धकैशिक।
तारषड्जग्रहांशश्च पञ्चमान्त सकाकली॥
सावरोहिप्रसन्नान्त पूर्ण षड्जादिमूर्च्छन।
वीररौद्राद्भुतरस शिशिरे भौमवल्लभ।
गेयो निर्वहणे यामे प्रथमेऽह्नो मनीषिभि॥
—म० र०, अ० न०, राग०, पृ० ८२

२४—कार्मारव्याश्च कैशिक्यास्तारषड्जग्रहांशक।
पन्यास काकलीयुक्तो विज्ञेयश्शुद्धकैशिक।
वीररौद्राद्भुतरस सपूर्णस्वरको मत॥ —भ० को०, पृ० ६६४

* यहाँ सां (तारषड्ज) से ग्रह होना चाहिए।

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	सा	सा	सा	सा	नी	धा
	पद	अ	—	ग्नि	—	ज्वा	—	ला	शि
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	सा	सा	री	मा	सा	री	गा	मा
	पद	खा	—	के	—	शि	—	—	—
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	गा	री	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	मा	—	—	—	स	शो	—	णि
४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	सा	सा	सा	सा	नी	सा	नी	नी
	पद	त	भो	—	—	—	जि	नि	—
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	गा	री	मा	मा	पा	पा
	पद	स	—	र्वा	—	हा	—	रि	णि
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	नी	पा	मा	धा	मा	धा	सा
	पद	नि	—	र्मी	—	से	—	—	—
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	सा	सा	सा	सा	नी	धा	पा	पा
	पद	च	—	—	मं	मु	ण्डे	न	—

८ ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	धा	नी	गा	मा	पा	पा	पा	पा
पद	मो	–	–	स्तु	ते	–	–	–

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में स्वरसख्या इस प्रकार हैं—

षड्ज (अश)	२५
ऋषभ	४
गान्धार	४
मध्यम	९
पञ्चम (न्यास)	९
धैवत	६
निषाद	७

(६) षाडव (शुद्ध षाडव)

आचार्य शार्ङ्गदेव का कथन है—

"षाडव राग मध्यमा जाति के विकृत रूप से उत्पन्न हुआ है, इसमें गान्धार एव पञ्चम दुर्बल हैं, मध्यम न्यास एव अशस्वर है, तार मध्यम इसका ग्रहस्वर है, इसमें काकलीनिषाद एव अन्तरगान्धार का प्रयोग होता है, इसकी मूर्च्छना मध्यमादि है, अवरोही इत्यादि (सञ्चारी) वर्ण एव प्रसन्नान्त अलकार इसके विभूषक हैं, पूर्वरङ्ग में इसका विनियोग है, यह हास्य और शृगार रस का दीपक है, पूर्व प्रहर में गया है और शुक्र इसका देवता है।"[२५]

मध्यमा के विकृत रूप की व्याख्या करते हुए मोक्षदेव ने कहा है कि जातियों में मध्यस्थानीय अशस्वर ही ग्रहस्वर होता है, तार अशस्वर से ग्रहण ही मध्यमा जाति का (इस प्रसग में) विकार है।[२६]

२५—विकारिमध्यमोद्भूत षाडवो गपदुर्बल । न्यासाशमध्यमस्तारमध्यमग्रहसयुत ॥
काकल्यन्तरयुक्तश्च मध्यमादिकमूर्च्छन । अवरोह्यादिवर्णेन प्रसन्नान्तेन भूषित ॥
पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यो हास्यशृङ्गारदीपक । शुक्रप्रिय पूर्वयामे . . ॥
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ ६३–६४

२६—लक्षणेनेह केनेय विकृता मध्यमा भवेत् । तारमन्द्रावधिर्यस्मात्तदशान्यामुदाहृत ॥
तस्मान्मध्यग्रहेणैव गातव्य (व्या) जातयो यत । तारमध्यग्रहेणेय विकृता मध्यमा मत (ता) ॥ —भ० को०, पृ० ६७१

मतङ्ग का कथन है कि अन्य छ रागो की अपेक्षा मुख्य होने के कारण इसका विनियोग पूर्वरङ्ग में है, इस मुख्यता के कारण ही इसे 'षाडव' कहा गया है। इस षाडव का अर्थ 'षट्स्वर' नही, क्योकि यह राग सप्तस्वर होता है और इसका षट्स्वर होना सम्भव नही।[२७]

आलाप

मा* सारी नीधा साधानी माधा सारीगा धा सा धामारिगामा माधामारी गारी-नीधा साधानीमामा।

करण

ममरिग मम सस धनि सस धनि मा मा पपपपनि धममध धससरि गागामा-रिगामामा।

वर्तनिका

साधनि पध मारि मानि धधाधधससरि मासासाधनी धपमा मा गारी गारी गासामाधामा गारीगा गम्गारिगा सासाधनी मा धनि धगसाधनि मा मा मा।

पद

पृथुगडगलितमदजल-
मतिसौरभलग्नषट्पदसमूहम्।
मुखमिन्द्रनीलशकलै-
र्भूषितमिव गणपतेर्जयतु॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	मा	मा	धा	धा	सा	धा	नी	पा
	पद	पृ	थु	ग	—	ड	ग	लि	त

२७—अस्य च व्युत्पत्ति कथिता मतङ्गेन—'षट्सु रागेषु मुख्यत्वात् षाडव, सप्तस्वरत्वेन षट्स्वरत्वासम्भवात्। ननु कथ षट्सु रागेषु मुख्योऽयम्? उच्यते—'पूर्वरङ्गे तु शुद्धषाडव प्रयोक्तव्य' इति वचनादिति।

—सिंह०, स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ६४

* यहाँ तारमध्यम से ग्रह होना चाहिए।

राग

२								
ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	घा	नी	मा	मा	मा	री	मा	री
पद	म	द	ज	ल	म	ति	सौ	—

३								
ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	घा	नी	सा	सा	गा	रिग	घा	घा
पद	र	भ	ल	—	ग्त	—	पट्	प

४								
ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
स्वर	सा	घा	सा	मग	मा	मा	मा	मा
पद	द	स	मू	—	ह	—	—	—

५								
ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
स्वर	मग	री	गा	मा	मा	मा	पम	गा
पद	मु	ख	मिं	—	द्र	नी	—	ल

६								
ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
स्वर	री	गा	सा	सा	मा	मा	मा	मा
पद	श	क	लै	—	भूं	पि	—	त

७								
ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
स्वर	नी	घा	नी	घा	मा	सा	मा	मा
पद	मि	व	ग	ण	प	ते	—	—

८								
ताल	आ०		नि०		वि०		न०	
लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३
स्वर	गा	री	री	गा	मा	मा	मा	म
पद	—	—	जं	य	तु	—	—	

प्रस्तुत आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरो की सख्या इस प्रकार है —

षड्ज		११
ऋषभ		७
गान्धार	(दुर्बल)	९
मध्यम	(अश, न्यास)	२४
पञ्चम	(दुर्बल)	२
धैवत		१०
निषाद		५

(७) कैशिकमध्यम (शुद्ध कैशिकमध्यम)

शार्ङ्गदेव का कथन है —

"यह राग षड्जमध्यमा और कैशिकी जाति से उत्पन्न है। ऋषभ-पञ्चम इस राग में वर्जित हैं। इसका अश एव ग्रहस्वर षड्ज एव न्यासस्वर मध्यम है। प्रसन्नान्त अलकार, अवरोही वर्ण एव आद्य (उत्तरमन्द्रा) मूर्च्छना से युक्त है। इसमें गान्धार अल्प है और निषाद काकली है। वीर, अद्भुत एव रौद्र रस में इसका प्रयोग करना चाहिए। यह चन्द्रप्रिय राग है, इसका गान (दिन के) पूर्व प्रहर में होना चाहिए और निर्वहण सन्धि में इसका विनियोग है।"[२८]

मोक्षदेव का कथन है —

"शुद्ध कैशिकमध्यम कैशिकी और षड्जमध्यमा से उत्पन्न हुआ है। तार षड्ज इसका ग्रह एव अशस्वर है, न्यासस्वर मध्यम है, ऋषभ-पञ्चम इसमें वर्जित हैं, गान्धार अल्प है, निषाद काकली है, वीर, अद्भुत और रौद्र रस में इसका विनियोग है।"[२९]

२८—षड्जमध्यमया सृष्ट कैशिक्या च रिपोज्झित ।
तारसाशग्रहो मान्त शुद्धकैशिकमध्यम ।
प्रसन्नान्तावरोहिभ्यामाद्यमूर्च्छनया युत ॥
गान्धाराल्प काकलीयुग्वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे ।
चन्द्रप्रिय पूर्वयामे सधौ निर्वहणे भवेत् ॥
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ७६

२९—कैशिकीषड्जमध्याभ्या तारषड्जग्रहाशक ।
मन्यास स्यात् रिपत्यक्तो गान्धाराल्प सकाकलि ।
रसे वीरेऽद्भुते रौद्रे शुद्धकैशिकमध्यम ॥ —भ० को०, पृ० ६६५

आलाप

सा*धामा धां सनि धसनी सा सा। सा धानी मा मा सा गा सा गा माधा माधा मा निध सनि सा सा धामा मधमगागमा सासाधामासगासागामाधाम निध मानी सा सासाधानी मा मा।

करण

ससममधधममधसनिधसासासासा। ससगम गम मधमसानिधसा सा सा सा धध ममं धम सगसगमस गग धध सम गस मम धमध सधनि मामा मामा।

पद

ओङ्कारमूर्तिसस्य
    मात्रात्रयभूषित कलातीतम्।
वरद वर वरेण्य
    गोविन्दकमस्तुत वन्दे ॥

आक्षिप्तिका—चञ्चत्पुट ताल

१	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	सा	सा	धा	पा(मा?)	मा	धा	पा(मा?)	मा
	पद	ओं	—	का	—	र	मू	—	र्ति
२	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	पा(मा?)	मा	पा(मा?)	री(नी?)		मा	मा
	पद	स	—	स्य	—	मा	—	त्रा	—
३	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	धा	मा	नी	धा	नी	मा	मा
	पद	त्र	य	भू	—	षि	त	—	क

* यहाँ ग्रहस्वर तारषड्ज होना चाहिए।

४	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	नी	धा	नी	सा	सा	सा	सा	सा
	पद	ला	–	ती	–	त	–	–	–
५	ताल	आ०		नि०		वि०		श०	
	लघु	१	२	३	४	५	६	७	८
	स्वर	धा	धा	मा	मा	री(नी?)	री(नी?)	सा	सा
	पद	व	र	द	–	व	र	–	व
६	ताल	आ०		नि०		वि०		ता०	
	लघु	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	स्वर	धा	धा	मा	मा	गा	गा	मा	गा
	पद	रे	–	ण्य	–	गो	–	विं	–
७	ताल	आ०		श०		वि०		प्र०	
	लघु	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
	स्वर	नी	धा	मा	नी	धा	नी	सा	सा
	पद	द	क	स	–	स्तु	–	त	–
८	ताल	आ०		नि०		वि०		स०	
	लघु	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
	स्वर	धा	सा	धा	नी	मा	मा	मा	मा
	पद	व	–	–	–	दे	–	–	–

‘?’ चिह्नित स्थलो पर ‘पा’ के स्थान ‘मा’ तथा ‘री’ के स्थान पर ‘नी’ होना चाहिए। प्रस्तुत मूल पाठ लिपिकदोष का परिणाम प्रतीत होता है। इस राग में ‘ऋषभ-पञ्चम’ का परिहार लक्षणसिद्ध है। आलाप और करण में भी इन दोनो स्वरो का प्रयोग नही।

हमारी दृष्टि से आक्षिप्तिका में प्रयुक्त स्वरो की सख्या निम्नस्थ है —

षड्ज	१४
ऋषभ	०
गान्धार	३
मध्यम	२०

पञ्चम	०
धैवत	१४
निपाद	१३

ग्रामरागो के प्रकार

ग्रामरागो के पाँच प्रकार हैं, शुद्ध, भिन्न, गौड, वेसर और साधारण। भिन्न रागो के भी श्रुतिभिन्न, जातिभिन्न, शुद्धभिन्न और स्वरभिन्न ये चार भेद होते हैं।

(१) शुद्ध—

जो राग अन्य जातियो की अपेक्षा न करके अपनी जाति का अनुवर्तन करते हैं और उसी के उद्द्योतक होते हैं, वे शुद्ध कहलाते हैं।[10]

(२) भिन्न—*

(अ) स्वरभिन्न—किसी राग के वादी, विवादी और अनुवादी ले लिये जायें, परन्तु सवादी स्वर का परित्याग कर दिया जाय, तो स्वरभिन्न राग उत्पन्न होता है।[11] स्वरप्रयोग में भेद होने के कारण ही भिन्नषड्ज और भिन्नपञ्चम राग शुद्ध पाडव से भिन्न हो गये हैं।[12]

(आ) जातिभिन्न—जनक जाति के अश, ग्रह इत्यादि का ग्रहण कर लेने पर भी प्रयोज्य स्वरो का क्रम, जनक जाति के क्रम से भिन्न होने एव वक्र तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म

३०—अनपेक्ष्यान्यजातीर्ये स्वजातिमनुवर्तका।
स्वजात्युद्योतकाश्चैव ते शुद्धा परिकीर्तिता॥
—मतङ्ग, कल्लि०, स० र० टी०, अ० म०, राग०, पृ० २५

* श्रुतिभिन्नो जातिभिन्न शुद्धभिन्न स्वरस्तया।
चतुर्भिर्भिद्यते यस्मात्तस्माद् भिन्नक उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि०, म० र० टी०, अ० न०, राग०, पृ० २५

३१—यदा वादी गृहीत स्यात्सवादी च विमोक्ष्यते।
विवादी चानुवादी च स्वरभिन्न स उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि० म० र० टी०, अ० न०, राग०, पृ० २५

३२—विवादी चानुवादी च गृहीत स्यादित्यनुपङ्ग। शुद्धपाडवापेक्षया भिन्नषड्ज-भिन्नपञ्चमयो स्वरप्रयोगभेदात् स्वरभिन्नत्वम्।
—कल्लि०, न० टी०, अ० न०, राग०, पृ० २५

स्वरो के प्रयोग के कारण जातिभिन्न रागो की उत्पत्ति होती है।[३३] शुद्ध कैशिकमध्यम राग से ग्रह अश इत्यादि का साम्य होने पर भी जनक जाति के वर्ण भेद तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरो के प्रयोग में भेद होने के कारण भिन्न कैशिकमध्यम की जातिभिन्नता है।[३४]

(इ) **शुद्धभिन्न**—दूसरी जाति का परित्याग करके अपनी जाति और कुल (जाति से उत्पन्न शुद्ध राग) का विभूषण करने एव अपने कुल को ग्रहण करनेवाले राग शुद्ध-भिन्न कहलाते है।[३५] शुद्धकैशिक एव भिन्नकैशिक के स्वरसस्थान समान हैं, परन्तु शुद्ध-कैशिक तारस्थानव्यापी है और भिन्नकैशिक मन्द्रस्थानव्यापी। इसी अन्तर के कारण भिन्नकैशिक शुद्धकैशिक से भिन्न है।[३६]

(ई) **श्रुतिभिन्न**—जहाँ चतु श्रुतिक स्वर भिन्न होकर द्विश्रुतिक हो जाता हो, परन्तु गान्धार द्विश्रुति ही रहता हो, वह राग श्रुति-भिन्न होता है।[३७] 'भिन्नतान' राग में निषाद षड्ज की दो श्रुतियाँ ग्रहण कर लेता है, गान्धार द्विश्रुति ही रहता है। अत भिन्नतान राग श्रुतिभिन्न है।[३८]

३३—जातीनामशक स्थाया अल्पकस्तु बहुस्तथा।
अल्पत्व च बहुत्व च प्रयोगाल्पवहुत्वत।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मैर्वक्रैश्च जातिभिन्न स उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २५

३४—शुद्धकैशिकमध्यमापेक्षया भिन्नकैशिकमध्यमस्य ग्रहाशादिसाम्येऽपि स्वस्वजनकजातिगतवर्णभेदात् सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्वरप्रयोगभेदाच्च भिन्नकैशिकमध्यमस्य जातिभिन्नत्वम्। —कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २५

३५—परित्यजन्नन्यजाति स्वजातिकुलभूषण।
स्वक कुल तु सगृह्णन् शुद्धभिन्न प्रकीर्तित॥
—मतङ्ग, कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २६

३६—शुद्धकैशिकभिन्नकैशिकयो स्वरसस्थानस्याविशेषेऽपि तारस्वरव्याप्तिमत शुद्धकैशिकान्मन्द्रस्वरव्याप्तिमतो भिन्नकैशिकस्य शुद्धभिन्नत्वम्।
—कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २६

३७—चतु श्रुति स्वरो यत्र भिन्नो द्विश्रुतिको भवेत्।
गान्धारो द्विश्रुतिश्चैव श्रुतिभिन्न स उच्यते॥
—मतङ्ग, कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २६

३८—भिन्नतानरागे हि षड्जस्य श्रुतिद्वय गृह्णाति निषाद। गान्धारस्तु द्विश्रुतिरेव। अतोऽस्य श्रुतिभिन्नत्वम्।
—कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २६

(३) गौड—

जिन रागो में गाढ गमकों और ओहाटीललित स्वरों के कारण गीति अखण्डित रूप से त्रिस्थानव्यापिनी रहती है, वे 'गौड' कहलाते है।[39]

(४) वेसर—

जिन रागो में स्वरो का वेगपूर्वक सञ्चार होता है, वे 'वेसर' कहलाते है।[40]

(५) साधारण—

जिन रागो में शुद्ध, भिन्न, गौड और वेसर, चारो प्रकार के रागो की विशेपताएँ समन्वित हो, वे 'साधारण' कहलाते है।[41]

पञ्चविध ग्रामरागो के अवान्तर भेद[42]

शुद्ध—सात शुद्ध रागो की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है।

भिन्न—भिन्न राग पांच हैं।

पड्जग्रामीय—(१) भिन्नकैशिकमध्यम, (२) भिन्नपड्ज।

मध्यमग्रामीय—(३) भिन्नतान, (४) भिन्नकैशिक, (५) भिन्नपञ्चम।

३९—पूर्वोक्ताया गौडगीते मवन्याद् गौडका स्मृता।

—मतङ्ग, कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २६

४०—स्वरा सरन्ति यद्वेगात्तस्माद् वेसरका स्मृता।

—मतङ्ग, कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २६

४१—शुद्धा भिन्नाश्च गौडाश्च तथा वेगस्वरा परे।
कलिता यत्र तान् वक्ष्ये सप्त साधारणास्तत॥

—मतङ्ग, कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २६

४२—पड्जग्रामसमुत्पन्न शुद्धकैशिकमध्यम।
शुद्धसाधारित पड्जग्रामो ग्रामे तु मध्यमे॥
पञ्चमो मध्यमग्राम पाडव शुद्धकैशिक।
शुद्धा सप्तेति भिन्ना स्यु पञ्च कैशिकमध्यम॥
भिन्नपड्जश्च पड्जाख्ये मध्यमे तानकैशिकौ।
भिन्नपञ्चम इत्येते गौडकैशिकमध्यम॥
गौडपञ्चमक पड्जे मध्यमे गौडकैशिक।
इति गौडास्त्रय पड्जे टक्कवेसरपाडवौ॥
ससौवीरौ मध्यमे तु वोट्टमालवकैशिकौ।
मालवः पञ्चमान्तोऽथ द्विग्रामष्टक्ककैशिक॥

गौड—गौड राग तीन हैं—

षड्जग्रामीय—(१) गौडकैशिकमध्यम, (२) गौडपञ्चम,

मध्यमग्रामीय—(३) गौडकैशिक।

वेसर—वेसर राग आठ हैं—

षड्जग्रामीय—(१) टक्क, (२) वेसरषाडव, (३) सौवीर,

मध्यमग्रामीय—(४) वोट्ट, (५) मालवकैशिक, (६) मालवपञ्चम,

द्विग्रामसम्बद्ध—(७) टक्ककैशिक, (८) हिन्दोल।

साधारण—साधारण राग सात हैं—

षड्जग्रामीय—(१) रूपसाधार, (२) शक, (३) भम्माणपञ्चम,

मध्यमग्रामीय—(४) नर्त, (५) गान्धारपञ्चम, (६) षड्जकैशिक,

द्विग्रामसम्बद्ध—(७) ककुभ।

इस प्रकार—

शुद्ध	७
भिन्न	५
गौड	३
वेसर	८
साधारण	७
योग	३०

ग्रामरागो की सख्या तीस है।

उपराग—

उपरागो की उत्पत्ति भी जातियो से हुई है। ग्रामरागो के समीपस्थ होने के कारण इन्हें उपराग कहा गया है।[४३] उपरागो की सख्या आठ है। वे हैं—(१) शकतिलक,

---

हिन्दोलोऽष्टौ वेसरास्ते सप्तसाधारणास्तत।
षड्जे स्याद् रूपसाधार शको भम्माणपञ्चम॥
मध्यमे नर्तगान्धारपञ्चमौ षड्जकैशिक।
द्विग्राम ककुभस्त्रिशद् ग्रामरागा अमी मता॥

—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ७-८

४३—जातिभ्यो जातानामपि ग्रामरागसमीपभावित्वादष्टानामुपरागत्वम्।

—कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० ९

(२) टक्कसैन्धव, (३) कोकिलापञ्चम, (४) रेवगुप्त, (५) पञ्चमपाडव, (६) भावनापञ्चम, (७) नागगान्धार, (८) नागपञ्चम।[44]

राग

उपरागों के अनन्तर जातियों से ही उत्पन्न राग 'राग' है।[45] उनकी सख्या वीस है। वे है — (१) श्रीराग, (२) नट्ट, (३) वङ्गाल प्रथम, (४) वङ्गाल द्वितीय, (५) भास, (६) मध्यमपाडव, (७) रक्तहस, (८) कोह्लहास, (९) प्रसव, (१०) भैरव, (११) ध्वनि, (१२) मेघराग, (१३) सोमराग, (१४) कामोद प्रथम, (१५) कामोद द्वितीय, (१६) आम्रपञ्चम, (१७) कन्दर्प, (१८) देशाख्य, (१९) कैशिकककुभ, (२०) नट्टनारायण।[46]

भापाजनक ग्रामराग

ग्रामरागों के आलापप्रकार भापा कहलाते हैं, भापा शब्द का अर्थ यहाँ प्रकार है।[47] इसी प्रकार विभापा और अन्तरभापा शब्द भी क्रमश (भापा से विभापा, विभापा से अन्तरभापा) उत्पन्न आलापप्रकारों के वाचक हैं, रञ्जक होने के कारण इन सवको भी राग समझा जाना चाहिए। याष्टिक मुनि ने भापाजनक राग पन्द्रह, मतङ्ग ने छ

४४—अष्टोपरागास्तिलक शकादिष्टक्कसैन्धव।
कोकिलापञ्चमो रेवगुप्त पञ्चमपाडव।
भावनापञ्चमो नागगान्धारो नागपञ्चम॥

—स० र०, अ० म०, राग०, पृ० ९

४५—उपरागेभ्योऽनन्तर जातिभ्य एव जाता श्रीरागादयो विंशति।

—कल्लि०, स० टी०, म० र०, अ० न०, राग०, पृ० ९

४६—श्रीरागनट्टौ वङ्गालौ भासमध्यमपाडवौ।
रक्तहस कोह्‌लहास प्रसवो भैरवो ध्वनि॥
मेघराग सोमराग कामोदो चाम्रपञ्चम।
स्याता कन्दर्पदेशाख्यौ ककुभान्तश्च कैशिक।
नट्टनारायणश्चेति रागा विंशतिरीरिता॥

—स० र०, अ० न०, राग०, पृ० ९

४७—ग्रामरागाणामेवालापप्रकारा भापावाच्या। भापाशब्दोऽत्र प्रकारवाची।

—मतङ्ग, कल्लि० स० टी०, अ० नं०, राग०, पृ० १०

काश्यप ने बारह और शार्दूल ने चार ही बताये है।[४८] याष्टिकोक्त पन्द्रह (भाषाजनक) राग ये है—

(१) सौवीर, (२) ककुभ, (३) टक्क, (४) पञ्चम, (५) भिन्नपञ्चम, (६) टक्ककैशिक, (७) हिन्दोल, (८) वोट्ट, (९) मालवकैशिक, (१०) गान्धार-पञ्चम, (११) भिन्नषड्ज, (१२) वेसरषाडव, (१३) मालवपञ्चम, (१४) तान, (१५) पञ्चमषाडव।[४९]

१—सौवीर की भाषाऍ

सौवीर की चार भाषाऍ—(१) सौवीरी, (२)वेगमध्यमा, (३) साधारिता, (४) गान्धारी है।[५०]

२—ककुभ की भाषाऍ

ककुभ की छ भाषाऍ—(१) भिन्नपञ्चमी,(२) काम्भोजी, (३) मध्यमग्रामा, (४) रगन्ती, (५) मधुरी, (६) शकमिश्रा है।[५१]

४८–एव विभाषान्तरभाषाशब्दावपि तत्तदनन्तरोत्पन्नालापप्रकारवाचकावित्यवगन्तव्यम्। तासामपि रञ्जनाद् रागत्व तथा च वक्ष्यति–'रञ्जनाद्रागता भाषारागाङ्गादेरपीष्यते' इति। तासा जनका याष्टिकोदिता भाषाजनकतया याष्टिकमुनिनोक्ता। मतान्तराणामप्यत्रैवान्तर्भावाद्याष्टिकमतानुसारेणोद्दिश्यन्त इत्यर्थ। कथम्? मतग षडेव ग्रामरागान् भाषाजनकत्वेनाभाषत। काश्यपस्तु द्वादशैवावोचत्। शार्दूल पुनश्चतुर एवाभ्यधादिति।

—कल्लि० स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० ११

४९–सौवीर ककुभष्टक्क पञ्चमो भिन्नपञ्चम।
टक्ककैशिकहिन्दोल—वोट्टमालवकैशिका॥
गान्धारपञ्चमो भिन्नषड्जो वेसरषाडव।
मालव पञ्चमान्तश्च तान पञ्चमषाडव।
भाषाणा जनका पञ्चदशैते याष्टिकोदिता॥

—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १०

५०–भाषाश्चतस्र सौवीरे सौवीरी वेगमध्यमा। साधारिता च गान्धारी .. .

—स०र०, अ० स०, राग०, पृ० १०

५१– ककुभे भिन्नपञ्चमी। काम्भोजी मध्यमग्रामा रगन्ती मधुरी तथा।
शकमिश्रेति षट् ।

—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १०

तीन विभाषाएँ

(१) भोगवर्धनी, (२) आभीरिका, (३) मधुकरी[52]।

अन्तरभाषा

(१) शालवाहनिका है।[53]

३—टक्क की भाषाएँ

टक्क की इक्कीस भाषाएँ—(१)त्रवणा, (२) त्रवणोद्भवा, (३) वैरञ्जी, (४) मध्यमग्रामदेहा, (५) मालववेसरी, (६) छेवाटी, (७) सैन्धवी, (८) कोलाहला, (९)पञ्चमलक्षिता, (१०)सौराष्ट्री, (११)पञ्चमी, (१२)वेगरञ्जी, (१३) गान्धारपञ्चमी, (१४) मालवी, (१५) तानवलिता, (१६) ललिता, (१७) रविचन्द्रिका, (१८) ताना, (१९) अम्बाहेरिका, (२०) दोह्या, (२१) वेसरी है।[54]

विभाषाएँ

(१) देवारवर्धनी, (२) आन्ध्री, (३) गुर्जरी, (४) भावनी है।[55]

४—पञ्चम की भाषाएँ

पञ्चम की दस भाषाएँ—(१)कैशिकी,(२) त्रावणी, (३) तानोद्भवा, (४) आभीरी, (५) गुर्जरी, (६) सैन्धवी, (७) दाक्षिणात्या, (८) आन्ध्री, (९) माङ्गली, (१०) भावनी है।[56]

५२– . . . .तिस्रो विभाषा भोगवर्धनी । आभीरिका मधुकरी . ॥
—स० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १०

५३– . तयैकान्तरभाषिका । शालवाहनिका ।
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १०

५४– . टक्के त्रवणा त्रवणोद्भवा । वैरञ्जी मध्यमग्रामदेहा मालववेसरी । छेवाटी सैन्धवी कोलाहला पञ्चमलक्षिता । सौराष्ट्री पञ्चमी वेगरञ्जी गान्धारपञ्चमी । मालवी तानवलिता ललिता रविचन्द्रिका । तानाऽम्बाहेरिका दोह्या वेसरीत्येकविंशति । भाषा स्यु . । —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १०

५५– . रथ देवारवर्धन्यान्ध्री च गुर्जरी । भावनीति विभाषा स्युश्चतस्र . . .।
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

५६– . . . पञ्चमे पुन । कैशिकी त्रावणी तानोद्भवाऽऽभीरी च गुर्जरी । सैन्धवी दाक्षिणात्याऽऽन्ध्री माङ्गली भावनी दश । इति भाषा .॥
—स० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ११

विभाषाएँ]

दो विभाषाएँ—(१) भम्माणी, (२) आन्धालिका हैं।[५७]

५—भिन्नपञ्चम की भाषाएँ

भिन्नपञ्चम की चार भाषाएँ—(१) धैवतभूषिता, (२) शुद्धभिन्ना, (३) वाराही, (४) विशाला हैं।[५८]

विभाषा

(१) कौशली है।[५९]

६—टक्ककैशिक की भाषाएँ

टक्ककैशिक की दो भाषाएँ—(१) मालवा, (२) भिन्नवलिता हैं।[६०]

विभाषा

(१) द्राविडी है।[६१]

७—हिन्दोल की भाषाएँ

हिन्दोल की नौ भाषाएँ—(१) वेसरी, (२) चूतमञ्जरी, (३) षड्जमध्यमा, (४) मधुरी, (५) भिन्नपौराली, (६) गौडी, (७) मालववेसरी, (८) छेवाटी, (९) पिञ्जरी हैं।[६२]

हिन्दोल और प्रेङ्खक पर्य्यायवाची शब्द हैं।[६३]

५७— विभाषे द्वे भम्माण्यान्धालिके। —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

५८—चतस्र पञ्चमे भिन्ने भाषा धैवतभूषिता। शुद्धभिन्ना च वाराही विशालेति —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

५९—अथ कौशली। विभाषा —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

६०— मालवाभिन्नवलिते टक्ककैशिके। भाषे द्वे —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

६१— द्राविडीत्येका विभाषा —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

६२— प्रेङ्खके नव। भाषा स्युर्वेसरी चूतमञ्जरी षड्जमध्यमा। मधुरी भिन्नपौराली गौडी मालववेसरी। छेवाटी पिञ्जरीत्येका। —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

६३—प्रेङ्खक इति हिन्दोलपर्य्याय। —कल्लि०, स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

८—वोट्ट की भाषा

वोट्ट की एक भाषा 'मागली' है।[64]

९—मालवकैशिक की भाषाएँ

मालवकैशिक की तेरह भाषाएँ—(१) वाङ्गाली, (२) माङ्गली, (३) हर्षपुरी, (४) मालववेसरी, (५) खञ्जनी, (६) गुर्जरी, (७) गौड़ी, (८) पौराली, (९) अर्धवेसरी, (१०) शुद्धा, (११) मालवरूपा, (१२) सैन्धवी, (१३) आभीरिका हैं।[65]

विभाषाएँ

(१) काम्भोजी, (२) देवारवर्धनी हैं।[66]

१०—गान्धारपञ्चम की भाषा

गान्धारपञ्चम की एक भाषा गान्धारी है।[67]

११—भिन्नषड्ज की भाषाएँ

भिन्नषड्ज की सत्रह भाषाएँ—(१) गान्धारवल्ली, (२) कच्छेल्ली, (३) स्वरवल्ली, (४) निषादिनी, (५) त्रवणा, (६) मध्यमा, (७) शुद्धा, (८) दाक्षिणात्या, (९) पुलिन्दका, (१०) तुम्बुरा, (११) षड्जभाषा, (१२) कालिन्दी, (१३) ललिता, (१४) श्रीकण्ठिका, (१५) वाङ्गाली, (१६) गान्धारी, (१७) सैन्धवी है।[68]

६४—वोट्टे भाषा तु माङ्गली। —कल्लि०, स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११

६५—वाङ्गाली माङ्गली हर्षपुरी मालववेसरी।
खञ्जनी गुर्जरी गौडी पौराली चार्धवेसरी॥
शुद्धा मालवरूपा च सैन्धव्याभीरिकेत्यमू।
भाषास्त्रयोदश ज्ञेया विज्ञैर्मालवकैशिके॥
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ११-१२

६६—विभाषे द्वे तु काम्भोजी तद्वद् देवारवर्द्धिनी।
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १२

६७—गान्धारपञ्चमे भाषा गान्धारी —स० र०, अ० स०, राग, पृ० १२

६८— भिन्नषड्जके। गान्धारवल्ली कच्छेल्ली स्वरवल्ली निषादिनी।
त्रवणा मध्यमा शुद्धा दाक्षिणात्या पुलिन्दका।

विभाषाएँ

(१) पौराली, (२) मालवा, (३) कालिन्दी, (४) देवारवर्धनी हैं।[६९]

१२—वेसरषाडव की भाषाएँ

वेसरषाडव की दो भाषाएँ—(१) नाद्या, (२) बाह्यषाडवा हैं।[७०]

विभाषाएँ

(१) पार्वती, (२) श्रीकण्ठी हैं।[७१]

१३—मालवपञ्चम की भाषाएँ

मालवपञ्चम की तीन भाषाएँ–(१) वेदवती, (२) भावनी, (३) विभावनी हैं।[७२]

१४—तान की भाषा

तान की एक भाषा 'तानोद्भवा' है।[७३]

१५—पञ्चमषाडव की भाषा

पञ्चमषाडव की एक भाषा 'पोता' है।[७४]

तुम्बुरा षड्जभाषा च कालिन्दी ललिता तत ।
श्रीकण्ठिका च वाङ्गाली गान्धारी सैन्धवीत्यमू । भाषा सप्तदश ज्ञेया ।
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ०१२

६९— चतस्रस्तु विभाषिका । पौराली मालवा कालिन्द्यपि देवारवर्धनी ।
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १२

७०—वेसरे पाडवे भाषे द्वे नाद्या वाह्यषाडवा ।
—स०, र० अ० स०, राग०, पृ० १२

७१—विभाषे पार्वती श्रीकण्ठयथ
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १२

७२— मालवपञ्चमे । भाषास्तिस्रो वेदवती भावनी च विभावनी ।
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १२

७३—ताने तानोद्भवा भापा
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १२

७४—भापा पञ्चमपाडवे । पोता .
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १२

कुछ लोग रेवगुप्त नामक राग की एक भाषा 'शका' मानते हैं। मतङ्गकृत बृहद्देशी में पल्लवी नामक एक ऐसी विभाषा तथा भासवलिता, किरणावली और शकवलिता नामक तीन अन्तरभाषाओं की चर्चा है, जिनके जनक राग नहीं बताये गये हैं।[७५] इस प्रकार समस्त भाषाओं का संकलन निम्न लिखित है—

१	सौवीर	४
२.	ककुभ	६
३	टक्क	२१
४	पञ्चम	१०
५	भिन्नपञ्चम	४
६	टक्ककैशिक	२
७	हिन्दोल	९
८	बोट्ट	१
९.	मालवकैशिक	१३
१०	गान्धारपञ्चम	१
११.	भिन्नषड्ज	१७
१२	वेसरषाडव	२
१३	मालवपञ्चम	३
१४	तान	१
१५	पञ्चमषाडव	१
	मतान्तर-रेवगुप्त	१
	योग	९६

७५— . . शकामेके रेवगुप्ते विदुर्विदः।
विभाषा पल्लवी भासवलिका किरणावली ॥
शकाद्या वलितेत्येतास्तिस्रस्त्वन्तरभाषिका ।
चतस्रोऽनुक्तजनका बृहद्देश्यामिमा स्मृता ॥
—सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० १२

समस्त विभाषाएँ—

ककुभ	३
टक्क	४
पञ्चम	२
भिन्न पञ्चम	१
टक्क कैशिक	१
मालव कै०	२
भिन्नषड्ज	४
वेसर षाडव	२
अनुक्त जनक	१
योग	२०

सब अतरभाषाओ का सकलन यह है[७६]

ककुभ	१
अनुक्तजनक	३
योग	४

मतङ्ग ने मुख्या, स्वराख्या, देशजा एव अन्योपरागजा नामक चार भाषाएँ वतायी हैं। जो अन्य किसी भाषा से प्रभावित न हो वह मुख्या, जो किसी स्वर के नाम पर हो वह स्वराख्या, जो किसी देश के नाम पर हो वह देशाख्या या देशजा एव इन तीनो से उत्पन्न अन्योपरागजा कहलाती है। याष्टिक ने इन्ही चारो अर्थात् मूला को मुख्या, स्वराख्या को सकीर्णा, देशाख्या को देशजा और अन्योपरागजा को सङ्कीर्णा कहा है।

शुद्धा, आभीरी, रगन्ती तथा (टक्क, हिन्दोल एव मालवकैशिकी से उत्पन्न) तीन प्रकार की मालववेसरी ये छ भाषाएँ मुख्या कही गयी हैं। शेष भाषाओ का लक्षण स्पष्ट है। जिन भाषाओ के लक्षण भिन्न हैं, उनमें भी कभी नाम का सादृश्य हो जाता है।

उपराग, भाषाजनक राग, भाषाराग, विभाषाराग एव अन्तरभाषाराग भरतोक्त ग्रामरागो से सम्बद्ध होने के कारण हमारी चर्चा का विषय वने हैं। विस्तारभय से उनके लक्षण नही दिये जा रहे हैं।

७६—एव षण्णवतिर्भाषा विभाषा विंशतिस्तथा।
चतस्रोऽन्तरभाषा स्यु शार्ङ्गदेवस्य समता ॥

—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० १३

जिनमें ग्रामोक्त रागों की छायामात्र हो, वे 'रागाङ्ग', जिनमें अङ्ग की छाया हो वे 'उपाङ्ग', जिनमें भाषाओं की छाया हो, वे 'भाषाङ्ग', करुणा, उत्साह, शोक इत्यादि व्यक्त करनेवाली प्रयोगक्रिया (गान-वादन-क्रिया) से जिनकी उत्पत्ति हो, वे 'उपाङ्ग' कहलाते है। 'रागाङ्ग','उपाङ्ग', 'भाषाङ्ग' एव 'क्रियाङ्ग' की गणना देशी रागों में है, भरत-सम्प्रदाय से साक्षात् रूप में सम्बद्ध न होने के कारण उनकी चर्चा नहीं की जा रही है।

अनुबन्ध (१)

कुछ परिभाषाओं का स्पष्टीकरण

प्रधानतया हमारा प्रतिपाद्य विषय वही है जो नाट्यशास्त्र की स्वरविधि में प्रतिपादित है, परन्तु मतङ्ग, शार्ङ्गदेव इत्यादि के जातिलक्षणो में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द आये है, जिनका स्पष्टीकरण इस पुस्तक के पाठको के लिए परमावश्यक है, फलत ऐसे शब्दो का सक्षिप्त स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जाता है—

ताल

प्रतिष्ठार्थक 'तल्' धातु के पश्चात् अधिकरणार्थक 'घञ्' प्रत्यय लगने से 'ताल' शब्द बनता है, क्योकि गीत-वाद्य-नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। लघु, गुरु, प्लुत से युक्त सशब्द एव नि शब्द क्रिया द्वारा गीत, वाद्य, नृत्य को परिमित करनेवाला काल ताल कहलाता है।[1]

लघु, गुरु, प्लुत

पाँच निमेष या पाँच ह्रस्व अक्षरो का उच्चारणकाल भरतवर्णित तालो में लघु या मात्रा कहलाता है।* दो लघु एक गुरु का निर्माण करते हैं और तीन लघुओ से एक प्लुत वनता है। ये लघु, गुरु, प्लुत छन्द शास्त्र या व्याकरणशास्त्र के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत से भिन्न हैं।

१—तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृत ।
गीत वाद्य तथा नृत्त यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥
कालो लघ्वादिमितया क्रियया सम्मितो मितिम् । गीतादेर्विदधत्ताल ..

—स० र०, अ० स०, ताला० पृ० ३–४

* निमेषा पञ्च मात्रा स्यात् ।

—भरत०, व० स०, पृ० ४७५ पर पादटिप्पणी में पाठभेद

गुरु का एक पर्याय 'कला' भी है, ताल-भाग को भी 'कला' कहते हैं तथा नि शब्द एव सशब्द क्रियाएँ भी 'कला' कहलाती हैं।

तालशास्त्र में लघु का चिह्न 'I', गुरु का चिह्न 'S' और भरतवर्णित तालो में 'प्लुत' का चिह्न भी 'S' है।

क्रिया[2]

क्रिया के दो भेद हैं, नि शब्दा और सशब्दा। नि शब्दा क्रिया के चार भेद हैं, आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश। सशब्दा के भी चार भेद हैं—ध्रुव, शम्या, ताल और सन्निपात। सशब्दा क्रियाएँ 'पात' भी कहलाती है।

आवाप—उत्तान (चित, हथेली आकाश की ओर होने की स्थिति से युक्त) हाथ की अँगुलियो का सिकोडना या वन्द करना आवाप कहलाता है। सकेत 'आ०' है।

निष्क्राम—अधस्तल हाथ की अँगुलियो का फैलाना 'निष्क्राम' है। सङ्केत 'नि०' है।

विक्षेप—अँगुलियाँ फैलाये हुए उत्तान हाथ को दाहिने पार्श्व में फेंकना 'विक्षेप' है। सकेत 'वि०' है।

प्रवेश—अधस्तल हाथ की अँगुलियो का सिकोडना 'प्रवेश' है। सकेत 'प्र०' है।

ध्रुव—चुटकी वजाते हुए, हाथ को नीचे ले जाना 'ध्रुव' है। संकेत 'ध्रु०' है।

शम्या—दाहिने हाथ से ताली वजाना 'शम्या' है। सकेत 'श०' है।

ताल—वायें हाथ से ताली वजाना 'ताल' है। सकेत 'ता०' है।

सन्निपात—दोनो हाथो से ताली वजाना 'सनिपात' है। संकेत 'स०' है।

२— . क्रिया द्विधा। नि शब्दा शब्दयुक्ता च नि शब्दा तु कलोच्यते।
स्यादावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशक।
नि:शब्देति चतुर्धोक्ता सशब्दापि चतुर्विधा।
ध्रुव. शम्या ततस्ताल सनिपात इतीरिता।
पात कला तु सा ज्ञेया तासा लक्ष्मानिदध्महे।
आवापस्तत्र हस्तस्योत्तानस्याङ्गुलिकुञ्चनम्।
निष्क्रामोऽधस्तलस्य स्यादङ्गुलीना प्रसारणम्।
क्षेपो दक्षिणपार्श्वस्योत्तानस्य प्रसृताङ्गुले.।
विक्षेपोऽधस्तलस्यास्य प्रवेशोऽङ्गुलिकुञ्चनम्।
ध्रुवो हस्तस्य पात स्याच्छोटिकाशब्दपूर्वक।
शम्या दक्षिणहस्तस्य ताला वामहस्तस्य तु।
उभयो सनिपात स्यात् . . .। —स० र०, अ० सं०, ता०अ०, पृ० ४-५

ताल के मुख्य भेद

भरतोक्त तालो मे चतुरस्र अर्थात् चञ्चत्पुट (चच्चत्पुट, चञ्चूपुट) और त्र्यस्र अर्थात् चाचपुट (चापपुट) मुख्य हैं।[३] इन दोनो के तीन भेद, यथाक्षर (एककल), द्विकल और चतुष्कल होते हैं।[४] यथाक्षर से द्विगुण मात्राएँ होने के कारण द्विगुण और चतुर्गुण मात्राएँ होने पर चतुष्कल रूपो का निर्माण होता है।[५]

तालो का रूप जब ताल के नाम में प्रयुक्त अक्षरो की स्थिति के अनुसार होता है, तब वे 'यथाक्षर' कहलाते हैं। यथाक्षर चञ्चत्पुट में अन्तिम अक्षर 'ट' प्लुत होता है और चाचपुट में नही।

सयुक्त वर्ण से पूर्व वर्ण ह्रस्व होने पर भी दीर्घ या गुरु माना जाता है, फलत 'चञ्चत्पुट' शब्द में अक्षर क्रमश गुरु, गुरु, लघु, प्लुत हैं। इसलिए यथाक्षर चञ्चत्पुट का रूप 'ऽ ऽ । ऽ' और यथाक्षर चाचपुट का रूप 'ऽ।।ऽ' है। यथाक्षर चञ्चत्पुट में आठ और यथाक्षर चाचपुट में छ मात्राएँ होती हैं।

पञ्चपाणि

चाचपुट ताल का एक भेद 'षट्पितापुत्रक' ताल है, जिसे 'पञ्चपाणि' और 'उत्तर' भी कहते हैं।[६] षट्पितापुत्रक ताल के आदिम एव अन्तिम अक्षर यथाक्षर अवस्था में

३—त्र्यस्रश्च चतुरस्रश्च स तालो द्विविध स्मृत। —भरत०, ब० स०, पृ० ४७६

चतुरस्रस्तु विज्ञेय तालश्चञ्चू (ञ्च) त्पुटो बुधै।

—भरत०, का० स०, पृ० ३४३

त्र्यस्र स खलु विज्ञेयस्तालश्चापपुटो भवेत्। —भरत०, का० स०, पृ० ३४३

४—यथाक्षरश्च द्विकलश्चतुष्कल इति त्रिधा। —स० र०, अ० स०, त्यला०, पृ० ९

५—तौ चञ्चत्पुटचाचपुटौ (द्विगुणौ) द्विकलापेक्षया द्विगुणीकृतौ सन्तौ चतुष्कला-वित्युच्येते। अष्टगुरुसमितो द्विकलचञ्चत्पुटो द्विगुणीकृत्य षोडशगुरुसमित सश्चतुष्कलो भवति। षड्गुरुसम्मितो द्विकलचाचपुटो द्विगुणीकृत्य द्वादशगुरु-सम्मित सश्चतुष्कलो भवति।

—कल्लि०, स० टी०, अ० स०, ताला०, पृ० ११

६—षट्पितापुत्रकस्त्र्यस्रभेद सोऽपि तथा त्रिधा।

—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० ११

तस्य षट्पितापुत्रकस्य उत्तर पञ्चपाणिश्चेत्येतन्नामद्वयम्।

—सिंह०, स० टी०, अ० स०, ताला०, पृ० ११

प्लुत होते हैं। फलत इसमें अक्षरों की स्थिति प्लुत, लघु, गुरु, गुरु, लघु, प्लुत अर्थात् 'ऽ।ऽऽ।ऽ' है। (३+१+२+२+१+३=) १२ मात्राओं से यथाक्षर षट्पितापुत्रक ताल बनता है।

यथाक्षर चच्चत्पुट की तालक्रिया[7]

तालक्रिया	स०		श०		ता०	श०		
तालरूप	ऽ		ऽ		।	ऽ		
तालाक्षर	च		चत्		पु	ट		
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८

द्विकल चच्चत्पुट में आठ गुरु अर्थात् सोलह लघु होते हैं—

द्विकल चच्चत्पुट की तालक्रिया[8]

तालक्रिया	नि०		श०		वि०		ता०	
तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८
तालक्रिया	श०		प्र०		वि०		श०	
तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
मात्राएँ	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

चतुष्कल चच्चत्पुट ताल में सोलह गुरु अर्थात् ३२ मात्राएँ होती हैं—

चतुष्कल चच्चत्पुट की तालक्रिया[9]

१	तालक्रिया	आ		नि०		वि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८
२	तालक्रिया	आ		नि०		वि०		ता०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६

७—चच्चत्पुटे त्वेककले सशताश यथाक्रमम्। —सं० र०, अ० न०, पृ० १४

८—निशौ निताश प्रविश द्विकले युग्मके मता। —सं० र०, अ० न०, ताल०, पृ० १५

९— ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि श

इतिचतुष्कल-चच्चत्पुट-कलाविधि। —सं० र०, अ० न०, ताल०, पृ० १७

३	तालक्रिया	आ०		श०		वि०		प्र०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
४	तालक्रिया	आ		नि०		वि०		स०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२

यथाक्षर चाचपुट की तालक्रिया[10]

तालक्रिया	श०		ता०	श०	ता०	
तालरूप	ऽ		।	।	ऽ	
तालाक्षर	चा		च	पु	ट	
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६

द्विकल चाचपुट की तालक्रिया[11]

द्विकल चाचपुट में छ गुरु अर्थात् बारह मात्राएँ होती हैं—

१	तालक्रिया	नि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१	२	३	४
२	तालक्रिया	ता०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	५	६	७	८
३	तालक्रिया	नि०		स०	
	तालरूप	ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	९	१०	११	१२

चतुष्कल चाचपुट में बारह गुरु अर्थात् २४ मात्राएँ होती हैं—

१०—शता शता (ताश ताश) इत्येककल-चाचपुट-कलाविधि ।

—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० १५

११—निशौ ताशौ निसमिति ज्ञेयाश्चाचपुटे क्रमात् ।

—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० १५

चतुष्कल चाचपुट की तालक्रिया[12]

१	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८
२	तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
३	तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		स०	
	तालरूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
	मात्राएँ	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४

यथाक्षर पट्पितापुत्रक की तालक्रिया[13]

तालक्रिया	स०			ता०	श०		ता०		श०	ता०		
तालरूप	ऽ			।	ऽ		ऽ		।	ऽ		
तालाक्षर	पट्			पि	ता		पु		त्र	क		
मात्राएँ	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

द्विकल पट्पितापुत्रक ताल में बारह गुरु या चौबीस मात्राएँ होती हैं, परन्तु एक पाद-भाग चार-चार मात्राओं का होता है।

द्विकल पट्पितापुत्रक की तालक्रिया[14]

१	तालक्रिया	नि०		प्र०	
	मात्रा	१	२	३	४

१२– ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि स इति चतुष्कल-चाचपुटकलाविधि। —सं० र०, अ० न०, ताला०, पृ० १७

१३– ऽ । ऽ ऽ । ऽ
स ता श ता श ता इत्येककलपट्पितापुत्रककलाविधि। —सं० र०, अ० न०, ताला०, पृ० १५

१४– निप्रताशनितानिशनाप्रनिन तथोत्तरे। इति द्विकल-पट्पितापुत्रककलाविधि। —सं० र०, अ० न०, ताला०, पृ० १५

२	तालक्रिया	ता०		श०	
	मात्रा	५	६	७	८
३	तालक्रिया	नि०		ता०	
	मात्रा	९	१०	११	१२
४	तालक्रिया	नि०		श०	
	मात्रा	१३	१४	१५	१६
५	तालक्रिया	ता०		प्र०	
	मात्रा	१७	१८	१९	२०
६	तालक्रिया	नि०		स०	
	मात्रा	२१	२२	२३	२४

चतुष्कल षट्पितापुत्रक की तालक्रिया[15]

चतुष्कल षट्पितापुत्रक में चौबीस गुरु अर्थात् ४८ मात्राएँ होती हैं।

तालक्रिया	आ		नि०		वि०		प्र०	
मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८
तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		श०	
मात्रा	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		ता०	
मात्रा	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		श०	
मात्रा	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
तालक्रिया	आ०		ता०		वि०		प्र०	
मात्रा	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	४०

१५– ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता
ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि स

इति चतुष्कल-षट्पितापुत्रककलाविधि। —स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० १७

तालक्रिया	आ०		नि०		वि०		न०	
मात्रा	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८

पूर्वोक्त तीन तालो केअतिरिक्त उद्घट्ट एव सपक्वेष्टाक नामक दो और ताल भी भरतोक्त है, परन्तु जातियो और रागो के प्रस्तारो में चतुष्कल चञ्चत्पुट और चतुष्कल पञ्चपाणि ताल का ही प्रयोग हुआ है, अत इन्ही का विशिष्ट वर्णन किया गया है। पञ्चपाणि ताल त्र्यस्र चाचपुट का एक भेद है, इसी लिए चाचपुट का वर्णन किया गया है।

चञ्चत्पुट ताल के प्रथम पादभाग में कनिष्ठा, द्वितीय पादभाग में सम्मिलित कनिष्ठा-अनामिका, तृतीय पादभाग में सम्मिलित कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा एव चतुर्थ पादभाग में सम्मिलित कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा-तर्जनी से तालक्रिया करनी चाहिए।[१६]

चाचपुट के तीन पादभागो में क्रमश कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका एव कनिष्ठा-अनामिका-तर्जनी से तालक्रिया करनी चाहिए। मध्यमा का प्रयोग इस ताल की तालक्रिया में वर्जित है।[१७]

पञ्चपाणि ताल के छ पादभागो में क्रमश कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा, कनिष्ठा-अनामिका-तर्जनी-मध्यमा, कनिष्ठा-तर्जनी से तालक्रिया करनी चाहिए।[१८]

मार्ग

महर्षि भरत ने चित्र, वार्तिक, दक्षिण ये तीन 'मार्ग' वताये हैं। शार्ङ्गदेव ने 'ध्रुव' नामक एक और मार्ग भी कहा है। ध्रुवमार्ग में एक, चित्र में दो, वार्तिक में चार और दक्षिण मार्ग में आठ मात्राओं से एक पाद-भाग (कला) का निर्माण होता

१६–प्रथमे पादभागे स्यात् कलाङ्गुल्या कनिष्ठया।
तया चानामयान्यत्र ताभ्या मध्यमया तया।
तृतीये स्याच्चतसृभिस्तुर्ये चच्चत्पुटस्य तु॥
—स० र०, अ० म०, ताला०, पृ० १४

१७–ओजस्य पादभागे तु कला मध्याङ्गुली विना।
—स० र०, अ० म०, ताला०, पृ० १४

१८–पञ्चपाणे कनिष्ठादिचतुष्केण कनिष्ठया।
तर्जन्या च पृथक् पादभागषट्के क्रमात्कला॥

है ।[19] इसी लिए चित्रमार्ग में यथाक्षर या एककल, वार्तिक मार्ग में द्विकल और दक्षिण मार्ग में चतुष्कल ताल का प्रयोग होता है ।

परिवर्तन या आवृत्ति

पादभागादि से युक्त ताल का दुहराना परिवर्त (न) या आवृत्ति कहलाता है ।[20]

मान (परिमिति, परिमाण, प्रमाण, नाप)

विश्रान्तियुक्त तालक्रिया से तालो का 'मान' किया जाता है ।[21]

लय

तालक्रिया के अनन्तर (अगली तालक्रिया से पूर्व तक) किया जानेवाला विश्राम 'लय' कहलाता है। शीघ्रतम लय 'द्रुत,' उससे द्विगुण 'मध्य' तथा उससे द्विगुण 'विलम्बित' कहलाती है । चित्र, वार्तिक एव दक्षिण मार्ग में विश्रान्तिकाल के परिमाण में भेद होने के कारण, क्रमश लय में क्षिप्रभाव, मध्यभाव एव चिरभाव के कारण लय के अनेक भेद हो जाते हैं । फलत क्षिप्रभाव में द्रुत, मध्य, विलम्बित, मध्यभाव में द्रुत, मध्य, विलम्बित तथा चिरभाव में द्रुत, मध्य एव विलम्बित भेदो का पृथक्-पृथक् रूप होता है ।[22]

तीनो मार्गों में एक मात्रा का काल पाँच लघु अक्षरो के उच्चारणकाल के समान होता है, तथापि चित्र मार्ग में दस लघु अक्षरो के उच्चारणकाल से परिमित काल के पश्चात् होनेवाली लय 'द्रुत' कहलाती है, वार्तिक मार्ग में बीस लघु अक्षरो के उच्चारण काल के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली लय 'मध्य' कहलाती है, दक्षिण मार्ग में चालीस लघु अक्षरो के उच्चारणकाल के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली लय 'विलम्बित' कहलाती है ।

१९—मार्गा स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिक । दक्षिणश्चेति तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला । शेषेपु द्वे चतस्रोऽष्टौ क्रमान्मात्रा कला भवेत् ॥
—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० ५

२०—आवृत्ति पादभागादे परिवर्तनमिष्यते । —स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० २४

२१—विश्रान्तियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते ।
—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० २४

२२—क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लय स त्रिविधो मत । द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुत शीघ्रतमो मत । द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ । मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ॥

किसी स्थान को जाने के तीन मार्ग हैं, दूसरा मार्ग पहले मार्ग की अपेक्षा दुगुना लम्बा है, तीसरे मार्ग की लम्बाई दूसरे मार्ग की अपेक्षा भी द्विगुण है। एक ही गति से चलनेवाले तीन व्यक्तियों में प्रथम व्यक्ति प्रथम मार्ग से लक्ष्यस्थल पर जितने समय में पहुँचेगा, दूसरे मार्ग से चलनेवाला उससे द्विगुण और तीसरे मार्ग से चलनेवाला उससे भी द्विगुण समय में लक्ष्य स्थल तक पहुँचेगा। अपेक्षया पहले व्यक्ति के पहुँचने का काल द्रुत, दूसरे व्यक्ति के पहुँचने का काल मध्य एव तीसरे व्यक्ति के पहुँचने का काल विलम्बित होगा। मार्ग-भेद से लय-भेद की स्थिति भी ऐसी ही है।

इस लय का उपयोग अक्षर, शब्द या वाक्य में नही होता। क्योंकि बोलचाल के समय इनकी जो लय होती है, उसका सङ्गीत से कोई सम्बन्ध नही है।[23]

यति

लय की प्रवृत्ति (प्रयोग) का नियम 'यति' कहलाता है। उसके तीन भेद 'समा', 'स्रोतोगता' और 'गोपुच्छा' हैं।

समा

आदि, मध्य एव अन्त में समान लय से युक्त यति 'समा' है। द्रुत, मध्य एव विलम्बित लय के भेद से इसके तीन भेद हो जाते हैं।

स्रोतोगता

स्रोत जलवृद्धि से पूर्व विलम्बित गति से चलता है, परन्तु जल-वृद्धि होने पर उसका वेग बढ जाता है। इसी प्रकार आदि में विलम्बित लय, मध्य में मध्य लय एवं अन्त में द्रुत लयवाली यति स्रोतोगता कहलाती है। विलम्बित और मध्य लयवाली दूसरी 'स्रोतोगता' तथा मध्य एव द्रुत लयवाली तीसरे प्रकार की 'स्रोतोगता' यति होती है।

गोपुच्छा

गौ की पूँछ अन्त में विस्तृत होती है, फलत आदि में द्रुत, मध्य में मध्य एव अन्त में विलम्बित लयवाली यति 'गोपुच्छा' होती है। द्रुत एव मध्य लयवाली द्वितीय 'गोपुच्छा' और मध्य-विलम्बित लयवाली तृतीय 'गोपुच्छा' कहलाती है।[24]

२३—लयोऽक्षरे पदे वाक्ये योऽसौ नात्रोपयुज्यते।
—न० र०, अ० न०, ताला०, पृ० २५

२४—लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते।
समा स्रोतोगता चान्या गोपुच्छा त्रिविधेति सा॥

है ।[१९] इसी लिए चित्रमार्ग में यथाक्षर या एककल, वार्तिक मार्ग में द्विकल और दक्षिण मार्ग में चतुष्कल ताल का प्रयोग होता है ।

परिवर्तन या आवृत्ति

पादभागादि से युक्त ताल का दुहराना परिवर्त (न) या आवृत्ति कहलाता है ।[२०]

मान (परिमिति, परिमाण, प्रमाण, नाप)

विश्रान्तियुक्त तालक्रिया से तालो का 'मान' किया जाता है ।[२१]

लय

तालक्रिया के अनन्तर (अगली तालक्रिया से पूर्व तक) किया जानेवाला विश्राम 'लय' कहलाता है। शीघ्रतम लय 'द्रुत,' उससे द्विगुण 'मध्य' तथा उससे द्विगुण 'विलम्बित' कहलाती है । चित्र, वार्तिक एव दक्षिण मार्ग में विश्रान्तिकाल के परिमाण में भेद होने के कारण, क्रमश लय में क्षिप्रभाव, मध्यभाव एव चिरभाव के कारण लय के अनेक भेद हो जाते हैं । फलत क्षिप्रभाव में द्रुत, मध्य, विलम्बित, मध्यभाव में द्रुत, मध्य, विलम्बित तथा चिरभाव में द्रुत, मध्य एव विलम्बित भेदो का पृथक्-पृथक् रूप होता है ।[२२]

तीनो मार्गों में एक मात्रा का काल पाँच लघु अक्षरो के उच्चारणकाल के समान होता है, तथापि चित्र मार्ग में दस लघु अक्षरो के उच्चारणकाल से परिमित काल के पश्चात् होनेवाली लय 'द्रुत' कहलाती है, वार्तिक मार्ग में बीस लघु अक्षरो के उच्चारण काल के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली लय 'मध्य' कहलाती है, दक्षिण मार्ग में चालीस लघु अक्षरो के उच्चारणकाल के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली लय 'विलम्बित' कहलाती है ।

१९—मार्गा स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिक । दक्षिणश्चेति तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला। शेषेपु द्वे चतस्रोऽष्टौ क्रमान्मात्रा कला भवेत् ॥

—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० ५

२०—आवृत्ति पादभागादे परिवर्तनमिष्यते । —स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० २४

२१—विश्रान्तियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते ।

—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० २४

२२—क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लय स त्रिविधो मत । द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुत शीघ्रतमो मत । द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ । मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ॥

इन गीतों में भेद उपभेद भी हैं, हमने इनकी चर्चा 'ध्रुवा' से सम्बद्ध होने के कारण की है।

पदाश्रित गीति

स्थायी, आरोही, अवरोही वर्णों से अलङ्कृत पद एवं लय से युक्त गानक्रिया 'गीति' कहलाती है। गीति के चार प्रकार—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला हैं।[27]

मागधी

प्रथम पादभाग (कला) में विलम्बित लय से युक्त पद को गाकर, दूसरे पादभाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करने के पश्चात् मध्यलय में गाने के अनन्तर तीसरे पादभाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करके द्रुतलय में गाना 'मागधी' गीति है।[28] इस गीति का जन्म मगध देश में हुआ है। यदि चार मात्राओं का एक पादभाग मान लिया जाय, तो मागधी गीति का उदाहरण यह होगा—

पहली कला	१	२	३	४
(पादभाग)	मा	गा	मा	धा
	दे	—	व	—
दूसरी कला	५	६	७	८
	धनि	धनि	सनि	धा
	दे	व	रु	द्र
तीसरी कला	९	१०	११	१२
	रिग	रिग	मग	न्मि
	देव	रुद्र	व	दे

२७—वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता। गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा ।।
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी । सम्भाविता च पृथुला ॥
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २८०

२८—गीत्वा कलायामाद्यायां विलम्बितलयं पदम् । द्वितीयायां मध्यलये तत्पदाल्पम्-न्यपुनः । तृतीयपदे ते च तृतीयस्यां द्रुते लये । इति त्रिवृत्तपदा मागधी स्व-र्युधा ॥
—सं० र०, अ० सं०, स्वरा०, पृ० २८०

ग्रह

ताल में 'सम', 'अतीत' और 'अनागत' तीन 'ग्रह' हैं।

गीत, वाद्य, नृत्य के साथ होनेवाला ताल का आरम्भ 'समपाणि' या 'समग्रह', गीत, वाद्य, नृत्य के पश्चात् होनेवाला ताल का आरम्भ 'अवपाणि' या 'अतीतग्रह' तथा गीत, वाद्य, नृत्य से पूर्व होनेवाला ताल का आरम्भ 'उपरिपाणि' या 'अनागतग्रह' कहलाता है।

सम, अतीत और अनागत ग्रहो में लय क्रमश मध्य, द्रुत और विलम्बित होती है।[२५]

प्रकरण-गीतक और ब्रह्म-गीत

इन तालो का आश्रय लेकर (१) मद्रक, (२) अपरान्तक, (३) उल्लोप्य, (४) प्रकरी, (५) ओवेणक, (६) रोविन्दक, (७) उत्तर नामक सात गीतो का वादन किया गया है। सात गीत (१) छन्दक, (२) आसारित, (३) वर्धमान, (४) पाणिक, (५) ऋक्, (६) गाथा, (७) साम भी हैं। ब्रह्मा ने मोक्ष के लिए शिवस्तुति में इनका प्रयोग किया है।[२६]

आदिमध्यावसानेषु लयैकत्वे समा त्रिधा।
लयत्रैधादादिमध्यावसानेषु यथाक्रमात्॥
चिरमध्यद्रुतलया तदा स्रोतोगता मता।
अन्या विलम्बमध्याभ्या मध्यद्रुतवती परा॥
द्रुतमध्यविलम्बै स्याद् गोपुच्छा द्रुतमध्यभाक्।
द्वितीयान्या भवेन्मध्यविलम्बितलयान्विता॥

—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० २६

२५—समोऽतीतोऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मत। गीतादिसमकालस्तु समपाणि समग्रह। सोऽवपाणिरतीत स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तते। अनागत प्राक् प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिक। लया क्रमात्समादौ स्युर्मध्यद्रुतविलम्बिता॥

—स०, र०, अ० स०, ताला०, पृ० २७-२८

२६—एतै प्रकरणाख्यानि तालैर्यानि जगुर्बुधा। तानि गीतानि वक्ष्यामस्तेषामाद्य तु मद्रकम्। अपरान्तकमुल्लोप्य प्रकर्योवेणक तत। रोविन्दकोत्तरे सप्त गीतकानीत्यवादिपु। छन्दकासारिते वर्धमानक पाणिक तथा। ऋचो गाथा च सामानि गीतानीति चतुर्दश। शिवस्तुतौ प्रयोज्यानि मोक्षाय विदधे विधि॥

—स० र०, अ० स०, ताला०, पृ० २९

इन गीतों में भेद उपभेद भी है, हमने इनकी चर्चा 'ध्रुवा' से सम्बद्ध होने के कारण की है।

पदाश्रित गीति

स्थायी, आरोही, अवरोही वर्णों से अलंकृत पद एवं लय से युक्त गानक्रिया 'गीति' कहलाती है। गीति के चार प्रकार—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला हैं।[२७]

मागधी

प्रथम पादभाग (कला) में विलम्बित लय से युक्त पद को गाकर, दूसरे पादभाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करने के पश्चात् मध्यलय में गाने के अनन्तर तीसरे पादभाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करके द्रुतलय में गाना 'मागधी' गीति है।[२८] इस गीति का जन्म मगध देश में हुआ है। यदि चार मात्राओं का एक पादभाग मान लिया जाय, तो मागधी गीति का उदाहरण यह होगा—

पहली कला	१	२	३	४
(पादभाग)	मा	गा	मा	धा
	दे	—	व	—
दूसरी कला	५	६	७	८
	धनि	धनि	सनि	धा
	दे	व	रु	द्र
तीसरी कला	९	१०	११	१२
	रिग	रिग	मग	रिनि
	देव	रुद्र	व	दे

२७—वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता। गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा ॥
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी। सम्भाविता च पृथुला ॥
—सं० र०, प्र० सं०, स्वरा०, पृ० २८०

२८—गीत्वा कलायामाद्यायां विलम्बितलयं पदम्। द्वितीयायां मध्यलये तत्पदान्तर-संयुतम्। ततस्तृतीयपदे ते च तृतीयस्यां द्रुते लये। इति त्रिगतसंगता मागधी स-दुर्घा ॥
—सं० र०, प्र० सं०, स्वरा०, पृ० २८०

अर्धमागधी

प्रथम कला में 'देव' पद का मागधी के समान उच्चारण, दूसरी कला में 'देव' के पश्चात् 'व' के साथ 'रुद्र' का उच्चारण और तीसरी कला में 'रुद्र' के पश्चार्द्ध 'द्र' के साथ 'वदे' का उच्चारण 'अर्धमागधी' है।[२९] उदाहरण—

१—	१	२	३	४
	मा	री	गा	सा
	दे		व	
२—	५	६	७	८
	सा	सा	धा	नी
	व	रु	द्र	–
३—	९	१०	११	१२
	पा	धा	पा	मा
	द्र	व	दे	–

कुछ लोगो के अनुसार अर्धमागधी में अवशिष्ट दो पदो की दो बार आवृत्ति होनी चाहिए।[१०] जैसे—

१—	१	२	३	४
	मा	मा	मा	मा
	दे		व	
२—	५	६	७	८
	धा	सा	धा	नी
	दे	व	रु	द्र
३—	९	१०	११	१२
	पा	निध	मा	मा
	रु	द्र	व	दे

२९–पूर्वयो पदयोरर्वे चरमे द्विर्पदोदिते।
तदाऽर्वमागधी प्राहु । —स० र०, अ० सं०, स्वर०, पृ० २८२

३०–द्विरावृत्तपदान्तरे । —स० र०, अ० स०, स्वर, पृ० २८३ पर पाठभेद

सम्भाविता

दीर्घ अक्षरों का आधिक्य एवं पदों का सङ्कोच होने पर सम्भाविता गीति होती है।[११]
जैसे —

१—	१	२	३	४
	धा	मा	मा	रिग
	भ	—	क्त्या	—
२—	५	६	७	८
	री	गा	सा	सा
	दे	—	व	—
३—	९	१०	११	१२
	नी	धा	मा	नी
	रु	—	द्रं	—
४—	१३	१४	१५	१६
	धा	नी	मा	मा
	व	—	दे	—

पृथुला

जिसमें अधिकांश पद ह्रस्व अक्षरों से निर्मित हों, वह 'पृथुला' गीति होती है।[१२]
जैसे—

१—	१	२	३	४
	मा	गा	री	गा
	मु	र	न	त
२—	५	६	७	८
	सा	धनि	धा	धा
	ह	र	प	द

११—सङ्क्षेपितपदा भूरिगुरु सम्भाविता मता।
—सं० र०, अ० सं०, स्वर०, पृ० २८४

१२—भूरिलघ्वक्षरपदा पृथुला सम्मता सताम्।
—सं० र०, अ०, सं०, स्वर०, पृ० २८५

३—	९	१०	११	१२
	धा	सा	धा	नी
	यु	ग	ल	—
४—	१३	१४	१५	१६
	पा	निधप	मा	मा
	प्र	ण	म	त

स्वराश्रित गीति

स्वराश्रित गीतियाँ पाँच है—शुद्ध, भिन्न, गौडी, वेसरा और साधारणी। यही पाँच गीतियाँ शुद्ध, भिन्न, गौड, वेसर एव साधारण नामक पाँच ग्रामराग-भेदो का निर्माण करती है।[३३]

मतङ्ग, कल्लिनाथ एव सिंहभूपाल के मत में ये पाँचो गीतियाँ 'दुर्गामत' के अनुसार है।[३४] कल्लिनाथ के समक्ष प्रस्तुत भरत-नाट्यशास्त्र में भी इन पाँचो गीतियो का उल्लेख था।[३५]

शुद्धा

अवक्र एव ललित स्वर शुद्धा गीति का निर्माण करते है।[३६]

३३—पञ्चधा ग्रामरागा स्यु पञ्चगीतिसमाश्रयात्। गीतय पञ्च शुद्धा च भिन्ना गौडी च वेसरा। साधारणीति । —स० र०, अ० स०, रागा०, पृ० ३

३४—गीतय पञ्च विज्ञेया शुद्धा भिन्ना च वेसरा। गौडी साधारणी चैव इति दुर्गामते मतम्॥ —मतङ्ग, सिंह०, स० टी०, राग०, पृ० ५

शुद्धादयस्तु प्राधान्येन स्वराश्रिता इतीह ग्रन्थकार एता पञ्च गीतीर्दुर्गामतानुसारेणालक्षयत्। —कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० ६

तत्र दुर्गामतमाश्रित्य पञ्च गीतय इत्युक्तम्। —सिंह०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० ५

३५—तथा चाह भरत —

'पूर्वरङ्गे तु शुद्धा स्याद् भिन्ना प्रस्तावनाश्रया। वेसरा मुखयो कार्य्या गर्भे गौडी विधीयते। साधारितावमर्शे स्यात् सन्धौ निर्वहणे तथा। —भरत०, कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० ३२

३६— शुद्धा स्यादवक्रैर्ललितै स्वरै। —स० र०, अ० स०, राग०, पृ० ३

भिन्ना

वक्र स्वरों एवं सूक्ष्म तथा मधुर गमकों से युक्त गीति भिन्ना कहलाती है।[37]

गौडी

त्रिस्थानव्यापी प्रगाढ़ गमकों और 'ओहाटी' के कारण ललित स्वरों के द्वारा तीनों स्थानों में अखण्ड रूप से स्थिति गौडी कहलाती है।[38]

ठोडी को हृदय पर रखकर मन्द्र स्वरों को कोमलतापूर्वक कम्पित गमक करके इस प्रकार निकालने से 'ओहाटी' की व्यक्ति होती है, जिसमें श्रोताओं को 'ह' और 'ओ' के सम्मिलित उच्चारण जैसी ध्वनि सुनाई दे। 'ओकार' और 'हकार' पर 'अटन' (गमन) करने के कारण ही इस क्रिया को 'ओहाटी' कहा जाता है।[39]

वेसरा

आरोही, अवरोही, स्थायी एवं सञ्चारी वर्णों में अत्यन्त रक्तिपूर्वक वेगवान स्वरों से रागों को गाना 'वेसरा' (वेगस्वरा) गीति है।[40]

साधारणी

पूर्वोक्त चारों गीतियों की विशेषताओं को सम्मिलित करके गाना 'साधारणी' गीति है।[41]

पद

विभक्तियुक्त शब्द 'पद' है।[42] अक्षरसम्बद्ध प्रत्येक वस्तु 'पद' है।[43] स्वर-

---

३७–भिन्ना वक्रैः स्वरैः सूक्ष्मैर्मधुरैर्गमकैर्युता। —सं०, र०, अ० सं०, राग०, पृ ३

३८–गाढैस्त्रिस्थानगमकैरोहाटीललितैः स्वरैः। अखण्डितस्थिति स्थानत्रये गौडी मता सताम्॥ —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ३

३९–ओहाटी कम्पितैर्मन्द्रैर्मृदुद्रुततरैः स्वरैः। हकारौकारयोगेन हृन्यस्ते चिबुके भवेत्॥ —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ३

४०–वेगवद्भिः स्वरैर्वर्णचतुष्केऽप्यतिरक्तितः। वेगस्वरा रागगीतिर्वेसरा प्रोच्यते बुधैः॥ —सं० र०, अ० सं०, राग० पृ० ६

४१–चतुर्गीतिस्थित लक्ष्म श्रिता साधारणी मता। —सं० र०, अ० सं०, राग०, पृ० ६

४२–विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम् —भरत०, ना० सं०, अध्याय १४ पृ० २१४

४३–यत्स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्। —भरत०, च० सं०, पृ० ५३५

तालानुभावित गान्धर्व में प्रयोज्य वस्तु को 'पद' कहा जाता है।[४४] पद के दो भेद 'चूर्ण पद' और 'निबद्ध पद' हैं।[४५]

चूर्ण पद या अनिबद्ध पद

छन्दोविधि के अनुसार जो निबद्ध न हो, जिसमें अक्षरो की सख्या नियत न हो, जिसमें शब्दो की सख्या अर्थ के अनुसार हो, ऐसा सार्थक शब्दसमूह 'चूर्ण पद' कहलाता है।[४६]

निबद्ध पद

छन्दोविधि के अनुसार जो निबद्ध अक्षरो से युक्त हो, जिसमें अक्षरो की सख्या नियत हो, जो यतिच्छेद से युक्त हो, वह सार्थक शब्दसमूह 'निबद्ध पद' कहलाता है। (वह अनेक छन्दो से उत्पन्न होता है।[४७])

गीत

दशाश-लक्षणलक्षित स्वरसनिवेश (राग या जाति), पद, ताल एव मार्ग इन चार अगो से युक्त गान गीत कहलाता है।[४८]

बहिर्गीत या निर्गीत

जिनमें सार्थक शब्दो के स्थान पर निरर्थक 'शुष्काक्षरो' या 'स्तोभाक्षरो' का प्रयोग हो, वे 'निर्गीत' या 'बहिर्गीत' कहलाते हैं।[४९] निर्गीत का अर्थ निरर्थक गीत

४४—गान्धर्व यन्मया प्रोक्त स्वरतालपदात्मकम्।
पदे तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावितम्॥
—भरत०, व० स०, पृ० ५३५ पाठ-भेद

४५—विभक्त्यन्त पद ज्ञेय निबद्ध चूर्णमेव वा। —भरत०, गा० स०, अ० १४, पृ० २३४

४६—अनिबद्ध पदवृन्द तथा चानियताक्षरम्। अर्थापेक्षाक्षरयुत ज्ञेय चूर्णपद बुधै॥
—भरत०, व० स०, पृ० २२४

४७—निबद्धाक्षरसयुक्त यतिच्छेदसमन्वितम्। निबद्ध तु पद ज्ञेय प्रमाणनियताक्षरम्॥
—भरत०, गा० स०, अ० १४, पृ० २३४

४८—ग्रहाशादिदशलक्षणलक्षितस्वरमात्रसनिवेशविशेषो राग। तै स्वरै पदैस्तालैर्मार्गैरेव चतुर्भिरङ्गैरुपेत ध्रुवादिसज्ञक गीतम्।
—कल्लि०, स०, र०, अ० स०, राग०, पृ० ३३

४९—निर्गीत गीयते यस्मादपद वर्णयोजनात। —भरत०, गा० २ स०, अ० ५, पृ० २२३

है।[५०] इस निर्गीत के आविष्कारक नारद हैं।[५१] इसको विशेषतया असुरों ने अपनाया, इसलिए देवताओं ने इसे बहिर्गीत कहना आरम्भ कर दिया।[५२]

स्तोभाक्षर या शुष्काक्षर

स्तोभाक्षरों या 'शुष्काक्षरों' का उपदेश ब्रह्मा ने किया है। वे हैं—

क्षण्टु, जगतिप, वलितक, कुचझल, गितिकल, पशुपति, दिगिनिगि, दिग्रे, गणपति, तिचा।[५३]

आचार्य शार्ङ्गदेव के अनुसार—

'क्षण्टु जगतिप वलिकित कुचझल तितिझल पशुपति दिगिदिगि वादिगोग गणपति तितिघा' है। क्षण्टु के स्थान पर 'ऋटु', 'दिगिदिगि' के स्थान पर 'दिग्ले', 'तितिवा' के स्थान 'तेचाम्' या 'तेन्नाम्' पाठ भी मिलते हैं। ओंकार और स्वर-व्यञ्जनयुक्त 'हकार' की गणना भी स्तोभाक्षरों में है।[५४]

ये स्तोभाक्षर पादपूर्ति के लिए भी उपयोगी हैं और ये सार्थक शब्दों की भांति छन्दोबद्ध भी हो सकते हैं।

शुष्काक्षरयुक्त एक विशिष्ट छन्द का रूप नौ गुरु, छ लघु और तीन गुरु है। उदाहरण इस प्रकार है —[५५]

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ
१	२	३	४	५	६	७	८	९,	१	२	३	४	५	६,	१	२	३
दि	ग्ले	दि	ग्ले	क्ष	ट्टु	क्ष	ट्टु	ज	वु	क	व	लि	त	क	ते	त्ते	न्नाम्

वर्णा क्षण्टुमादय स्थाय्यादयश्च।

—अभि०, भरत०, गा० २ स०, अ० ५, पृ० २२३

५०—निर्गीतमिति तावदाद्य नाम। निरर्थक गीतमिति।

—अभि०, भरत०, गा० २ स०, अ० ५, पृ० २२३

५१—नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैस्तथा देवदानवा। निर्गीत श्राविता सम्यग्व्यनाङ्ग-समन्वितम्॥ भरत०, गा० २ स०, अ० ५, पृ० २२१

५२—एव निर्गीतमेतत्तु दैत्याना स्पर्धया द्विजा। देवाना बहुमानेन बहिर्गीतमिति स्मृतम्॥

—भरत०, गा० २ स०, अ० ५, पृ० २२२

५३—नाट्य०, स० को०, पृ० ७४७

५४—स० र०, अ० स०, ताल०, पृ० १२९

५५—भरत०, च० स०, पृ० ७९

इस छन्द में सार्थक पदो की योजना भी सम्भव है और प्रत्येक छन्द में शुष्काक्षरो की भी योजना सम्भव है। इसी प्रकार अवनद्ध वाद्यो के पाटाक्षरो (बोलो) से भी छन्द का निर्माण सम्भव है।

पूर्वोक्त मद्रक इत्यादि सप्त गीतो का लम्बा विधान है, वह विधान सप्तरूप विधान कहलाता है। बहिर्गीत उस सप्तरूप विधान से युक्त होते हैं। शुष्काक्षरो का गान 'स्तोभक्रिया' भी कहलाता है।

ध्रुवा-गीत

गीति का आधारभूत नियत पदसमूह 'ध्रुवा' कहलाता है।[५६] नारद इत्यादि द्विजो ने अनेक प्रकार से जिन गीताङ्गो का विनियोग किया है, उन सबकी सज्ञा 'ध्रुवा' है।[५७] जो ऋचाएँ, पाणिका एव गाथाएँ हैं, जो सप्तरूप के अङ्ग और प्रमाण हैं उन सबकी सज्ञा 'ध्रुवा' है।[५८] इनमें वाक्य, वर्ण, यति, पाणि और लय के अविचल रूप से सबद्ध रहने के कारण इन्हें 'ध्रुवा' कहा गया है।[५९]

'जाति' (वृत्ताक्षरप्रमाण), 'प्रकार' (सम, अर्धसम, विषम इत्यादि), 'प्रमाण' (षट्कल, अष्टकल), 'स्थान' तथा नाम इन पाँच कारणो से ध्रुवाओ के अनेक भेद हो जाते हैं।[६०]

प्रयोग के अवसरो में भेद होने से ध्रुवा के पाँच प्रकार—प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अन्तरा हो जाते हैं।[६१]

५६—ध्रुवा-गीत्याधारो नियत पदसमूह ।

—अभि० गा० स० २, अध्या० ६, पृ० २७०

५७—ध्रवामज्ञानि तानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजै ।गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकश ॥

—भरत०, ब० स०, पृ० ५३२

५८—या ऋच पाणिका गाथास्सप्तरूपाङ्गमेव च।
मप्तरूपप्रमाण च तद् ध्रुवेत्यभिसज्ञितम् ॥

—भरत०, ब० स०, पृ० ५३२

५९—वाक्यवर्णा ह्यलङ्कारा यतय पाणयो लया । ध्रुवमन्योन्यसबद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवा स्मृता ॥

—भरत०, ब० स०, पृ० ५३३

६०—जाति( )स्थान प्रकारश्च प्रमाण नाम चैव हि।
ज्ञेया ध्रुवाणा नाटयज्ञैर्विकल्पा पञ्चहेतुका ॥ —भरत०, का० स०, पृ० ४१७

६१—प्रवेशाक्षेपनिष्कामप्रासादिकमथान्तरम् ।
गान पञ्चविध ज्ञेय ॥ " "

प्रावेशिकी

नाटक में अङ्कारम्भ के समय पात्र रङ्गमञ्च पर आकर विभिन्न रसों और अर्थों से युक्त जिस ध्रुवा का गान करे, वह 'प्रावेशिकी' ध्रुवा कहलाती है।[62]

नैष्क्रामिकी

अङ्क के अन्त में पात्रों के निष्क्रमण के समय निष्क्राम के गुणों से युक्त जो ध्रुवा गायी जाती है, उसे 'नैष्क्रामिकी' कहते हैं।[63]

आक्षेपिकी

विधि के जाननेवाले गुणी नाट्य में क्रम का उल्लङ्घन करके जिस ध्रुवा का प्रयोग करते हैं, वह 'आक्षेपिकी' है।[64]

प्रासादिकी

जो ध्रुवा अन्य रस को प्राप्त अवस्था का, अपने आक्षेप से, परिवर्तन करके रङ्गस्थल में प्रसन्नता का सञ्चार कर देती है, वह 'प्रासादिकी' कहलाती है।[65]

अन्तरा

पात्र के विषादयुक्त, विस्मृत, क्रुद्ध, सुप्त, मत्त, विश्रान्त, मूर्च्छित या पतित होने पर दोषों को ढकने के लिए प्रयुक्त होनेवाली ध्रुवा 'अन्तरा' कहलाती है।[66]

अन्य दृष्टियों से होनेवाले ध्रुवा-भेदों पर विचार इस अवसर पर अनावश्यक होने के कारण नहीं किया जा रहा है।

६२—नानारसार्थयुक्ता नृणां या गीयते प्रवेशेषु ।
प्रावेशिकी तु नाम्ना विज्ञेया सा ध्रुवा तज्ज्ञैः ॥ —भरत०, च० सं०, पृ० ५८९

६३—अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु ।
निष्क्रामोपगतगुणा विद्यान्नैष्क्रामिकीं तां तु ॥ —भरत०, च० सं०, पृ० ५८९

६४—क्रममुल्लङ्घ्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाट्यविधौ ।
आक्षेपिकी ध्रुवासौ —भरत०, च० सं०, पृ० ५८९

६५—या च रसान्तरमुपगतमाक्षेपवशात् प्रसादयति ।
राग (रङ्ग) प्रसादजननीं विद्यात्प्रासादिकीं तां तु ॥
—भरत०, च० सं०, पृ० ५८९

६६—विषण्णे विस्मृते क्रुद्धे सुप्ते मत्तेऽथ सन्नते ।
गुरुभारावसन्ने च मूर्च्छिते पतिते तथा ॥ —भरत०, गा० सं०
दोषप्रच्छादने या च गीयते सान्तरा ध्रुवा ॥ —भरत०, च० सं० पृ० ५८९

ध्रुवापद

ध्रुवा-गान के लिए महर्षि ने अनेक वृत्तो एव छन्दो का विधान किया है, जो गेय हैं। वे ध्रुवापद या ध्रुवावृत्त कहलाते है। वे अनेक हैं।

पूर्वरङ्ग

रङ्गस्थल में सब से पूर्व किया जानेवाला प्रयोग पूर्वरङ्ग कहलाता है।[६७] गीत, ताल, वाद्य, नृत्त, पाठ्य इत्यादि समस्त या व्यस्त रूप में नाटक से पूर्व प्रयुक्त किये जाने पर भी नाट्याङ्ग रहते हैं और उनकी सज्ञा 'पूर्वरङ्ग' होती है।[६८] इसके अनेक अङ्ग है।

सन्धियाँ

नाटक में वर्ण्य वस्तु के विकास की विभिन्न अवस्थाओ को व्यक्त करनेवाले स्थल सन्धि कहलाते हैं। वे पाँच है,—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।[६९]

आलाप

ग्रह, अश, मन्द्र, तार, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडव और औडुव की स्थिति जहाँ दिखाई दे, उसे रागालाप कहा जाता है।[७०] आलाप में अपन्यास स्वरो पर रुका नही जाता इसलिए वह एकाकार होता है।[७१]

६७—यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽय पूर्वमेव प्रयुज्यते ।
तस्मादय पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमा ॥

६८—गीततालवाद्यनृत्तपाठ्य व्यस्तसमस्ततया प्रयुज्यमान यन्नाट्याङ्गभूत स पूर्वरङ्ग इत्युक्त भवति । —अभि०, गा० सं० र०, अध्या० ५, पृ० २०९

६९—मुख प्रतिमुखञ्चैव गर्भो विमर्श एव च ।
तथा निर्वहणञ्चेति नाटके पञ्च सन्धय ॥
—भरत०, गा० स०, अध्याय० १९, पृ० २३

७०—ग्रहाशतारमन्द्राणा न्यासापन्यासयोस्तथा ।
अल्पत्वस्य वहुत्वस्य पाडवौडुवयोरपि ।
अभिव्यक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते ॥
—स० र०, अ० स०, राग०, पृ० २०–२१

७१—अपन्यासेष्वविरम्यैकाकारेण प्रवृत्त आलाप ।
—कल्लि० स० र०, अ० स०, राग०, पृ० २१

रूपक

अपन्यास स्वरों पर रुक रुककर किया जानेवाला 'आलाप' रूपक कहलाता है, उसमें गीतखण्ड पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं।[७२] रञ्जक स्वर-सन्दर्भ गीत कहलाता है।[७३]

आक्षिप्तिका

चञ्चत्पुट इत्यादि तालों और तीनों मार्गों (में से एक) से विभूषित स्वर तथा पदों से गूंथी हुई रचना 'आक्षिप्तिका' कहलाती है।[७४]

वर्तनी

प्रबन्ध के अन्तर्गत लयबद्ध परन्तु तालहीन विलम्ब आलाप 'वर्तनी' है।[७५] इसके पूर्व आलाप होता है।

करण

वर्तनी ही द्रुत लय में प्रयुक्त होने पर 'करण' कहलाती है।[७६]

७२—रूपक तद्वदेव स्यात् पृथग्भूतविदारिकम् ।

—सं० र०, अ० स०, राग०, पृ० २१

स (आलाप) एवापन्यासेषु विरम्य विरम्य प्रवृत्तो रूपकमिति।

—कल्लि०, स० टी०, अ० स०, राग०, पृ० २१

७३—रञ्जकः स्वरसन्दर्भो गीतमित्यभिधीयते ।

—सं० र०, अ० स०, प्रब०, पृ० १८७

७४—चञ्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता ।
आक्षिप्तिका स्वरपदग्रथिता कथिता बुधैः ॥

—सं० र०, अ० स०, राग०, पृ० २१

७५—वर्तिन्या वा विवर्तिन्यामालप्यन्नाल्पवर्जितः ।
आदावारोप्यते यस्याः सा स्यादालापपूर्विका ॥

—सोमराज, सं० सो०, पृ० ५८७

७६—मन्तव्योऽत्र सदा भेदे (दो) वर्तिन्याः करणस्य च ।
सविलम्बस्वरैरेव वर्तिनी कथिता बुधैः ॥ —सोमराज, सं० सो० पृ० ५८७

अनुबन्ध (२)

रस एवं स्वर-सन्निवेश

भावो को अभिव्यक्त करने की चेष्टा प्राणिमात्र का स्वभाव है। भावाभिव्यक्ति के साधनो में नाद के उस रूप का भी एक विशिष्ट स्थान है, जो व्याकरण की दृष्टि से 'निरर्थक' होता है और जिसमें अभिधा वृत्ति नही होती।[1]

ये निरर्थक कहे जानेवाले नाद स्वतन्त्र रूप से भी भाव-व्यञ्जन में समर्थ होते हैं और भाषा की भी सहायता करते हैं। भाषा के जिस वाचन को 'पाठ' की सज्ञा दी जाती है, वह स्वरसवलित होने पर ही पाठ कहलाता और वक्ता के वास्तविक अभिप्राय का बोध कराता है। उस अवस्था में स्वर अपने स्थानो का स्पर्शमात्र करते हुए ऊँचे-नीचे होते हैं, उनके अवधानपूर्ण अनुरणनात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण उस समय नही होता। यदि ऐसा हो, तो पाठ एव गान में कुछ भेद ही न रह जाय।[2]

अस्तु, भावव्यञ्जन की दृष्टि से हमारे मनीषी पूर्वजो ने पाठ-प्रयोज्य अनुरणन-हीन ध्वनियो का भी सप्रयोग वर्गीकरण किया है एव जिन निष्कर्षों पर वे पहुँचे है, वे चिरकाल की सतत साधना के परिणाम हैं। उन्होने कहा है कि शब्दो को सस्वर एव

१—इह येय प्रथमेन सवित्स्पन्देन प्राणोल्लासनया वर्णादिरूपविशेषहीना वाग् जन्यते, सा नादरूपा सती हर्षशोकादिचित्तवृत्ति विधिनिषेधाद्यभिप्राय वा तत्कार्य्यलिङ्ग-तया वा तादात्म्येन वा श्रुत्यन्तादि गमयतीति तावत् स्थितम्।

—अ० भा०, गा० स०, अ० १७, पृ० ३८७

२—उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितरूपतया स्वराणा यद्रक्तिप्रधानत्वमनुरणनमय तत्त्यागेनोच्चनीचमध्यमस्थानसस्पर्शित्वमात्र पाठ्योपयोगीति। यदि स्वरगता रक्ति पाठ्ये प्राधान्येनावलम्ब्येत तदा गानक्रियासौ स्यात्, न पाठ। तस्माद् गानवैलक्षण्याय रक्तिलक्षण धर्म्ममनादृत्योच्चादिस्थानसस्पर्श एवात्र प्रधानमिति। —अ० भा०, गा० स०, अ० १७, पृ० ३८५-३८६

उचित स्वर रूप में बोला जाय, तभी वे प्रयोक्ता के अर्थ का साधन करते हैं, अन्यथा वे हानिकारक भी हो सकते हैं।[1]

'पाठ्य' वस्तु में स्वर-प्रयोग हमारे विचार का विषय यहाँ नहीं। गेय स्वरसमुच्चय में भाव-व्यञ्जन की शक्ति ही हमारा प्रस्तुत विषय है। गीत या रञ्जक स्वर-सन्दर्भ से रस-परिपाक की प्रक्रिया को समझने के लिए नाट्यरस की प्रक्रिया को समझना परमावश्यक है।

नाट्य में रसप्रक्रिया

स्थायी भाव

हम जो कुछ देखते, सुनते या अनुभव करते हैं, उनका संस्कार हमारे मन पर पड़ता है। अनुभव क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाता है, परन्तु वह एक स्थायी संस्कार छोड़ जाता है, जिसे 'वासना' भी कहा जाता है। अनुकूल या उद्बोधक सामग्री पाकर हमारे मन में सुप्तप्राय ये संस्कार जाग जाते हैं। ये संस्कार इस जन्म के तथा पूर्व जन्मों के भी हो सकते हैं। इन संस्कारों की गणना असम्भव है, तथापि प्राचीन आचार्यों ने उनको निश्चित करने की सीमित चेष्टा की है। ये स्थायी भाव कहलाते हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और भय आठ स्थायी भाव हैं, परवर्ती आचार्यों ने एक नवाँ स्थायीभाव निर्वेद भी माना है। इन नवों स्थायी भावों में भी कुछ प्रधान हैं।

विभाव

विभाव दो हैं—'आलम्बन 'और' उद्दीपन।' नायिका एवं नायक इत्यादि स्थायी भावों को उद्बुद्ध करने के कारण 'आलम्बन' कहलाते हैं। बाह्य परिस्थितियाँ प्राकृतिक सौन्दर्य इत्यादि वस्तुएँ आलम्बन विभावों के द्वारा उद्बुद्ध स्थायी भावों को उद्दीप्त करने के कारण 'उद्दीपन विभाव' कहलाती हैं।

१—दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
—महाभाष्य में उद्धृत

अथ यदब्रवीद् इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति तस्मादु हैनमिन्द्र एव जघान। अथ यद् ह शश्व-
दवक्ष्यद् इन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्वेति शश्वदु ह स इन्द्रमेवाहनिष्यत्।
—शतपथ ब्राह्मण, का० १, प्र० ५, ब्रा० २

नैयायिक आचार्य शंकुक का दृष्टिकोण

शकुक का कथन है कि रस नट में नही होता, परन्तु सामाजिको की वासना उस नट में स्थायी भाव का अनुमान करके रस का आस्वाद करती है। कुशल नट (अभिनेता) काव्यार्थ के साक्षात् और शिक्षा के अनुसार किये हुए अभ्यास से नाट्य-कर्म्म द्वारा अपने आप में उन कृत्रिम कार्य्य, कारण एव सहकारियो का प्रकाश करता है, जो विभाव इत्यादि कहलाते हैं और सामाजिको के द्वारा कृत्रिम नही माने जाते। नट में रस की प्रतीति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार चित्रनिर्मित अश्व में अश्व की प्रतीति होती है। यह प्रतीति 'सम्यक् प्रतीति' (राम ही यह है, यही राम है), 'मिथ्या प्रतीति' ('यह राम नही है'—इस पश्चात्कालीन ज्ञान से पूर्व होनेवाले भ्रम 'यह राम है'), 'सशय प्रतीति' (यह राम है या नही है) और 'सादृश्य प्रतीति' (यह राम के सदृश है) की अपेक्षा विलक्षण होती है। सौन्दर्य (चमत्कार) के कारण रसनीय (आस्वाद्यमान) होने से वस्तु (रति) अन्य अनुमीयमान (अनुमान-ज्ञेय) पदार्थों से भिन्न होती है।[१]

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार कुहरे से आवृत स्थान में कुहरे को धुआँ समझने के कारण धुएँ के साथ रहनेवाली अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नट के द्वारा निपुणतापूर्वक विभाव आदि को 'ये मेरे ही है' इस रूप में प्रकाशित किये जाने

निष्पत्त्यभावात् सामाजिकाना चमत्कारानापत्तिरित्यरुचि मनसि निधाय श्रीशकुकमत द्वितीयम्।

—वामन, वही, पृ० ८८

१—राम एवायम् अयमेव राम इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, राम स्याद् वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्-मिथ्या-सशय-सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे काव्यानुसन्धानवलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्य-प्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितै कारणकार्यसहकारिभि कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यै 'सयोगात्' गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यवलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षण स्थायित्वेन सभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकाना वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशकुक।

—का० प्र०, वही स०, पृ० ८८-९०

के कारण, वस्तुत अविद्यमान विभाव इत्यादि के द्वारा उनमें नियत रति अनुमीयमान होने पर भी अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों द्वारा आस्वाद का विषय बनती और चमत्कार का आधान करती हुई 'रसत्व' को प्राप्त होती है।"[10]

इस मत में कई असङ्गतियाँ हैं। नट-रूप राम का रामत्व निश्चित नहीं, परन्तु उसे अनुमान का आधार बनाया जा रहा है। अनुभाव इत्यादि हेतु भी कल्पित या कृत्रिम हैं, परन्तु उन्हें अकृत्रिम माना जा रहा है। कृत्रिम हेतु के द्वारा साध्य स्थायी भाव भी सम्भावित मात्र (अयथार्थ) है। अनुमिति भी कल्पित है।

सांख्यवादी भट्ट नायक के द्वारा अन्य मतों की आलोचना

भट्ट नायक का कथन है कि राम इत्यादि अनुकार्य और नट इत्यादि अनुकर्ता में रस की स्थिति मानने से सामाजिकों के हृदय के साथ उस पर-गत रस का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा और वह तटस्थ सामाजिक के लिए निष्प्रयोजन होगा।

यदि रस की स्थिति स्वगत (सामाजिकों के हृदय में) मानें, तो भी सङ्गति नहीं बैठती, क्योंकि सीता इत्यादि विभावों के द्वारा रस की उत्पत्ति होती है, जो सामाजिकों के प्रति विभाव नहीं होते, अपितु राम इत्यादि के प्रति होते हैं।

यदि यह कहा जाय कि साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सीता इत्यादि से सीतात्व इत्यादि निकल जाते हैं, उनमें सामान्य कान्तात्व इत्यादि रह जाता है, फलतः वे सामाजिकों के प्रति भी विभाव आदि हो सकते हैं, तो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि जब देवता इत्यादि का वर्णन होता है, तो उनके प्रति सामाजिकों के हृदय में पूज्य बुद्धि हो जाती है जो साधारणीकरण में बाधक है।

यदि यह कहा जाय कि अपनी कान्ता का स्मरण होने से सामाजिकों का रसास्वाद होता है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि रसास्वाद के क्षणों में न तो अपनी कान्ता याद आती है और रसास्वाद उन्हें भी होता है, जिनकी कान्ता न तो थी और न है।

१०—एतन्मतस्यायं निष्कर्षः—यथा [illegible] रसत्वाभिमानात् धर्मनियतस्य [illegible] अनुमानात्, तथा नटेऽपि दुष्यन्त [illegible] विभावादिभिः [illegible] रसा- [illegible] ।

—[illegible]

रस की अभिव्यक्ति मानने पर भी सङ्गति नही बैठती, क्योकि अभिव्यक्ति तो उस वस्तु की होती है, जो पहले से सिद्ध हो, अन्धकार में पहले से विद्यमान वस्तुओ का प्रकाशन दीपक करता है, परन्तु रस की सत्ता उसके अनुभव से पूर्व या पश्चात् नही रहती। फलत —

भट्ट नायक का दृष्टिकोण

परगत या स्वगत भाव से रस प्रतीत, उत्पन्न या अभिव्यक्त नही होता, अपितु काव्य एव नाट्य में, अभिधा वृत्ति से अतिरिक्त, भावकत्व व्यापार से विभाव आदि का साधारणीकरण (व्यक्तिविशेष अश के परित्याग से उपस्थापन) हो जाता है। अत भावकत्व व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत होते हुए) स्थायी भाव की भुक्ति होती है। इस भुक्ति का कारण अन्य ज्ञेय वस्तुओ के सम्पर्क से शून्य स्थिति या सत्त्वोद्रेक से प्रकाशरूप आनन्दमय साक्षात्काररूप भोग होता है।[11]

इस मत का निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार शब्द का व्यापार अभिधावृत्ति (शब्द का सीधा सादा अर्थ बतानेवाली वृत्ति) है, उसी प्रकार काव्य एव नाट्य में अभिधा से विलक्षण 'भावकत्व' एव 'भोजकत्व' दो व्यापार हैं। काव्यार्थ के बोध के पश्चात्, भावकत्व व्यापार से विभावादि रूप सीता आदि, सीतात्व को और राम-सम्बन्धिनी रति रामत्व से सम्बद्ध अश को छोडकर, सामान्यतया कामिनीत्व रतित्व आदि के रूप में उपस्थापित होते हैं। उक्त रीति से साधारणीकृत विभाव आदि का

११—न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रस प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमान स्थायी तत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायक।

—का० प्र०, वही स०, पृ० ९०

काव्ये दोषाभावगुणालकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीये-नाशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रज-स्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमय-निजसविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन पर भुज्यते (इति भट्टनायक)।

—अभिनव०, गा० स० २, अ० ६, पृ० २७७

योग भोजकत्व व्यापार से होता है, तत्पश्चात् सहृदय सामाजिक उस भोजकत्व व्यापार के द्वारा रति का आस्वाद करते हैं।[१२]

भट्ट नायक के इस मत से श्रीमान् अभिनवगुप्तपादाचार्य को सन्तोष न हुआ और उन्होंने भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापारों की कल्पना को प्रमाणहीन और उस प्रकार के साक्षात्कार की कल्पना को भी प्रमाणहीन माना है। वे भावकत्व एवं भोजकत्व दोनों को व्यञ्जना का ही रूप मानते हैं।* इनके मत में साधक काव्य है, साधन व्यञ्जना है और साध्य रस है। इनका दृष्टिकोण निम्नोक्त है—

आलंकारिक आचार्य अभिनवगुप्त का दृष्टिकोण

अभिनवगुप्तपादाचार्य्य का कथन है कि लोक में प्रमदा के कटाक्ष इत्यादि से जो सहृदय व्यक्ति यह निश्चित अनुमान कर लेते हैं कि उसके हृदय में व्यक्तिविशेष के प्रति रति है, उन्हीं को काव्य में रस का आस्वाद होता है।

लोक में जो प्रमदा इत्यादि लौकिक कारण होते हैं, वे काव्य और नाट्य में विभावन इत्यादि अलौकिक (काव्यगत, नाट्यगत) व्यापारों से युक्त हो जाने के कारण विभाव इत्यादि कहलाने लगते और लौकिक कारणत्व का परित्याग कर देते हैं।

'ये विभाव मेरे हैं—न मेरे हैं, न शत्रु के हैं—न तटस्थ व्यक्ति के हैं' इन लौकिक सम्बन्ध-विशेषों के स्वीकार या परिहार के अनिर्णय के कारण वे विभाव सामान्यतया कामिनी इत्यादि रूपों में रह जाते हैं।

१२—शब्दस्याभिधात्मकवत् काव्यनाट्ययोस्तद्विलक्षणं भावकत्वभोजकत्वनामकं व्यापारद्वयमतिरिक्तमस्ति, काव्यार्थबोधोत्तरमेव तत्राद्येन भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूपसीतादयो रामसम्बन्धिनी रतिश्च सीतात्वरामत्वसम्बन्धासमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैवोपस्थाप्यन्ते, अन्त्येन भोजकत्वव्यापारेण तु उक्तरीत्या साधारणीकृतविभावादिसहकृतेन सा रतिः सहृदयैरास्वाद्यते (अत एव असत्या अपि रतेरास्वादः अलौकिकत्वादुपपन्नः) इति रतेरास्वाद एव रसनिष्पत्तिरिति।

—वामन, का० प्र०, का० न०, पृ० ९१

*वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों में क्रमशः अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना वृत्तियाँ रहती हैं। ये वृत्तियाँ क्रमशः वाच्यार्थ (शब्दों के सीधे सादे अर्थ), लक्ष्यार्थ (वाच्यार्थ के अनुपपन्न होने पर उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ) एवं व्यंग्यार्थ (वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न एवं विलक्षण अर्थ) का बोध कराती हैं। व्यञ्जना वृत्ति आलंकारिकों द्वारा मानी गयी है। 'रस' व्यंग्य होता है।

इन साधारणीकृत विभावो के द्वारा, सामाजिको में वासनात्मक रूप से स्थित रत्यादि स्थायी भावो की अभिव्यक्ति होती है। साधारण (व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से हीन) उपाय के बल से वे विभाव उस समय सामाजिको की परिमित (सीमित) स्थिति को 'विगलित' कर देते हैं और उन सामाजिको में एक ऐमी अपरिमित चित्त-वृत्ति का उदय हो जाता हैं, जिसमें अन्य वेद्य विषयो के साथ उन सामाजिको का कोई सम्पर्क नही रहता। फलत समस्त सहृदयो के सवाद (एक स्थान पर देखी हुई वस्तु के, अन्य स्थान में, वैसे ही दर्शन) के पात्र साधारण्य के द्वारा सहृदयो को रस का आस्वाद होता है।

वह रस सामाजिको से, उनके अपने आकार के समान, अभिन्न होता है, आस्वाद्य-मानता ही उसका प्राण है। सहृदयो को रसास्वाद उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पानक-रस (इलायची, मिर्च, शर्करा, कर्पूर, खटाई इत्यादि को मिलाकर वनाये हुए पेय पदार्थ के स्वाद) का होता है। वह रस सर्वत्र परिस्फुरित होता हुआ-सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, प्रत्यङ्ग को (अमृत के समान) स्पर्श करता हुआ-सा, अन्य समस्त ज्ञेय पदार्थों का तिरोधान करता हुआ सा, ब्रह्मास्वाद का अनुभव कराता हुआ-सा और लौकिक सामग्रीजन्य आस्वाद की अपेक्षा विलक्षण एव चमत्कारपूर्ण होता है।

वह रस उत्पाद्य (कार्य) नही होता, क्योकि कारण के विनाश से तो कार्य का विनाश हो जाता है, परन्तु सीता आदि विभावो के वस्तुत न होने पर भी सहृदय सामाजिको को रसास्वाद होता है। वह रस 'ज्ञाप्य' भी नही होता, क्योकि ज्ञापन तो पहले से सिद्ध वस्तु का होता है, रस पहले से सिद्ध नही होता, अपितु विभाव आदि के द्वारा व्यञ्जित होकर आस्वाद्य होता है।

यदि यह कहा जाय कि 'कारक' और 'ज्ञापक' के अतिरिक्त यह तृतीय विलक्षण वस्तु कहां से निकल आयी ? तो यह तीसरी विलक्षण या अलौकिक वस्तु यही विद्यमान हैं, क्योकि अलौकिक कार्य के लिए अलौकिक कारण भी होना चाहिए, अत विभावादि व्यञ्जको की अलौकिकता उनका दूषण न होकर भूषण ही है।

चर्वणा की उत्पत्ति को ही व्यवहार में रसोत्पत्ति कह दिया जाता है, फलत रस को कार्य भी कह दिया जाय। वह प्रत्यक्ष इत्यादि लौकिक ज्ञान, अपक्व योगियो के प्रमाणनिरपेक्ष ध्यानजन्य ज्ञान, और पक्व योगियो के लौकिक मस्पर्श से शून्य स्वस्वरूप-विषयक एव आत्ममात्र-विषयक ज्ञान से भी ग्राह्य नही होता। क्योकि उसमें विभाव आदि अलौकिक पदार्थ भी रहते हैं, इमी लिए वह रस लोकातीत स्व-सवेदन (ज्ञान) या विषय होता है, अत उमे ज्ञेय भी कह दिया जाय।

रसग्राहक ज्ञान निर्विकल्पक नहीं होता, क्योंकि उसमें विभावादि-सम्बन्ध प्रधान होता है और निर्विकल्पक ज्ञान तो नाम, रूप, जाति-विशेषों से रहित होता है। वह स्वसंवेदन सविकल्पक ज्ञान भी नहीं, क्योंकि अलौकिकानन्दमय रस के आस्वाद की अवस्था में अन्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। फलतः इन दोनों ज्ञानों की अपेक्षा यह विलक्षण भी है और उभयात्मक भी, अतः उसकी अलौकिकता सिद्ध होती है।"

गीत और रस

रञ्जक स्वर-सन्दर्भ गीत कहलाता है। गीत कण्ठ, तन्त्री या सुषिर से अभिव्यक्त हो सकता है। ये तीनों जब मिल जाते हैं, तब स्वर्ण, गन्ध और कोमलता का

१३—लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादि—शब्दव्यवहार्यैः ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते— इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

स च न कार्य्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्, नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्, अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्, न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्, लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहित— स्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षण—लोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

—का० प्र०, चौ० उ०, पृ० ९१

मिश्रण-सा हो जाता है, परन्तु निरपेक्ष रहकर भी ये तीनो साधन पृथक्-पृथक् रूप में भी 'गीत' की ही अवतारणा करते हैं। भगवान् वेदव्यास ने भगवान् कृष्ण के वेणु-वादन को 'वेणु-गीत' कहा है।

प्राचीन आचार्यों ने गीत में व्यञ्जना शक्ति मानी है[१४], इसी लिए वे गीत से रस-व्यञ्जना के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।[१५] आनन्दवर्धन तथा उनके विरोधी भी गीत-शब्दो में रस-व्यञ्जना की शक्ति मानते हैं और कहते हैं कि गीत के शब्द अवाचक होने पर भी रस-व्यञ्जक होते हैं।[१६]

जिस प्रकार सार्थक शब्दो का एक वाचक रूप होता है, उसी प्रकार गेय स्वरो का एक विशिष्ट रूप होता है। 'स्थायी' (आधारभूत) स्वर की अपेक्षा स्वरविशेष का अन्तर उसके स्वरूप को स्पष्ट करता है। जिस प्रकार वाक्य के अङ्गभूत शब्द वाच्यार्थ के पश्चात् व्यग्यार्थ का बोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वरसन्दर्भ के अङ्गभूत स्वर अपने स्वरूप के पश्चात् भाव या रस का बोध कराते हैं। अर्थात् गेय स्वर का 'स्वरूप' व्यग्यार्थ के बोधन में वही कार्य करता है, जो व्यञ्जक शब्दो का वाचक रूप करता है। गीत में स्वरो का अपना स्वरूप ही व्यञ्जना का माध्यम है, उन्हें व्यग्यार्थ बोधन के लिए सार्थक शब्दो के समान वाचकता पर निर्भर नही रहना होता।

आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है कि जिन नील, मधुर इत्यादि वस्तुओ का इन्द्रियजन्य ज्ञान सभी को होता है, भिन्न-मति व्यक्ति भी उन वस्तुओ के विषय में

१४—न हि यैवाभिधानशक्ति सैवावगमनशक्ति । अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमात् ।

—ध्व०, कारि० ३३, वृ, पृ० ३४६

१५—ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययो सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति किं तत्र क्रमकल्पनया। न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेपामन्तरा वाच्यपरामर्श ।

—ध्व०, कारि० ३३, वृ०, पृ० ३३४

१६—तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्तीति रसादिविपयम्। न च तेपा वाचकत्व लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते। शब्दादन्यत्रापि विपये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद् वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्त वक्तुम्।

—ध्व०, कारि० ३३, वृ०, पृ० ३५८

मतभेद के शिकार नही होते। जिस वस्तु के नील रूप का निर्बाध ज्ञान हो रहा हो, उसके विषय में कोई भी नही कहेगा कि वह वस्तु पीली है, नीली नही। उसी प्रकार वाचक शब्दो, अवाचक गीतध्वनियो एव अशब्द चेष्टाओ (मुद्राओ) की सर्वानुभवसिद्ध व्यञ्जकता को भला कौन अस्वीकृत कर सकता है?[१७]

रसकौमुदीकार श्रीकण्ठ भी काव्य, गीत एव नाटय को निरपेक्ष रूप में अर्थात् पृथक्-पृथक् रस का उद्‌गम स्थान मानते हैं।[१८]

भाषा की अपेक्षा नाद के प्रभाव का क्षेत्र अधिक व्यापक है। भाषाविशेष का मर्मज्ञ सहृदय व्यक्ति ही काव्य के द्वारा रसास्वाद करता है, परन्तु गीत का प्रभाव बच्चो पर भी पडता है।[१९] गीत से तो तिर्यक् योनियो में उत्पन्न प्राणी भी आनन्द-मग्न होते और प्राण तक दे देते हैं।[२०] नाद के इस प्रभाव के कारण ही महर्षि भरत ने गीत को नाटय की शय्या कहा है। गीत के द्वारा 'असहृदय' व्यक्तियो के हृदय में पडी हुई राग-द्वेष की ग्रन्थियाँ भी घुल जाती हैं, उनका हृदय भी तरल हो जाता है और वे भी सहृदयो के समान ही रसास्वाद करने लगते हैं।

तिर्यक् योनि में उत्पन्न होनेवाले प्राणी अपने भावो की अभिव्यक्ति भी नाद के द्वारा ही करते हैं, हमारे पास उनके मनोभावो को जानने का यही साधन है। भाषा भले ही कभी-कभी ठीक-ठीक मनोभावो को अभिव्यक्त करने में समर्थ न हो, परन्तु नाद कभी असफल नही होता। हर्ष, शोक इत्यादि चित्तवृत्तियो को व्यक्त करनेवाले नाद-रूप सार्वभौम हैं, वे भाषा की भाँति एकदेशीय नही। कालिदास के मूल काव्य

१७—न हि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्पर विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न हि बाधारहित नील नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नील् पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्व वाचकाना शब्दानामवाचकाना च गीत-ध्वनीनामशब्दरूपाणा च चेष्टादीना यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव तत्केनापह्नूयते।
—ध्व०, कारिका ३३, वृ०, पृ० ३७६

१८—नाट्ये गीते च काव्ये त्रिषु वसति रसश्शुद्धबुद्धस्वभाव।
—भ० को०, पृ० ५२९

१९—अज्ञातविषयास्वादो बाल पर्य्यङ्किकागत।
रुदन् गीतामृत पीत्वा हर्षोत्कर्ष प्रपद्यते॥

२०—वने चरन् तृणाहारश्चित्र मृगशिशु पशु।
लुब्धो लुब्धकसङ्गीते गीते यच्छति जीवितम्॥

का आनन्द असस्कृतज्ञ व्यक्ति नही ले सकता, परन्तु नाद-सौन्दर्य-जनित आनन्द का अनुभव प्रत्येक को होता है।[२१]

रस का स्वरूप

रस के स्वरूप को हम एक बार पुन ध्यान में रख लें —

"रजोगुण एव तमोगुण से अस्पृष्ट अन्त करण सत्त्व कहलाता है[२२] या बाह्य विषयो से चित्तवृत्तियो को हटानेवाला अन्त करण का धर्मविशेष 'सत्त्व' है[२३]। रजोगुण एव तमोगुण को दबाकर 'सत्त्व' का प्रकाशित होना उसका 'उद्रेक' कहलाता है।[२४] सत्त्व के उद्रेक के कारण अखण्ड, स्वयप्रकाश, आनन्दस्वरूप चेतना 'रस' है। अन्य पदार्थों का ज्ञान उस चेतना के समय नही होता। वह चेतना या अनुभूति ब्रह्मा-स्वाद-सहोदर है। अलौकिक चमत्कार, अर्थात् रजोगुण एव तमोगुण के दब जाने के परिणामस्वरूप हो जानेवाला चित्त का विस्तार, इसका प्राण है। कुछ प्राक्तन पुण्यशाली सहृदय सामाजिक उसी प्रकार उस रस का अनुभव करते है, जिस प्रकार वे अपने आपसे अभिन्न अपने आकार का अनुभव करते हैं।"[२५]

२१—तथा च प्राण्यन्तरस्य मृगसारमेयादेरपि नादमाकर्ण्य भयरोषशोकादि प्रतिपद्यते, तदय नादाच्चित्तवृत्त्याद्यवगमोऽनुमान तावत्। ये त्वेते वर्णविशेषास्ते तन्नाद-रूपसामान्यात्मकपदतन्नु (न्तु) ग्रन्थिमया इव प्राच्यप्रयत्नातिरिक्तनिमित्ता-न्तरापेक्षा, तत एवानभिप्रेतेऽन्यथापि प्रयोक्तु शक्या, अत एव दृष्टव्यभिचारा। नादस्तु झटित्युद्भिन्नमुखरागपुलकस्थानीयो नान्यथासिद्धोऽन्यथासिद्ध शब्दार्थ बाधते। —अभि०, गा० स०, अध्या० १७, पृ० ३८७

२२—रजस्तमोभ्यामस्पृष्ट मन सत्त्वमिहोच्यते।
—सा० दर्पण, परि० ३, कारिका ३ के पश्चात् उद्धृत

२३—इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुखतापादक कश्चनान्तरो धर्म्म सत्त्वम्।
—सा० दर्पण, परि० ३, कारिका ३ के पश्चात् वृत्ति

२४—तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भाव।
—सा० दर्पण, परि० ३, कारिका ३ के पश्चात् वृत्ति

२५—सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित् प्रमातृभि।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस॥

जो लोग स्वभाव से ही स्वच्छ दर्पण के समान हृदय से युक्त हैं, वे अपने मन को संसारोचित क्रोध, लोभ, इच्छा आदि के वशीभूत नहीं होने देते, उनके लिए 'दश रूपकों' (रूपक के दस भेदों) के श्रवण मात्र से वह 'रस' स्पष्ट होता है, जो साधारण रसनात्मक चर्वणा के द्वारा ग्राह्य है। जो लोग वैसे विशुद्धान्तःकरण नहीं उन्हें भी वैसी चर्वणा कराने के लिए नट आदि की प्रक्रिया है। ऐसे लोगों के क्रोध, शोक आदि से ग्रस्त हृदय की ग्रन्थियों का भञ्जन करने के लिए महर्षि भरत ने 'गीत' आदि (वाद्य, नृत्य) की प्रक्रिया विरचित की है।[२६]

उपर्युक्त पंक्तियों से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(अ) रस एक विशेष चेतना है, जो रजोगुण एवं तमोगुण के दब जाने पर होती है।

(आ) मनुष्य इस चेतना के क्षणों में रज एवं तम से उत्पन्न व्यक्तिगत चिन्ता, क्रोध, शोक इत्यादि से मुक्ति पा लेता है।

(इ) गीत अर्थात् स्वरसन्निवेश भी रजोगुण एवं तमोगुण से उत्पन्न व्यक्तिगत हर्ष, शोक इत्यादि हृदयग्रन्थियों का भञ्जन करते अर्थात् रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्व का उद्रेक करने में समर्थ है।

स्वरसन्निवेश से रसपरिपाक की प्रक्रिया

दूसरों को सुनाने एवं आनन्दित करने की दृष्टि से गीत की सृष्टि करते समय गायक या वादक जिन भावों की अभिव्यक्ति करता है, वे वास्तविक भावों का अभिनय ही होते हैं। करुण भावों की अभिव्यक्ति के समय कलाकार लौकिक रूप से पीड़ित नहीं होता। फलतः स्वरों द्वारा भावों का अभिनय करते समय कलाकार की स्थिति अभिनेता से भिन्न नहीं होती। हाँ, अभिनेता की अपेक्षा उसके पास साधन सीमित होते हैं। गायक सार्थक शब्दों का आश्रय लिये बिना ही स्वरसवलित, शुष्काक्षरों से अथवा आलाप द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है, उसकी कण्ठध्वनि अनुकूल 'काकु' से

२६—तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एवं संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणाग्राह्यो रससञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया। स्वगतक्रोधशोकादिसंकटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता।

—अभिनव०, ना० शा० २, अ० ६, पृ० २३१

युक्त होती है और उसकी मुद्राएँ भावानुकूल होती जाती हैं, परन्तु वह अभिनेता के समान पात्रविशेष के वेष इत्यादि से युक्त नही होता।

गायक स्वरसन्निवेश के द्वारा जिन भावो की अभिव्यक्ति करता है, वे 'साधारण्य' एव 'प्राणिमात्र-हृदयसवाद' के कारण 'सावधान' श्रोताओ की, रजस्तमोनिर्मित रागद्वेषरूप ग्रन्थियो को विगलित करके उनके हृदय में उस चेतना का अनुभव करा देते हैं, जिसे 'रस' कहा जाता है।

स्वरसन्निवेश की इसी शक्ति के कारण हरिण-जैसे प्राणी में भी उस लौकिक भय का विगलन हो जाता है, जो लौकिक स्थिति में उसे लुब्धक से चौकन्ना रखता है। फलत स्वरसन्निवेश के प्रभाव से सहृदय हरिण सहृदयता का अभिनय मात्र करनेवाले कलाकार लुब्धक की हृदयहीनता का ग्रास बन जाता है।

महाकवि कालिदास ने कहा है कि रम्य दृश्यो को देखकर और मधुर शब्दो को सुनकर प्राणी के मन में जन्मान्तर से स्थित भावनाएँ जाग जाती हैं।[२७] जहाँ तक नाद-माधुरी का सम्बन्ध है, वह तिर्यक् योनि के प्राणियो तक को तो प्रभावित करती ही है, श्रीमद्भागवत के अनुसार जड़ प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है।[२८]

गान-क्रिया में स्थायी, उसके सवादी एवं सञ्चारी स्वरो का कार्य

नाटच की रस-प्रक्रिया में सीता आदि आलम्बन विभाव, पुष्पवाटिका इत्यादि उद्दीपन विभाव, आश्रय की चेप्टा आदि अनुभाव और निर्वेद, उत्सुकता इत्यादि सचारी भावो के सयोग से रस-निष्पत्ति होती है।

स्वर-सन्निवेश के द्वारा रस-प्रक्रिया में स्थायी भाव का आलम्बन 'अश स्वर' होता है, जिसकी सज्ञा 'स्थायी स्वर' होती है। 'स्थायी स्वर' का सवादी स्वर 'उद्दीपन विभाव' का कार्य करता है, प्रयुज्यमान 'अनुवादी स्वर' अनुभाव का कार्य करते हैं और 'स्थायी स्वर' को उभारते रहते हैं एव 'सञ्चारी स्वर' सञ्चारी भावो के प्रकाशक होते हैं।

२७—रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान् पर्य्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥
—अभिज्ञानशाकुन्तल

२८—नद्यस्तदा तदुपधार्य्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगा ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्तिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगल कमलोपहारा ॥
—श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अ० २१, श्लो० १५

अत''यह कहा जा सकता है—

स्थायी स्वर पर आलम्बित, उसके सवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त, अनुवादी स्वरो द्वारा अनुभावित और सञ्चारी स्वरो द्वारा परिपोषित, सहृदयो की वह चेतनाविशेष 'रस' है, जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुण-जनित उनकी रागद्वेषादि ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं।

स्थायी स्वर, सवादी स्वर, अनुवादी स्वर एव सञ्चारी स्वर ये चारो ही परिभाषाएँ नाट्यशास्त्र में आयी हैं। नाट्यशास्त्र में स्वर-सन्निवेश के द्वारा स्वतन्त्ररूपेण रस-परिपाक पर पृथक् विचार उसी प्रकार नही किया गया है, जिस प्रकार श्रव्य काव्य अथवा मुक्तक काव्य में रस-परिपाक पर विचार नही।

जिस प्रकार वाह्य प्रकृति के साहचर्य में आकर सहृदय की हृदय-ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं, उसी प्रकार नाद-सौन्दर्य उसके हृदय को विगलित कर देता है। ऐसी स्थिति में रस-परिपाक के लिए किसी कथा या घटना की आवश्यकता नही होती।

स्थायी स्वरो का रसों में विनियोग

स्थायी स्वर	रस	स्थायी भाव
षड्ज	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध
ऋषभ	वीर, अद्भुत, रौद्र	उत्साह, विस्मय, क्रोध
गान्धार	करुण	शोक
मध्यम	शृङ्गार, हास्य	रति, हास
पञ्चम	शृङ्गार, हास्य	रति, हास
धैवत	वीभत्स, भयानक	भय, जुगुप्सा
निषाद	करुण	शोक

जब तक स्वर 'स्थायी' नही होता, तब तक वह 'भाव' का प्रकाशक होता है, 'रस' का नही। उस अवस्था में उसके द्वारा अभिव्यक्त भाव 'सञ्चारी' होता है, स्थायी भाव नही। उस समय वह स्वरविशेष 'स्थायी स्वर' पर आलम्बित स्थायी भाव का परिपोषण करता है।

अनुभव यह सिद्ध करता है कि जिन रागो में मध्यम स्थायी स्वर होता है, वे सयोग शृगार और जिनमें पञ्चम अशस्वर होता है, वे विप्रलम्भ (वियोग) शृङ्गार के व्यञ्जक होते हैं।

अन्तरगान्धार एव काकली निषाद भी शोकव्यञ्जक होते हैं, ये भरतसप्रदाय में स्थायी नही होते।

जातिप्रयोग एव रागप्रयोग में रसाभिव्यञ्जक स्वर प्रयोज्य स्थायी स्वर होता है। अतएव 'स्थायी स्वर' परिवर्तित होने पर एक ही 'जाति' पृथक्-पृथक् रसो में विनियुक्त होती है।

उदाहरणतया षाड्जी जाति के पाँच रूप होते हैं, क्योंकि इसके अशस्वर या स्थायी स्वर षड्ज, गान्धार, मध्यम, पञ्चम एव धैवत होते हैं। षड्ज स्थायी स्वर होने पर वीर, अद्भुत, रौद्र, गान्धार या निषाद अश होने पर करुण, मध्यम या पचम के स्थायी होने पर शृङ्गार एव धैवत के अश होने पर बीभत्स या भयानक रस की अभिव्यक्ति होती है।

स्थायी स्वर में भेद होने पर प्रयोज्य सप्तक का रूप बदल जायगा, क्योंकि स्थायी या अश स्वर ही सप्तक या स्थान का आरम्भक स्वर होता है। इस प्रकार षाड्जी के एक शुद्ध भेद एव चार अश विकृत भेदो के लिए स्थायीभेद से हमे पाँच सप्तक मिलेंगे, जिनके रूप निम्नलिखित हैं—

१—षड्जाश षाड्जी के लिए—स, ३रे, २ग, ४म, ४प, ३ध, २नि, ४स

इन आठ स्वरो में प्रथम सात स्वर षाड्जग्रामिक उत्तरमन्द्रा का आरोह हैं, अन्तिम स्वर 'अश' स्वर षड्ज का मध्य सप्तकीय रूप है। ये स्वर हमें षाड्जी का शुद्ध रूप देंगे और षाड्जी जाति का विशिष्ट वर्ण अर्थात् स्वरसन्निवेश हमें षड्ज अश होने के कारण वीर, अद्भुत या रौद्र रस की अनुभूति करायेगा।

२—गान्धाराश षाड्जी के लिए—ग, ४म, ४प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग*

---

* आधुनिक ठाठवादी शीघ्रतापूर्वक इस सप्तक को सरलता के साथ 'स, रे, ग, म, प, ध, नि' कह देंगे। उससे केवल एक लाभ यह होगा कि उन्हें भरत-सम्प्रदाय में 'तीव्र मध्यम' का दर्शन हो जायगा, जो कि वास्तव में भरत का धैवत है और 'स्थायी' गान्धार से ग्यारह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है। परन्तु इस सप्तक के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाले रस का सिद्धान्त उनकी पहुँच से बाहर रहेगा।

एक विचित्र परिणाम यह होगा कि

'ग, ४म, ४प, ३ध, २नि, ४म, ३रे, २ग' को—

'स, ४रे, ४ग, ३म, २प, ४ध, ३नि, २स' कहने से चतु श्रुतिक ऋषभ और धैवत की सृष्टि होगी, त्रिश्रुतिक मध्यम बनेगा, जो षड्ज से ग्यारह श्रुति दूर होगा और एक ऐसा गान्धार उत्पन्न होगा, जो षड्ज से आठ श्रुतियो की दूरी पर होगा, षड्ज से सत्रह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित एक नवीन धैवत का जन्म होगा। इस सज्ञावाले इन स्वरो

इस अवस्था में स्थायी स्वर गान्धार है, जिसका स्थायित्व करुण रस का अभि-व्यञ्जक है। शुद्ध षाड्जी मे निषाद का प्रयोग अल्प होता है, परन्तु गान्धारांश अवस्था में अंश-संवादी होने के कारण उसका प्रयोग अनल्प होगा। षड्जांश अवस्था में जो बहुलता षड्ज एवं उसके संवादी पञ्चम को प्राप्त थी, वही स्थिति इस अवस्था में गान्धार एवं निषाद की होगी। हाँ, न्यास स्वर षड्ज ही होगा।

३—मध्यमांश षाड्जी के लिए—म, ४प, ३ध, २नि, ४म, ३रे, २ग ४म*

स्वरों की यह स्थिति 'मध्यम' के स्थायी होने का परिणाम है। इस अवस्था में षाड्जी का स्वर-सन्निवेश शृंगार की अभिव्यक्ति करेगा। मध्यम एवं उसके संवादी षड्ज का बहुत्व रहेगा।

४—पञ्चमांश षाड्जी के लिए—प, ३, ध, २ नि, ४ स, ३ रे, २ ग, ४ म, ४ प†

की कोई स्थिति भरत-सम्प्रदाय में नही, फलत पूर्वोक्त स्वरो की भरतोक्त संज्ञाएँ ही वैज्ञानिक है।

*उत्तर-भारतीय सरस्वती वीणा में ठीक यही—

'म, ४प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग, ४म'

'स, ४रे, ३ग, २म, ४प, ३ध, २नि, ४स' कहलाते हैं, जिनके ऋषभ-धैवत में संवाद नही, क्योंकि वस्तुत ये दोनो क्रमश प्राचीन पञ्चम और ऋषभ हैं, जिनमें बारह श्रुतियो का अन्तर है।

पाश्चात्य डायटॉनिक स्केल इन मूर्च्छना में अन्तर गांधार करने से बनता है, जो उत्तर भारतीय वीणा का बिलावल है। यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस चतु श्रुतिक धैवत की बात आधुनिक ठाठवादी करते हैं, उसका अस्तित्व उत्तर-भारतीय सरस्वती वीणा में नही। इस सरस्वती वीणा के शुद्ध धैवत का मध्यम के साथ षड्जान्तरभाव है और वह मध्यम से आठ नही, सात श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है। उत्तर-भारतीय सरस्वती वीणा के मध्यम और धैवत प्राचीन मध्यमादि मूर्च्छना के निषाद और ऋषभ हैं, जिनमें सात श्रुतियो का अन्तर है।

मध्यमादि सान्तरा मूर्च्छना के स्वरो को षड्ज इत्यादि करने से चतुश्रुतिक ऋषभ की सृष्टि होती है, जो धैवत के साथ संवाद नहीं करता, अत भरतोक्त संज्ञाएँ ही वैज्ञानिक हैं।

† आधुनिक ठाठवादी इन—

'प, ३ध, २नि, ४स, ३रे, २ग, ४म, ४प' को

'स, ३रे, २ग॒, ४म, ३प, २ध॒, ४नि॒, ४स'—

यह पञ्चमांश स्थिति वियोग-शृंगार को अभिव्यक्त करेगी। इस अवस्था में पञ्चम एव उसके सवादी 'षड्ज' का बहुत्व होगा।

५—धैवतांश षाड्जी के लिए—'ध, २ नि, ४ स, ३ रे, २ ग, ४ म, ४ प, ३ ध' *

कह देंगे, परन्तु त्रिश्रुतिक ऋषभ का अस्तित्व उनके यहाँ नही। इन 'स' और 'प' में बारह श्रुतियो का अन्तर होने के कारण इनमें परस्पर सवाद नही होगा, क्योकि वस्तुत ये 'पञ्चम' और 'ऋषभ' हैं। पञ्चम को 'अङ्गद का चरण' माननेवाले सज्जनो को पञ्चम का यह 'च्युतत्व' भला कैसे स्वीकार्य होगा। 'धैवत' जो कि मूर्च्छना का 'गान्धार' है, वह स्थायी स्वर पञ्चम से चौदह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है। षड्ज से चौदह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित किसी 'ध' की स्थिति की सङ्गति भी ठाठवाद में कैसे होगी? अतएव इन स्वरो के प्राचीन नाम ही वैज्ञानिक है।

आधुनिक मालकोस, दरबारी और आसावरी रागो का 'धैवत' भैरव के 'धैवत' से उतरा हुआ कहा जाता है। वास्तविक स्थिति यह है 'धैवत' कही जानेवाली यह ध्वनि पञ्चमादि षाड्जग्रामिक मूर्च्छना का गान्धार है, जो अश स्वर 'पञ्चम' से चौदह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है।

इन रागो में तानपूरे का पञ्चमवाला तार मध्यम में मिलाया जाना चाहिए। आसावरी और दरबारी में जब 'म प ग' तान में पञ्चम का स्पर्शमात्र होता है, तब 'पञ्चम' उतरा हुआ लगता है। कुशल तन्त्रीवादक इसी लिए इस स्वर-समुदाय में पञ्चम को 'मीड' द्वारा व्यक्त करते हैं, स्थिर सारिका के पञ्चम का प्रयोग नही करते, धैवत भी मीड द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। वस्तुत यह 'म प ग्र' पञ्चमादि मूर्च्छना का 'स, रे, नि' है, जिसके 'रे-नि' में ऋषभ निषाद से सात श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है।

जो सज्जन इन रागो में षड्ज के साथ पञ्चम का सवाद देखना 'रागरूप' देखने की अपेक्षा अधिक अच्छा समझते हैं, उन्हें वैसा मानने का अधिकार है। हमारी दृष्टि में इन रागो में पञ्चम का सवाद षड्ज के साथ नही, क्योकि वह 'पञ्चम' प्राचीन ऋषभ है।

इस सम्बन्ध में सहृदयो के कान प्रमाण हैं।

* ठाठवादी इन—

'ध, २नि ४स, ३रे, २ग, ४म, ४प, ३ध' को

'स, २रे, ४ग, ३म, २म, ४ध, ४नि, ३स'

कह देंगे, परन्तु यह मूर्च्छना ठाठ-सिद्धान्त के लिए 'ठाठ-विध्वस' और 'मेल-सिद्धान्त' के लिए 'मेल-मर्दन' सिद्ध होगी। क्योकि—

इस अवस्था में यह स्वरसमूह धैवत के स्थायित्व के कारण बीभत्स एव भयानक रसो का अभिव्यञ्जक होगा। स्थायी स्वर धैवत एव उसके सवादी ऋषभ का बहुत्व इस अवस्था में होगा।

(अ) ठाठवादियो को पञ्चम नही मिलेगा, जब कि 'मेल' या 'ठाठ' में पञ्चम का होना अनिवार्य है।

(आ) मध्यम के दोनो रूप षाड्जी में आगे-पीछे प्रयुक्त होते हुए मिलेंगे, जब कि एक मेल में दोनो मध्यमो का होना असम्भव है।

(इ) त्रिश्रुतिक षड्ज एव मध्यम का दर्शन होगा।

अत इन स्वरो की भरतोक्त सज्ञाएँ ही वैज्ञानिक हैं।

इस मूर्च्छना से उत्पन्न होनेवाले रागो का व्यवहार बारहवी शताब्दी में उठ चुका-सा था। हमने उन रागो को पुष्ट एव अखण्डनीय प्रमाणो के आधार पर स्पष्ट करके उनमें गेय वस्तुओ की रचना करके शिष्यो को उनकी शिक्षा दी है।

जातियो के शुद्ध, विकृत एव सकीर्ण रूप को स्पष्ट करके उनमें 'वाक्' और 'गेय' की रचना करने की दिशा में हमने कुछ कार्य आरम्भ कर दिया है। कार्य लम्बा है। भगवान् की इच्छा यदि इस शरीर से कार्य लेने की हुई, तो इस सम्बन्ध में एक विशाल ग्रन्थ यथासमय पृथक् प्रस्तुत किया जायगा।

अनुबन्ध (३)

श्रुतियों की अनन्तता और देशी रागों में प्रयोज्य ध्वनियाँ

श्रुतियो की अनन्तता

नाट्यशास्त्र के बम्बई-सस्करण में सप्तरूप-प्रयोज्य अलङ्कारो का वर्णन करते समय श्रुतियो की तीन अवस्थाएँ आयत, मृदु एव मध्यम बतायी गयी हैं।[१] एकतन्त्री-जैसी वीणा में जब ये श्रुतियाँ अपने वास्तविक स्थान की अपेक्षा घुडच की ओर अर्थात् नीचे निकलती हैं तो 'आयत', मेरु की ओर अर्थात् ऊँचाई की ओर निकलती हैं तो 'मृदु' और अपने वास्तविक स्वरस्थान पर निकलती हैं तो 'मध्यम' या 'मध्य' कहलाती हैं।

स्वरो की शुद्ध अवस्था को अभिव्यक्त करनेवाली श्रुति-विशेष का भी यह 'आयतत्व' अर्थात् उत्कर्ष एव 'मृदुत्व' अर्थात् अपकर्ष, प्रयोग अर्थात् गान-क्रिया अथवा वाद्य-क्रिया के परिणाम-स्वरूप होता है, फलत श्रुतियाँ समुद्र में उठनेवाली तरङ्गो के समान अनन्त हो जाती है। कोहल ने इसीलिए श्रुतियो को अनन्त कहा है।[२]

विभिन्न अवसरो पर गानक्रिया के परिणामस्वरूप स्वर अपने स्थान से प्रमाण-श्रुति या केशाग्र अन्तर उतरते या चढते हैं, उस समय उनका शुद्ध रूप वैस्वर्ययुक्त प्रतीत होता है। इसी लिए विश्वावसु ने कहा है कि 'क्रिया' (गान, वादन) एव ग्राम-विभाग के परिणामस्वरूप स्वरो की स्वस्थानस्थ अवस्था का बोध करानेवाली श्रुतियो में भी वैस्वर्य प्रतीत होता है।[३]

१–आयतत्व तु चेन्नीच (चे) मृदुत्व तु विपर्यय (ये)।
स्वस्थाने मध्यमत्व च श्रुतीनामेप निर्णय ॥ —नाट्यशास्त्र, ब० स०, अध्याय २९

२–आनन्त्य हि श्रुतीना च सूचयन्ति विपश्चित ।
यथा ध्वनिविशेपाणामानन्त्य गगनोदरे ॥
उत्तालपवनोद्वेलजलराशिसमुद्भवा ।
इयत्ता प्रतिपद्यन्ते न तरङ्गपरम्परा ॥ —कोहल

३–एतासामपि वैस्वर्य क्रियाग्रामविभागत । —विश्वावसु

पाड्जग्रामिक उत्तरमन्द्रा में श्रुतियो का क्रम एक बार हमें फिर ध्यान मे रख लेना चाहिए—

स रे ग अ० म प ध नि का० स

० कखग खग गक खग गकखग कखग खग गक खग

यह स्थिति स्पष्ट करती है कि इस श्रुतिक्रम में —

(अ) प्रत्येक शुद्ध स्वर को अपनी अपकृष्ट या मृदु अवस्था मिल सकती है, क्योंकि प्रत्येक स्वर की अन्तिम श्रुति 'ग' अन्तर या प्रमाणश्रुति है, परन्तु अन्तर-गान्धार एव काकलीनिपाद की अन्तिम श्रुति 'क' है, 'ग' नही। अत इन्हें प्रमाणश्रुति उतारने पर जो दो ध्वनियाँ प्राप्त होगी, वह इस श्रुति-क्रम में नही हैं।

(आ) गान्धार, मध्यम एव निपाद की उत्कृष्ट या आयत अवस्था इस श्रुतिक्रम मे प्राप्त होगी, क्योंकि इन स्वरो की पश्चाद्वर्तिनी श्रुतियाँ 'ग' अन्तर हैं, परन्तु ऋपभ, धैवत, अन्तरगान्धार एव काकलीनिपाद को एक प्रमाणश्रुति चढाने पर जो चार नवीन ध्वनियाँ जन्म लेंगी, उनका अस्तित्व इस श्रुतिक्रम में नही, क्योंकि इन चारो स्वरो की पश्चाद्वर्तिनी श्रुति 'ग' न होकर 'ख' अन्तर है।

(इ) यदि अपकृष्ट ध्वनियो का और भी अपकर्प किया जाय और उत्कृष्ट ध्वनियो का और भी उत्कर्ष किया जाय, तो और भी विलक्षण ध्वनियाँ मिलेंगी। 'ग' परिमाण से श्रुतियो का निरन्तर अपकर्प या उत्कर्प हमें श्रुतियो की अनन्तता का दिग्दर्शन करा देगा। इस अनन्तता के ज्ञान की प्रक्रिया हमें भरत-घोषित बाईस श्रुतियो के क्रम से ही ज्ञात होती है, अत मूल श्रुतियाँ बाईस मानी गयी हैं।

शार्ङ्गदेव ने अपकृष्ट पड्ज एव मध्यम को च्युत पड्ज एव च्युत मध्यम कहा है, अपकृष्ट पञ्चम माध्यम ग्रामिक या त्रिश्रुतिक पञ्चम कहा गया है और उत्कृष्ट गान्धार एव निपाद को साधारण गान्धार एव कैशिक निपाद की सज्ञा दी गयी है।

देशी प्रयोग

नाट्यशास्त्र में सङ्गीत के दो विभाग 'मार्ग' और 'देशी' नही किये गये है। नाट्य-शास्त्र में वर्णित आतोद्य-विधि का प्रयोजन लोकरञ्जन है। मनीपियो को सदा 'वेद' के साथ 'लोक' का भी प्रामाण्य मान्य रहा है।

वाल्मीकि ने केवल सात जातियो का उल्लेख किया है। नाट्शास्त्र पश्चात्कालीन सग्रह-ग्रथ है। सम्भव है, उसमें वर्णित सङ्कीर्ण जातियाँ पश्चात्कालीन विकास हो।

सङ्कीर्ण जातियो में 'पड्जोदीच्यवती', 'मध्यमोदीच्यवती' सज्ञाओ का 'उदी-

च्यवती' शब्द उन उन जातियो के रूपो का उत्तरदिशा सम्बद्ध से क्षेत्रो में प्रचलित होने का प्रमाण हो सकता है। सम्भव है, ये जातियाँ उत्तरीय क्षेत्रो की सृष्टि हो।

यद्यपि नाट्यशास्त्र को सप्तस्वर, षट्स्वर एव पञ्चस्वर प्रयोग ही स्वीकृत हैं, तथापि चतु स्वर प्रयोग भी नाट्यशास्त्र में देशापेक्ष (देशविशेष में प्रचलित) कहा गया है, अत आज 'देशी' कहे जानेवाले सङ्गीत का बीज नाट्यशास्त्र में विद्यमान है।

नाट्यशास्त्र में वर्णित 'आतोद्य विधि' एक विशिष्ट विधि हैं, उसके अपने कुछ नियम हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि अनन्त आनन्द की अभिव्यक्ति में समर्थ अनन्त प्रक्रियाएँ नाट्यशास्त्र में गिना दी गयी हैं। हाँ, यह सत्य है कि नाट्यशास्त्र के कुछ व्यापक एव त्रिकालाबाधित नियम विश्वभर के सङ्गीत को अपने विस्तृत अङ्क में ले लेते हैं।

अन्य आचार्य

वृद्ध काश्यप, याष्टिक, आञ्जनेय एव मतङ्ग-जैसी विभूतियो ने देशी सङ्गीत पर विचार किया है, परन्तु इनमें से केवल मतङ्ग का ग्रन्थ प्राप्त है। मतङ्ग ने देशी रागो को भी ग्राम-विभाग में वर्गीकृत किया है।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने वृद्ध काश्यप के जो उद्धरण दिये हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वृद्ध काश्यप सात शुद्ध स्वर, उत्कृष्ट पञ्चम, एक अन्य धैवत, काकली निषाद, अन्तर गान्धार, पड्ज, मध्यम, गान्धार के साधारित रूप, (तथा मध्यमग्रामीय पञ्चम ?) ये पन्द्रह स्वर जाति प्रयोज्य मानते थे। काश्यप का कथन है कि रागभाषाओ में काकली और अन्तर के योग से चतु श्रुति, द्विश्रुति एव एकश्रुति स्वरो का प्रयोग करना चाहिए।

यह 'एकश्रुति' स्वर, 'उत्कृष्ट पञ्चम,, और 'अन्य धैवत' स्वर भरत-सम्प्रदाय में चर्चा का विषय नही बने हैं।

भरत-सम्प्रदाय में 'स' के पश्चात् 'क, ख, ग' अन्तर पर ऋपभ स्थित है, यदि इस श्रुतिक्रम को उलटकर 'ग क ख' कर दिया जाय, तो पड्ज के पश्चात् 'ग क' अन्तर पर स्थित ध्वनि पड्ज से उतने ही अन्तर पर स्थित होगी, गान्धार से जितने अन्तर पर अन्तरगान्धार और निपाद से जितने अन्तर पर काकली निपाद है। पड्ज के पश्चात् इस अन्तर पर स्थित ध्वनि को आधुनिक सगीतज्ञ कोमल ऋपभ कहेंगे और भरतोक्त ऋपभ उस ध्वनि से केवल 'ख' अन्तर पर स्थित होगा। यदि धैवत की श्रुतियो के क्रम 'क, ख, ग' को भी उलटकर 'ग, क, ख' कर दिया जाय, तो पञ्चम से 'ग, क' अन्तर पर आधुनिक कोमल धैवत सुनाई देगा और धैवत उससे एक 'ख' श्रुति के अन्तर पर होगा।

प्रो० रामकृष्ण कवि ने कहा है कि 'जाति-विभाग' रागभाषा-विभाग से सर्वथा भिन्न है और भरत (!) ने कहा है कि वह लक्ष्य में असम्भव है। परन्तु जो श्लोक श्री कवि ने उद्धृत किये हैं, उनमें काश्यप ने अपने पन्द्रह स्वरो का प्रयोग 'जातियो' में ही वताया है। काश्यप की उक्ति को लक्ष्य में असम्भव सूचित करनेवाले 'भरत' कौन हैं, इस दिशा में श्री कवि ने कोई सकेत नही किया है।

प्रो० रामकृष्ण कवि का कथन है कि याष्टिक एव आञ्जनेय इत्यादि आचार्यों ने श्रुतिसख्यानियम को छोडकर किन्ही स्वरो का पञ्चश्रुतिकत्व, षट्श्रुतिकत्व एव सप्तश्रुतिकत्व यथेच्छ रूप में ग्रहण करने के पश्चात् लौकिक विनोद के लिए अनेक प्रकार के देशी रागो की सृष्टि की थी। श्री कवि ने यह भी कहा है कि हनुमन्मत में श्रुतियाँ केवल अठारह हैं।

काश्यप, याष्टिक एव आञ्जनेय के ग्रन्थ जव तक प्राप्त न हो जायें, तव तक इस सम्वन्ध में निश्चयपूर्वक निष्कर्ष प्रस्तुत करना सम्भव नही।

अभिनवगुप्त का कथन है कि इस सम्वन्ध में कोई प्रमाण नही कि माध्यमग्रामिक त्रिश्रुतिक पञ्चम द्वारा परित्यक्त श्रुति का उपभोग धैवत ही करता है। सभी द्विश्रुतिक एव त्रिश्रुतिक स्वर श्रुति की उत्कृष्टता के कारण अधिकश्रुति किये जाते हैं, काकली और अन्तर के द्वारा चतु श्रुतिक एव त्रिश्रुतिक स्वर भी न्यूनश्रुति होते हैं, अत सभी स्वरो का श्रुतिकृत वैचित्र्य है।

अभिनवगुप्त के इस कथन में 'त्रिश्रुतिक' स्वरो की न्यूनश्रुतिकता, जो काकली और अन्तर प्रयोग अर्थात् चतु श्रुतिक स्वर के पश्चात् 'ग-क' अन्तर के प्रयोग का परिणाम हो सकती है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

किसी स्वर के पश्चात् 'काकली' अन्तर का प्रयोग एक ऐसी अवस्था सूचित करता है, जिसका प्रयोग भरत-सम्प्रदाय में नही। 'नि, नि' या 'ग-ग' का क्रमश प्रयोग भरत-सम्प्रदाय में नही मिलता, परन्तु भरतोक्त श्रुत्यन्तरो में ही कुछ ऐसे आधुनिक राग प्राप्त हो जाते हैं, जिनमें भरत के 'नि-नि' या 'ग-ग' क्रमश प्रयुक्त हैं।

यथास्थान कहा जा चुका है कि नाट्यशास्त्र में एक स्थान (मन्द्र, मध्य, तार) के अन्तर्गत मुख्य ध्वनियाँ दस हैं। षड्जग्राम में प्रयुक्त गान्धार का प्रयोग मध्यमग्राम में और मध्यमग्रामीय काकलीनिषाद का प्रयोग षड्जग्राम में नही होता था। नीचे इस स्थिति को पुन स्पष्ट किया जा रहा है—

स	रे	ग	ग	म	म	प	ध	नि	नि	—षड्जग्राम
म	प		ध	नि	नि	स	रे	ग	ग	—मध्यमग्राम

का भी प्रयुक्त होने लगना लोकरुचि का परिणाम हो, परन्तु ये ध्वनियाँ नाट्यशास्त्र के स्वरविधान से बाहर नही।

नाट्यशास्त्र में जातियो के अन्तर्गत अन्तर स्वरो का प्रयोग केवल आरोह में विहित है, रागो में अन्तर स्वरो का प्रयोग आरोह एव अवरोह दोनो गतियो में विहित है। कम्बल और अश्वतर ने अल्पनिषाद एव अल्पगान्धार जातियो मे अन्तर स्वरो के प्रयोग की बात कही है और शार्ङ्गदेव ने षाड्जी-जैसी अल्पनिषाद जाति में क्वचित् काकली का प्रयोग बताया है। इससे सिद्ध है कि कुछ जातियो में निषाद और गान्धार के शुद्ध रूप के साथ इनकी द्विश्रुति-साधारण अवस्थाओ का प्रयोग भी होता था। परन्तु शुद्ध एव साधारण अवस्था का क्रमश प्रयोग होता था या नही होता था, इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र मौन है। काकली एव अन्तर स्वरो के प्रयोग का जो नियम शार्ङ्गदेव ने बताया है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि गान्धार एव निषाद की दोनो अवस्थाओ का क्रमश प्रयोग शार्ङ्गदेव के विधान में नही।

ध्यान देने की बात यह है कि शार्ङ्गदेव ने 'द्विग्राम' रागो की चर्चा की है, परन्तु आश्रय मूर्च्छना पद्धति का लिया है, उनका 'द्विग्रामत्व' वह 'ग्रामसश्लेष' नही, जिसकी चर्चा यहाँ की गयी है। रत्नाकर में उत्कृष्ट पञ्चम, पञ्चश्रुति, षट्श्रुति एव सप्तश्रुति इत्यादि स्वरो की चर्चा तक नही हुई है, जब कि काश्यप, याष्टिक, आञ्जनेय इत्यादि ग्रन्थ उनके समय में विद्यमान थे।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने 'वराटी' के जनक 'भिन्नपञ्चम' को 'काकली' एव 'निषाद' दोनो से युक्त बताया है। कल्लिनाथ ने इस उक्ति पर एक शका उठायी है कि एक ही राग में एक ही स्वर के शुद्ध एव विकृत दोनो रूपो के प्रयोगभेद से रागभेद हो जायगा? और इसी शका का समाधान यह कहकर किया है कि इस राग में मन्द्र एव मध्यम सप्तक के निषाद काकली है, इस राग के माध्यमग्रामिक होने के कारण इसमें तार-व्याप्ति है और तार निषाद शुद्ध है।

कल्लिनाथ के इस शका-समाधान से यह सिद्ध होता है कि एक ही स्थान में एक स्वर की दोनो अवस्थाओ का प्रयोग मूर्च्छनाधारित पद्धति में नही था।

शार्ङ्गदेव ने तृतीय सैन्धवी को 'मृदुपञ्चम' से युक्त बताया है, यह 'सैन्धवी' मालव-कैशिक का भाषाङ्ग है, मालवकैशिक 'कैशिकी' जाति से उत्पन्न हुआ है, कैशिकी माध्यमग्रामिक जाति है। माध्यमग्रामिक कैशिकी जाति से उत्पन्न मालवकैशिक राग में पञ्चम त्रिश्रुतिक है, जो माध्यमग्रामिक शुद्ध पञ्चम है। इस राग के भाषाङ्ग 'कैशिकी' के लक्षण में पञ्चम के पहले 'मृदु' विशेषण का प्रयोग बताता है कि यह पञ्चम

षड्जग्रामीय स्वरो में 'म' वृत्त के अन्तर्गत दिखाया गया है, इस ध्वनि का प्रयोग पड्जग्राम में नही होता था, परन्तु षाड्जग्रामिक पञ्चम ही माध्यमग्रामिक षड्ज हो जाता है, फलत उससे दो श्रुति पूर्व स्थित 'काकली निषाद' षाड्जग्रामिक स्वरो में नही मिलता। यदि इस काकलीनिषाद को पाड्जग्रामिक स्वरो मे सम्मिलित कर दिया जाय और इसका नाम तीव्र मध्यम रखकर इसे प्रयोग में सम्मिलित कर दिया जाय, तो दोनो ग्रामो का सश्लेष हो जायगा।

पाड्जग्रामिक 'ग' का प्रयोग मध्यमग्राम में नही है, यदि इसे मध्यमग्राम में भी सम्मिलित करके 'उत्कृष्ट पञ्चम' नाम इसलिए दे दिया जाये कि मध्यमग्रामीय त्रिश्रुतिक पञ्चम से दो श्रुति ऊँचा है (यदि यह पञ्चम चतु श्रुतिक होता, तो यह उत्कृष्ट पञ्चम उमसे एक ही श्रुति ऊँचा होता) तो भी दोनो ग्रामो का सश्लेष हो जायगा।

माध्यमग्रामिक पञ्चम के पश्चात् और माध्यमग्रामिक चतुश्रुतिक धैवत से पूर्व इस स्वर का जन्म वृद्ध काश्यप के समय में ही सम्भवत हो चुका था, क्योकि 'उत्कृष्ट पञ्चम' सज्ञा की चर्चा वृद्ध काश्यप भी करते हैं। अभिनवगुप्त ने भी यह कहकर सम्भवत इसी ध्वनि की ओर सकेत किया है कि इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नही कि मध्यमग्राम में पञ्चम द्वारा परित्यक्त श्रुति का उपभोग धैवत ही करता है। माध्यमग्रामिक पञ्चम से 'ग, क' अन्तर पर 'उत्कृष्ट पञ्चम' की स्थिति है, जो काकली अन्तर है।

उपर्युक्त भरतोक्त दस ध्वनियो का एकत्र प्रयोग ग्रामो के सश्लेष का कारण हुआ। कुछ आधुनिक ठाठ भी इस दृष्टि से ग्राम-सश्लेष के उदाहरण हैं, जिसमें 'नि-नि', 'ग-ग', या 'म-म' (मध्यमग्रामीय काकली) का क्रमश प्रयोग है और जिनमें दोनो ग्रामो की ध्वनियाँ मिल गयी हैं, जैसे भरतोक्त—

नि, नि, रे, ग, म, म, ध, नि

भैरव ठाठ के स, रे, ग, म, प, ध, नि, स हैं और भरतोक्त

ग, ग, म, ध, नि, नि, रे, ग,

टोडी ठाठ के स, रे, ग, म, प, ध, नि, स हैं।

आरोह-अवरोह में 'नि-नि', 'ग-ग' या 'म-म' का क्रमश प्रयोग एव पाड्जग्रामिक ध्वनियो में ऐसे स्थलो पर तीव्रमध्यम के नाम से माध्यमग्रामिक काकलीनिपाद

का भी प्रयुक्त होने लगना लोकरुचि का परिणाम हो, परन्तु ये ध्वनियाँ नाट्यशास्त्र के स्वरविधान से बाहर नही।

नाट्यशास्त्र में जातियो के अन्तर्गत अन्तर स्वरो का प्रयोग केवल आरोह में विहित है, रागो में अन्तर स्वरो का प्रयोग आरोह एव अवरोह दोनो गतियो में विहित है। कम्बल और अश्वतर ने अल्पनिषाद एव अल्पगान्धार जातियो में अन्तर स्वरो के प्रयोग की बात कही है और शार्ङ्गदेव ने षाड्जी-जैसी अल्पनिषाद जाति में क्वचित् काकली का प्रयोग बताया है। इससे सिद्ध है कि कुछ जातियो में निषाद और गान्धार के शुद्ध रूप के साथ इनकी द्विश्रुति-साधारण अवस्थाओ का प्रयोग भी होता था। परन्तु शुद्ध एव साधारण अवस्था का क्रमश प्रयोग होता था या नही होता था, इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र मौन है। काकली एव अन्तर स्वरो के प्रयोग का जो नियम शार्ङ्गदेव ने बताया है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि गान्धार एव निषाद की दोनो अवस्थाओ का क्रमश प्रयोग शार्ङ्गदेव के विधान में नही।

ध्यान देने की बात यह है कि शार्ङ्गदेव ने 'द्विग्राम' रागो की चर्चा की है, परन्तु आश्रय मूर्च्छना पद्धति का लिया है, उनका 'द्विगामत्व' वह 'ग्रामश्लेष' नही, जिसकी चर्चा यहाँ की गयी है। रत्नाकर में उत्कृष्ट पञ्चम, पञ्चश्रुति, षट्श्रुति एव सप्तश्रुति इत्यादि स्वरो की चर्चा तक नही हुई है, जब कि काश्यप, याष्टिक, आञ्जनेय इत्यादि ग्रन्थ उनके समय में विद्यमान थे।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने 'वराटी' के जनक 'भिन्नपञ्चम' को 'काकली' एव 'निषाद' दोनो से युक्त बताया है। कल्लिनाथ ने इस उक्ति पर एक शका उठायी है कि एक ही राग में एक ही स्वर के शुद्ध एव विकृत दोनो रूपो के प्रयोगभेद से रागभेद हो जायगा? और इसी शका का समाधान यह कहकर किया है कि इस राग में मन्द्र एव मध्यम सप्तक के निषाद काकली है, इस राग के माध्यमग्रामिक होने के कारण इसमें तार-व्याप्ति है और तार निषाद शुद्ध है।

कल्लिनाथ के इस शका-समाधान से यह सिद्ध होता है कि एक ही स्थान में एक स्वर की दोनो अवस्थाओ का प्रयोग मूर्च्छनाधारित पद्धति में नही था।

शार्ङ्गदेव ने तृतीय सैन्धवी को 'मृदुपञ्चम' से युक्त बताया है, यह 'सैन्धवी' मालव-कैशिक का भाषाङ्ग है, मालवकैशिक 'कैशिकी' जाति से उत्पन्न हुआ है, कैशिकी माध्यमग्रामिक जाति है। माध्यमग्रामिक कैशिकी जाति से उत्पन्न मालवकैशिक राग में पञ्चम त्रिश्रुतिक है, जो माध्यमग्रामिक शुद्ध पञ्चम है। इस राग के भाषाङ्ग 'कैशिकी' के लक्षण मे पञ्चम के पहले 'मृदु' विशेषण का प्रयोग बताता है कि यह पञ्चम

मन्द्र पञ्चम है भी और आधुनिक 'तीव्र मध्यम' नही।' 'मृदु' शब्द का प्रयोग 'रत्नाकर' में मन्द्रवाची है। इस सैन्धवी की मूर्च्छना षड्जादि है अर्थात् इसमें अशस्वर षड्ज है।

शार्ङ्गदेव ने 'तुरुष्क गौड' और 'तुरुष्क तोडी' जैसे विदेशी रागो की मूर्च्छनाएँ ढूंढकर उनका वर्गीकरण भी मूर्च्छना-पद्धति में किया है।

शार्ङ्गदेव ने अनेक ऐसे रागो की चर्चा की है, जिनके 'स्थायी स्वर' उनके समय बदल चुके थे।

सगीत-रत्नाकर की रचना से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व उत्तर भारत के कन्नौज प्रदेश में मूर्च्छना-पद्धति प्रचलित थी। कान्यकुब्जनरेश जयचन्द के सभापण्डित महाकवि श्रीहर्ष मूर्च्छना-पद्धति के मर्मज्ञ थे। 'नैषध' के नायक राजा नल 'पञ्चम की मूर्च्छनाओ' के छिडने पर दमयन्ती के वियोग का अनुभव और भी तीव्रता से करने लगते हैं। यह मूर्च्छना मालकोष, दरबारी एव आसावरी-जैसे रागो की अभिव्यक्ति का कारण होती है, इस मूर्च्छना का अशस्वर 'पञ्चम' वियोग शृङ्गार का अभिव्यजक है।

जयचन्द की पराजय एक प्रकार से मूर्च्छना-पद्धति के तिरोहित होने का कारण है। कश्मीर से वहिष्कृत मूर्च्छना-पद्धति कन्नौज से भी लुप्त होती और दक्षिण की ओर जाती है, परन्तु रत्नाकर की रचना से प्राय सौ वर्ष वाद मलिक काफूर का आक्रमण दक्षिण में भी उसे क्षत-विक्षत कर देता है।

१३३६ ई० में श्री विद्यारण्य के द्वारा विजयनगर की स्थापना के पश्चात् मुकाम-पद्धति का मेल-पद्धति के रूप में ग्रहण किया जाना आर्ष मूर्च्छना-पद्धति पर पूर्ण पटाक्षेप है। उस समय के वैणिको और उनके आश्रित आचार्य्यों को अचल सारिकाओवाली वीणा पर रागप्रयोज्य ध्वनियो के वादन की सुविधा का ध्यान है, रस एव भाव के विनियोग को दृष्टि में रखते हुए ध्वनियो की भावानुसारी सज्ञाओ की चिन्ता उन्हें नही। इसी लिए मेल-पद्धति रस-भाव के विचार से सर्वथा शून्य है।

चौदहवी शती में एक ओर जहाँ अचल सारिकावाली वीणाओ के प्रताप से मुकाम-पद्धति दक्षिण तक में मेल-पद्धति का रूप ले रही थी, वहाँ विन्ध्याचल एव श्रीशैल के मध्य में सिहभूपाल के द्वारा 'रत्नाकर' पर टीका लिखी जा रही थी और सिहभूपाल की दृष्टि में ऐसे वैणिक थे, जो वीणा में यथेच्छ स्थान पर स्वरो की स्थापना करते थे।

पन्द्रहवी शती ई० में 'पण्डित-मण्डली' (१४००–१४४० ई०) प्रयाग में, महाराणा कुम्भवर्ण (राज्यकाल १४३३-१४६८ ई०) मेवाड में तथा विजयनगर-नरेश इम्मडिदेव

(रा० का० १४४६-१४६५ ई०) के आश्रित आचार्य्य कल्लिनाथ मूर्च्छना-पद्धति के विशेपज्ञ थे।

देशी रागो की चर्चा करते हुए कल्लिनाथ ने अपने समय की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—

(१) दोनो ग्रामो से 'जाति' इत्यादि की परम्परा से उत्पन्न इन रागो की मूर्च्छना का आरम्भ मध्य सप्तक में स्थित 'पड्ज' या 'मध्यम' (के स्थान) से करना यद्यपि शास्त्रविहित है, तथापि मध्यमग्राम से उत्पन्न मध्यमादि तोडी इत्यादि रागो में मूर्च्छना का आरम्भ मध्य मध्यम से न किया जाकर मध्य पड्ज के ही स्थान से किया जा रहा है। लक्षण का विरोध करके ग्रह स्वर के अधीन उस स्वर-साधारण का भी अभाव है, जो पश्चाद्वर्ती स्वरो में होना चाहिए।

(२) त्रिश्रुतिक या चतु श्रुतिक होकर जिस पञ्चम को ग्राम-भेदक होना चाहिए, उसका प्रयोग अलोप्य रूप में हो रहा है और सभी रागो में पञ्चम का रूप एक-जैसा ही है।

(३) रामक्रिया नामक क्रियाङ्ग-राग में मध्यम के द्वारा पञ्चम की दो श्रुतियो का ग्रहण तथा नट्ट, देवक्री इत्यादि रागो में ऋपभ और धैवत के द्वारा क्रमश अन्तर-गान्धार एव काकलीनिषाद की दो-दो श्रुतियाँ ग्रहण कर लिये जाने के कारण ऋपभ और धैवत की पञ्चश्रुतिकता शास्त्र में 'विवक्षित' है।

(४) श्रीराग में गान्धार एव निषाद के द्वारा मध्यम एव पड्ज की एक एक श्रुति ले लिये जाने के कारण गान्धार एव निपाद की त्रिश्रुतिकता यद्यपि शास्त्र-विहित है, तथापि मध्यम एव पड्ज की त्रिश्रुतिकता शास्त्रविरोधिनी है। उसी राग में ऋपभ एव धैवत के द्वारा क्रमश गान्धार एव निषाद की आदिम श्रुति का ग्रहण कर लिये जाने के कारण ऋपभ एव धैवत का चतु श्रुतित्व शास्त्रविहित है।

(५) आन्धाली के लक्षण में पञ्चम 'ग्रह' एव 'अश' कहा गया है और इसी दृष्टि से प्रस्तार भी लिखा गया है, परन्तु प्रयोग में मध्यम ग्रह और अश है।

(६) कर्नाट गौड के लक्षण में पड्ज 'ग्रह' और 'अश' है, परन्तु लक्ष्य में अश एव ग्रह स्वर निषाद है।

(७) ग्राम रागो में हिन्दोल का ऋपभ-धैवतहीनत्व शास्त्रोक्त है, परन्तु प्रयोग में ऋपभ-पञ्चम का परित्याग है।

(८) पाडव-औडुव रागो में कही लोप्य स्वरो का प्रयोग भी होता है।

(९) कही जन्य और जनक के मेलन (ठाठ ?) में भेद और 'रस' इत्यादि के विनि-योग में अनियम भी दिखाई देता है।

आचार्य्य कल्लिनाथ ने इन अनियमो का समाधान यह कहकर किया है कि 'देशी' रागो में ये अनियम ही रागो का 'देशित्व' है, क्योंकि आञ्जनेय ने कहा है कि देशी रागो में श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति आदि का नियम नही होता।

आञ्जनेय की सहिता हमारे समक्ष नही, अत उनकी व्यवस्था के विषय में हमें कुछ नही कहना है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि 'सङ्गीत' या किसी भी अन्य कला के सम्बन्ध में ये उक्तियाँ पर्य्याप्तरूपेण सन्तोषप्रद नही। 'सवाद' सगीत का प्राण है, इसके अभाव में सङ्गीत की सृष्टि हो ही नही सकती, 'स्वर' के अनुरणनमयत्व अर्थात् स्वत रञ्जकत्व की भी आवश्यकता सङ्गीत के लिए अनिवार्य्यरूपेण है और 'राग' या 'स्वर' सन्निवेशविशेष में रञ्जकत्व भी अनिवार्य्य है। अत कोई भी सङ्गीत-पद्धति हो, रञ्जन के लिए उसमें भावाभिव्यञ्जन की योग्यता तथा आनन्दाभिव्यक्ति के कुछ व्यापक एव सनातन कारण होने ही चाहिए। यह एक पृथक् तथ्य है कि उन कारणो की खोज न हुई हो। इन कारणो की यथासम्भव खोज अनुसन्धानकर्ता का लक्ष्य होना चाहिए।

आधुनिक ठाठो मे प्रयुक्त ध्वनियो की भावानुसारी सज्ञाएँ

यह कहा जा चुका है कि आधुनिक अनेक राग 'ग्रामसश्लेष' का परिणाम हैं और यह ग्राम-सश्लेप भारत में सहस्रो वर्ष पूर्व हो चुका था। काश्यप एव याष्टिक के रघुनाथोक्त विधान इस दिशा की ओर इङ्गित करते है।

यदि ऐसी मूर्च्छनाएँ निर्मित की जायें, जिनमें 'नि-नि', 'ग-ग' और 'म-म' का क्रमश प्रयोग भी ग्राह्य हो, तो ये मूर्च्छनाएँ भरत-सम्प्रदाय से भिन्न भले ही हो, परन्तु इनके स्वर भरत-सम्प्रदाय के सात शुद्ध एव तीन अन्तर स्वरो में भी मिल जायेंगे। मध्यम-ग्रामीय काकलीनिपाद का प्रयोग इन मूर्च्छनाओ मे तीव्र मध्यम, पत पञ्चम, मृदु पञ्चम या वराली मध्यम के नाम से किया जायगा। हम इनमें से 'तीव्र मध्यम' सज्ञा चुन लेते है।

काकलीनिपाद, और अन्तरगान्धार अन्तर स्वर होने पर भी गान्धार और निपाद ही है, फलत ये स्वर 'शोक' या 'करुणा' के बोधक है, काकलीनिपाद के साथ षड्ज-मध्यम-भाव से सवाद करनेवाला तीव्र मध्यम भी अन्तर स्वर है और उसकी मूल सज्ञा माध्यमग्रामिक काकलीनिपाद ही है, फलत वह भी 'शोक' या 'करुणा' का बोधक है।

अब यदि उत्तर भारत में प्रयुक्त ठाठो को महर्षि भरत द्वारा वोधित दस स्वरो में देखा जाये, तो स्थिति यह होगी —

(१) भैरव

सश्लिष्ट मूर्च्छना	नि		का					रे		ग				म		म॑					ध		नि
श्रुति-परिमाण	०	ग	क	ख	ग	क	ख	ग	ख	ग	ग	क	ख	ग	ग	क	ख	ग	क	ख	ग	ख	ग
ठाठ	स		रे					ग		म				प		ध̲					नि		स

यदि कोई चाहे, तो ठाठ में प्रयुक्त 'गान्धार' और 'निपाद' को पञ्चश्रुतिक कह सकता है, क्योकि वे अपने पूर्ववर्ती प्रयोज्य स्वर 'रे̲' और 'ध̲' पाँच पाँच श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है।

मूर्च्छना के द्विश्रुतिक काकलीनिपाद और तीव्र मध्यम 'ठाठ' में क्रमश द्विश्रुतिक ऋषभ और धैवत बन गये है।

मूर्च्छना में स्वरो की सज्ञाएँ भावानुसारिणी है। उनके अनुसार हम कह सकते हैं—

इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर निपाद है, जो करुणा का अभिव्यञ्जक है। काकली-निषाद एव तीव्र मध्यम जैसे शोक-बोधक स्वरो का अस्तित्व इसके करुण प्रभाव में और वृद्धि करता है। उत्साह, क्रोध एव विस्मय का व्यञ्जक पडज इस मूर्च्छना में लुप्त है और उसका सवादी पञ्चम भी।

(२) पूरवी

सश्लिष्ट मूर्च्छना	नि		का					रे				अ		म		म॑					ध		नि
श्रुति-परिमाण	०	ग	क	ख	ग	क	ख	ग	ख	ग	ग	क	ख	ग	ग	क	ख	ग	क	ख	ग	ख	ग
ठाठ	स		रे̲					ग				म॑		प		ध̲					नि		स

यहाँ भी करुणावोधक निपाद स्थायी स्वर है, काकली, अन्तर गान्धार एव तीन अन्तर स्वरो का प्रयोग है। मूर्च्छना में गान्धार के स्थान पर अन्तर गान्धार के प्रयोग ने इस मूर्च्छना में अन्तर कर दिया है।

(३) मारवा

सश्लिष्ट मूर्च्छना	नि		का					रे				अ		म				प			ध		नि
श्रुति-परिमाण	०	ग	क	ख	ग	क	ख	ग	ख	ग	ग	क	ख	ग	ग	क	ख	ग	क	ख	ग	ख	ग
ठाठ	स		रे̲					ग				म॑		प				ध			नि		स

यहाँ भी करुणावोधक 'निपाद' स्थायी स्वर है, काकली और अन्तर स्वर है, और मूर्च्छना का पञ्चम ठाठ में चतु श्रुतिक धैवत हो गया है।

(९) आसावरी

शुद्ध मूर्च्छना	प ध नि स रे ग म प
श्रुति-परिमाण	० क ख ग ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग
ठाठ—	स रे ग॒ म प ध॒ नि॒ स

यह षड्जग्रामिक पञ्चमादि मूर्च्छना है। पञ्चम इसमें स्थायी स्वर है, जो शृगार का अभिव्यञ्जक है।

दरबारी, आसावरी एव मालकोस जैसे राग इस मूर्च्छना से सम्बद्ध है। इन रागो में 'प' के नाम से प्रयुज्यमान ध्वनि वस्तुत ऋषभ है, जो स्थायी स्वर पञ्चम से बारह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है तथा 'ध' के नाम से प्रयुज्यमान ध्वनि प्राचीन 'गान्धार' है, जो स्थायी स्वर पञ्चम से चौदह श्रुतियो के अन्तर पर स्थित है।

गुणियो में यह प्रसिद्ध भी है कि इन रागो का धैवत भैरव इत्यादि के धैवत से उतरा हुआ है। वस्तुत इन रागो के प्रयोग के समय तानपूरे का पञ्चमवाला तार मध्यम में मिलाया जाना चाहिये। उस अवस्था में जोडे के तार एव पञ्चम के तार की ध्वनियो की प्राचीन सज्ञाएँ क्रमश 'प'-'स' हो जायँगी।

जिन्हें आसावरी ठाठ में चतुश्रुतिक ऋषभ एव स्वस्थानस्थ पञ्चम का आग्रह है, उन्हें अपने अभीष्ट स्वरान्तराल प्राचीन 'धैवत, काकली निषाद, षड्ज, ऋषभ, अन्तर गान्धार, मध्यम, पञ्चम, में मिलेंगे, परन्तु भय एव जुगुप्सा के व्यञ्जक धैवत के 'स्थायी' हो जाने पर न तो स्वरो की भावानुसारी सज्ञाएँ मिलेंगी, न राग प्रयोज्य वास्तविक ध्वनियाँ ही।

(१०) भैरवी

सान्तरा मूर्च्छना	ध नि स रे अ म प ध
श्रुति-परिमाण	० ख ग ग क ख ग क ख ग ख ग ग क ख ग ग क ख ग क ख ग
ठाठ—	स रे॒ ग॒ म प ध॒ नि॒ स

इस मूर्च्छना का स्थायी स्वर धैवत है, जो भय का व्यञ्जक है। इसमें अन्तर गान्धार प्रयुक्त हो रहा है, जिसका स्थायी स्वर के साथ षड्ज-पञ्चम भाव से सवाद है। अत यह 'सान्तरा' उत्तरायता है। प्राचीन भैरवी की मूर्च्छना शुद्ध उत्तरायता है।

ठाठ-वादियो को अपना गान्धार इसमें अपने 'स' से छ श्रुति दूर दिखाई देगा और उसका सवादी 'निषाद' पञ्चम से छ श्रुति दूर दिखाई देगा।

भैरवी में प्रयोग के समय ठाठ के ऋषभ-धैवत यही रहेंगे विलासखानी में 'गान्धार-निषाद' एक एक प्रमाणश्रुति उतरेंगे।

उपर्युक्त विश्लेषण भरत-बोधित स्वर समूह में आधुनिक रागो में प्रयुज्यमान ध्वनियो का अस्तित्व दिखाने और उन ध्वनियो की भावानुसारी सज्ञाएँ ढूंढने का प्रयत्न है, परन्तु भाव का यथायोग्य प्रकाशन या 'रस' का परिपाक रागनियमानुसार स्वरो के यथाक्रम बहुत्व एव अल्पत्वयुक्त प्रयोग का परिणाम होता है। स्वरो का आरोह-अवरोह मात्र 'राग' सज्ञा नही ग्रहण करता।

निषादादि मूर्च्छना में 'अन्तर गान्धार' एव गान्धारादि मूर्च्छना में 'धैवत' आधुनिक ठाठो के तीव्र मध्यम बन जाते है, इससे यह सिद्ध है कि जिस ध्वनि को हम आज तीव्र मध्यम समझते हैं। उसका प्रयोग प्राचीनो के द्वारा भली भाँति होता था।

एक ही मूर्च्छना (यह मूर्च्छना सप्तस्वर नही) में ग्रामो का सश्लेष अथवा एक स्वर की शुद्ध एव विकृत अवस्था का प्रयोग भरत-विहित नहीं, इसी लिए हमने ऐसी मूर्च्छनाओ को साश्लेष्ट भी कहा है। भैरव में प्रयोज्य मूर्च्छना में निषाद एव मध्यम के दोनो रूपों का प्रयोग है। प्राचीन दृष्टिकोण के अनुसार एक ही स्वर के दो रूपो को मूर्च्छना में न तो स्थान है और न उन दो रूपो को दो विभिन्न स्वर कहा जा सकता है। परन्तु जो लोकरुचि ऐसी नवीन मूर्च्छनाओ की उत्पत्ति में कारण है, वह इन्हें दो पृथक्-पृथक् स्वर मान सकती है।

विहाग के आधुनिक दोनो मध्यम षड्जग्रामीय निषादादि मूर्च्छना के दोनो गान्धार हैं और करुणाबोधक हैं, यही स्थिति ललित और पूर्वी के दोनो मध्यमो की है। खमाज के दोनो मध्यम मध्यमादि मूर्च्छना के दोनो निषाद एव दोनो निषाद उसी मूर्च्छना के दोनो गान्धार हैं। अत ऐसे रागो की नवीन मूर्च्छनाओ में हमें दोनो रूपो में प्रयोज्य अभीष्ट स्वरो की स्थिति सम्बद्ध मूर्च्छना के अन्तर्गत माननी होगी।

इस विधान के तीन लाभ हैं—

(१) ध्वनियो की भावानुसारी सज्ञाओ की प्राप्ति।

(२) प्रयोज्य ध्वनियो का स्थायी स्वर से अभीष्ट अन्तर पर मिलना।

(३) भरतबोधित दस स्वरो में अनेक आधुनिक रागो की प्राप्ति।

है, ये सिद्धान्त भरत-सम्प्रदाय से सर्वथा भिन्न है । भरतार्णव में बारहवी शती ई० के ग्रन्थकार हरिपाल तथा उसकी उपाधियो के उल्लेख के साथ उसकी रचना 'सङ्गीत-सुधाकर' के अनेक श्लोक भी मिलते हैं । 'भरतार्णव' नन्दिकेश्वर-मतानुयायी किसी व्यक्ति की कृति है, जिसका निर्माणकाल तेरहवी शती ईसवी के पश्चात् है ।

भरतनाट्यशास्त्र के पाँचवें अध्याय के अन्त में प्राप्त पूर्वरङ्ग के विशेष अङ्ग के लिए वर्णित ध्रुवा-विनियोग नन्दिकेश्वर-सम्प्रदाय की वस्तु है ।

नन्दिकेश्ववर मत में तीन ग्राम 'नन्द्यावर्त', 'जीमूत' और 'सौभद्र' है ।

५ नारद

नाट्यशास्त्र में नारद भरत के सहयोगी हैं, जिन्हें गानयोग का कार्य ब्रह्मा ने सौंपा है । नाट्यशास्त्र एव वाल्मीकि रामायण में इन्हें गन्धर्व कहा गया है ।

इनके सिद्धान्तो के प्रतिपादक ग्रन्थ दो कहे जाते हैं, 'पञ्चमसारसहिता' एव 'नारदीय शिक्षा' । शुभाकर नामक किसी आचार्य ने नारदीय शिक्षा की व्याख्या लिखी थी ।

'पञ्चमसारसहिता' में रागो के ध्यान भी हैं । 'सङ्गीतमकरन्द' को भी नारद-सिद्धान्तो का प्रतिपादक कहा जाता है, जो तेरहवी शती के पश्चात् किसी व्यक्ति की कृति प्रतीत होता है । इसमें महामाहेश्वर (अभिनवगुप्त) की चर्चा तो है ही, सगीत-रत्नाकर के अनेक श्लोक भी हैं ।

नारद की वीणा का नाम 'महती' है, जिसमें इक्कीस तार थे । नारद को गान्धार ग्राम का प्रयोक्ता कहा गया है । नारद की सम्मति में ग्रामरागो का प्रयोग लौकिक विनोद के लिए न होकर स्तुति या यज्ञ में होना चाहिए । महाकवि बाण ने 'नारदीय' नामक एक ग्रन्थ की ओर सकेत किया है, सोलहवी शती के एक ग्रन्थकार शुभकर ने भी इसकी चर्चा की है ।

६ स्वाति

भरतनाट्यशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा ने इन्हें वाद्य-वादन में नियुक्त किया था, ये अनेक अवनद्ध वाद्यो के आविष्कारक हैं ।

'स्वाति' विपञ्ची के वादक कहे जाते हैं, जिसमें नौ तारो पर स, रे, ग, अन्तर ग, म, प, ध, नि, काकली निषाद मिले होते थे ।

७. तुम्वुरु

नाटयशास्त्र और वाल्मीकिरामायण में इनका नाम नारद के साथ आता है और इन्हें गन्धर्व कहा गया है। इनकी वीणा 'कलावती' कही जाती है।

तुम्वुरु के मत में मूर्च्छना शव्द का अर्थ श्रुति का 'मार्दव' है। शार्ङ्गदेव ने भी नारद के साथ ही साथ इनका नाम लिया है।

८. भरत

नाटच के आदिम प्रयोक्ता भरत ब्रह्मा के शिष्य कहे गये हैं। मत्स्यपुराण में भी इनकी चर्चा मिलती है। डॉ० मनमोहन घोष भरत को काल्पनिक व्यक्तित्व मानते है, परन्तु कविकुलगुरु कालिदास इन्हें नाटच का आदिम प्रयोक्ता मानते हैं। वाण ने 'भरत' का स्मरण नृत्यशास्त्र के प्रणेताओ में किया है।

नाटचशास्त्र भरत के पुत्रो की सख्या 'सौ' और शारदातनय का भावप्रकाशन 'पाँच' बताता है। उपलव्ध नाटचशास्त्र के अनुसार अत्यन्त प्राचीन काल में 'भरत' शव्द जातिवाची हो गया था। 'अमरकोश' में भी 'भरत' शव्द 'नट' का पर्याय है।

शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने भरत एव उनके पुत्रो से कहा—'नाटचवेद' भरत'— अर्थात् नाटचवेद का भरण (धारण, ग्रहण) करो।' तुम लोक में 'भरत' नाम से प्रसिद्ध हो जाओगे।

नाटचशास्त्र को भरत से सम्वद्ध किया जाता है, परन्तु आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व भी यह धारणा विद्यमान थी कि नाटचशास्त्र एक सङ्ग्रह-ग्रन्थ है और यह धारणा सत्य है।

नाटचशास्त्र के आधार पर महर्षि भरत का काल-निर्णय किया जाना ठीक नहीं। नाटचशास्त्र के आधार-ग्रन्थ आज अनुपलव्ध है।

९. दत्तिल

नाटयशास्त्र के अनुसार ये महर्षि भरत के पुत्र थे। इन्हें गान्धर्वशास्त्र के सक्षेप का कर्ता कहा जाता है। रत्नाकर के टीकाकार सिहभूपाल ने अनेक स्थानो पर इनका मत उद्धृत किया है। दत्तिल ने मूर्च्छना के चार भेद,-पूर्णा, पाडवा, औडुविता और साधारणी माने हैं, इस सम्वन्ध में मतङ्ग ने भी दत्तिल का अनुसरण किया है। प्रथम शती ई० के एक शिलालेख में दत्तिल की चर्चा है।

'नृत्तलक्षण' नामक एक ग्रन्थ की चर्चा भी प्राय आती है, जो दत्तिल के सिद्धान्तो का प्रतिपादक कहा जाता है।

'दत्तिल-कोहलीयम्' नामक एक ग्रन्थ किसी मध्ययुगीन आचार्य की कृति है, जो रत्नाकर के कुछ श्लोको का सग्रहमात्र है।

१०. कोहल

महर्षि भरत के पुत्र एव महर्षि भरत के सिद्धान्तो का विस्तृत निरूपण करनेवाले प्रसिद्ध हैं। इन्होने श्रुतियो की अनन्तता प्रतिपादित की है।

कोहलकृत कहे जानेवाले ग्रन्थ के खण्डित भाग ही मिलते हैं। 'कोहलमतम्' नामक एक छोटी-सी पुस्तक भी मिलती है।

'कोहलरहस्यम्' नामक एक ग्रन्थ भी मिलता है, जो नाम से कोहलानुयायी किसी व्यक्ति की कृति प्रतीत होता है।

११. स्कन्द और शुक्र

इनके विषय में विशेष विवरण नही मिलता। एक द्रविड ग्रन्थ के अनुसार स्कन्द ने नाट्यशास्त्र की शिक्षा अगस्त्य को दी थी।

शृङ्गारशेखरकृत ग्रन्थ 'अभिनयभूषण' के अनुसार शुक्राचार्य की कृति 'शुक्रमतम्' है। शारदातनय तथा अन्य अनेक ग्रन्थकारो ने शुक्रमत की चर्चा की है।

१२ विश्वावसु

इन्हें अर्जुन का गुरु कहा जाता है। कल्लिनाथ ने विश्वासवसुमत का उल्लेख किया है। इनका विशेप विवरण अभी प्राप्त नही हुआ है।

१३ अगस्त्य

नाट्यशास्त्र काशी-सस्करण के अनुसार महर्षि भरत से नाट्यशास्त्र का श्रवण करनेवालो में अगस्त्य भी हैं। द्रविड भापा का एक ग्रन्थ 'तालसमुद्र' अगस्त्य की रचना कहा जाता है। ताल के सम्वन्ध में इतना विस्तृत विवेचन और कही नही प्राप्त होता।

१४. विशाखिल

ये सप्तगीतो के प्रामाणिक आचार्य्य माने गये हैं। मतङ्ग ने तान और मूर्च्छना का अन्तर प्रतिपादित करते समय विशाखिल से असहमति प्रकट की है। नान्यदेव ने इनके ग्रन्थ में ध्रुवा गीतो के उदाहरण भी देखे थे, जो अब अप्राप्य है।

१५. कम्वल, अश्वतर

इन दोनो विभूतियो के नाम साथ-साथ आते हैं। शार्ङ्गदेव ने स्वरसाधारण के विषय में चर्चा करते समय इनके मत का उल्लेख किया है।

१६. कश्यप

इन्हें 'मुनि' कहा गया है। कश्यप एव वृद्ध कश्यप की चर्चा प्राय आती है। शार्ङ्गदेव ने इनकी चर्चा की है। कल्लिनाथ ने कश्यप की उक्ति के रूप में कुछ श्लोक दिये हैं। एक जाति के शुद्ध एव विकृत भेदो के लिए एक मूर्च्छना का विधान भी कश्यप ने किया है। बारह ग्रामरागो को भाषाओं का जनक कश्यप ने बताया है।

मतङ्ग ने कश्यप या काश्यप के मत का उल्लेख किया है। वृद्ध काश्यप के कथनानुसार जातियो में प्रयोज्य स्वर पन्द्रह हैं। उनकी सज्ञा षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, उत्कृष्ट पञ्चम, अन्य धैवत, काकली, अन्तर, साधारित षड्ज, साधारण मध्यम, साधारण गान्धार (और कैशिक निषाद) हैं।

चतु श्रुतिक, त्रिश्रुतिक, द्विश्रुतिक एव एकश्रुतिक स्वरो को काकली एव अन्तर के सयोग से रागभाषाओ में प्रयुक्त करने का विधान कश्यप ने किया है। विकृत स्वरो के प्रयोग के कारण रागभाषा-विभाग ग्रामराग-विभाग से भिन्न है।

१७. याष्टिक

इनकी रचना 'याष्टिकसहिता' कही जाती है, जो आजकल नही मिलती। मतङ्ग ने इनके मत की चर्चा की है और याष्टिकसहिता के श्लोक भी उद्धृत किये हैं। इन्होंने देशी रागो के भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा नाम से तीन भेद बताये हैं। पञ्चश्रुतिक, षट्श्रुतिक और सप्तश्रुतिक स्वर भी इनके मत में हैं।

१८. आञ्जनेय

आञ्जनेय के सिद्धान्तो का प्रतिपादक ग्रन्थ 'आञ्जनेयसहिता' कहा जाता है, इसे ही कुछ लेखको ने 'हनुमत्सहिता' कहा है। इसी का एक नाम 'भरतरत्नाकर' भी कहा जाता है।

आञ्जनेय का मत ही 'हनुमन्मत' कहलाता है। इसमें श्रुतिसख्या अठारह है।

रघुनाथ का कथन है—एक बार आञ्जनेय कदलीवन में पहुँचे, जहाँ याष्टिक मुनि अपने दक्ष इत्यादि शिष्यो को शिक्षा दे रहे थे।

देशी रागो तथा उनके स्वरो की श्रुतियो में शास्त्रवर्णित स्थिति से विरोध देखकर दक्ष इत्यादि शिष्यो ने याष्टिक मुनि से पूछा कि सप्त शुद्ध एव द्वादश विकृत स्वरो में एक स्वर की अधिक से अधिक चार (एव कम से कम दो) श्रुतियाँ हैं, परन्तु देशी रागो में पञ्चश्रुति, षट्श्रुति एव सप्तश्रुति स्वर भी हैं।

इन स्वरो का शास्त्रो से विरोध है, परन्तु इनके परित्याग से राग-लाभ नही होता। इस प्रकार विरोधसम्बन्धिनी शङ्का किये जाने पर याष्टिक मुनि ने इस प्रकार समाधान किया कि शास्त्रविरोध न रहा और रागप्राप्ति भी सम्भव हो गयी।

याष्टिक के शिष्यो की गान-शैली एव याष्टिक मुनि के द्वारा उपदिष्ट पद्धति को घ्यान में रखकर आञ्जनेय ने लक्ष्याविरोधी शास्त्र की रचना की।

आञ्जनेय का मत है—"जिन रागो में श्रुति-स्वर, ग्राम, जाति इत्यादि का नियम नही होता और जिन पर विभिन्न स्थानो की प्रादेशिक छाया होती है, वे 'देशी राग' हैं।"

ऊपर जिन आचार्य्यों की चर्चा की गयी हैं, उनमें पौर्वापर्य्य-सम्बन्ध किसी सीमा तक भले ही स्थापित किया जा सके, परन्तु उनके काल-निर्णय का कोई वैज्ञानिक उपाय अभी तक उपलब्ध नही है।

१९ शार्दूल

इनका अनुमानित काल प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार चौथी या पाँचवी शती ई० है। ये अभिनय के सम्बन्ध में प्रामाणिक लेखक कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थ 'हस्ताभिनय' में हस्ताभिनय के सोलह भेद हैं। यह ग्रन्थ आजकल अनुपलब्ध है। मतङ्ग ने शार्दूल की चर्चा की है। शार्ङ्गदेव एव रघुनाथ की श्रुति-जातियाँ शार्दूलमत के अनुसार हैं, इससे सिद्ध होता है कि स्वरविधि पर भी इनका कोई ग्रन्थ होगा।

२०. राहल (राहुल)

ये एक बौद्ध आचार्य्य थे। इनका अनुमानित काल पाँचवी शती ई० या उससे कुछ पूर्व है। इन्होने 'भरतवार्तिकम्' के रूप में नाट्यशास्त्र की व्याख्या की है। अभिनवगुप्त इत्यादि आचार्य्यों ने 'भरतवार्तिकम्' से श्लोक उद्धृत किये हैं। शार्ङ्गदेव ने भी इनका स्मरण किया है।

२१. मतङ्ग

जनश्रुति के अनुसार इनका काल छठी शती ई० है। प्रो० रामकृष्ण कवि इनका काल नवी शती ई० का मध्य भाग मानते हैं।

मतङ्ग के ग्रथ का नाम 'वृहद्देशी' है, जिसमें आठ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में ताल और वाद्य पर भी विचार किया गया है, परवर्ती सभी आचार्य्यों ने मतङ्ग का मत सम्मानपूर्वक उद्धृत किया है।

मतङ्ग ने काश्यप, नन्दी, कोहल, दत्तिल, दुर्गशक्ति, याष्टिक, वल्लभ, विश्वावसु, शार्दूल, विशाखिल इत्यादि पूर्वाचार्य्यों की चर्चा की है।

इन्होने भरतोक्त सप्तस्वर मूर्च्छनाएँ मानी तो हैं, परन्तु रागसिद्धि के लिए मूर्च्छना के आकार को विस्तृत करके उसे 'द्वादशस्वर' मानने पर वल दिया है। यह द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद नन्दिकेश्वर का कहा जाता है।

आचार्य्य अभिनवगुप्त ने इस द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया है, उसके पश्चात् यह वाद पनप नही सका।

मतङ्ग चित्रावादक थे, इसलिए इन्हें 'चैत्रिक' कहा जाता है। प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार मतङ्ग ही किन्नरी वीणा के आविष्कारक हैं, इनसे पूर्व वीणा पर सारिकाएँ नही होती थी।

कुम्भ के अनुसार मतङ्ग की किन्नरी पर चौदह पर्दे होते थे, वैसे उनकी सख्या अठारह तक हो सकती थी।

आधुनिक वे सभी तन्त्रीवाद्य किन्नरी के विकसित रूप हैं, जिन पर सारिकाएँ विद्यमान हैं। मतङ्ग ने देशी रागो को भी ग्रामो में वर्गीकृत किया है।

२२ कीर्तिधर

ये एक प्राचीन आचार्य्य हैं। आचार्य्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के छठे एव उन्नीसवें अध्याय में इनकी चर्चा की है। ये रस एव सगीत के प्रामाणिक आचार्य्य और नाट्यशास्त्र के व्याख्याता हैं। शार्ङ्गदेव ने भी इनका स्मरण किया है

२३. सुधाकलश

इनका काल नवी शती ई० के लगभग कहा जाता है। ये राजशेखर के गुरु जैनाचार्य्य के शिष्य थे। सुधाकलश की रचना 'सङ्गीतोपनिपत्सार' है।

इसी ग्रन्थ के आधार पर रचित एक कृति 'सङ्गीतोपनिपत्सारोद्धार' है, जिनमें

भोज, तालरत्नाकर, शिवमत, गौरीमत, विश्वावसु, तुम्बरु, वसिष्ठपुत्र, पालक भूपाल इत्यादि की चर्चा है। इसी ग्रन्थ में अर्जुन को विश्वावसु का शिष्य बताया गया है।

इस ग्रन्थ के अन्त में 'भवेश भूपाल' एव 'भवेत्स भूपाल' दो पाठ भिन्न-भिन्न प्रतियो में मिलते हैं। यदि भवेश भूपाल शुद्ध पाठ हो, तो इस ग्रन्थ का रचनाकाल चौदहवी शती ई० होना चाहिए। मिथिलानरेश भवेश के द्वारा १३३० ई० में लिखा एक दानपत्र प्राप्त होता है।

२४ लोल्लट

लोल्लट नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध व्याख्याता हुए हैं, इनकी व्याख्या का नाम 'गुणनिका' है। अभिनवगुप्त ने रस-प्रकरण में इनके मत का खण्डन किया है। रस का प्रत्येक विद्यार्थी इनके नाम से परिचित है। शार्ङ्गदेव ने भी इनका स्मरण किया है।

२५. घण्टक

भरत-नाट्यशास्त्र का सक्षिप्त सस्करण इनकी व्याख्या का विषय बना है। अभिनवगुप्त ने इनकी चर्चा की है।

२६. रुद्रट

ये कश्मीरनिवासी थे, इनका समय नवी शती ई० है। इनका दूसरा नाम 'शतानन्द' था और ये सामवेदी ब्राह्मण थे। राजशेखर ने 'काकु' के सम्बन्ध में इनके मत का खण्डन किया है।

२७ देवराज

ये एक अप्रसिद्ध सङ्गीताचार्य्य हुए हैं, इनका अनुमानित काल नवी शती ई० है।

२८ सागरनन्दी

ये नाटकरत्नकोश और निघण्टुरत्नकोश इत्यादि ग्रन्थो के व्याख्याता हुए हैं। अमरकोश की व्याख्या में सुभूति तथा 'सङ्गीतराज' में कुम्भ ने इनका नाम लिया है। इनका काल ९८० ई० है। अभिनवगुप्त ने इनकी कुछ मान्यताओ का खण्डन भी किया है।

२९ अभिनवगुप्त

प्रत्यभिज्ञादर्शन, नाट्य एव सङ्गीत के प्रामाणिकतम आचार्य्य श्रीमान् अभिनवगुप्त का काल दशम शती ई० का अन्तिम भाग है। ये कश्मीरी थे। इन्होने वितस्ता

नदी के तट पर स्थित प्रवरपुर के एक मठ में 'भरतनाटयशास्त्र' की अमर टीका 'अभिनवभारती' की रचना की।

सस्कृत भापा के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याग्रन्थो में 'अभिनवभारती' का स्थान है। इसमें न तो कोई अनुपयुक्त वात कही गयी है, न कोई दुर्वोध स्थल अस्पष्ट रहने दिया गया है।

रस के सम्वन्ध में उद्भट, लोल्लट, शङ्कुक इत्यादि के मतो का निराकरण करके इन्होने 'रस' पर अपने मत की स्थापना सप्रमाण एव युक्तियुक्त रूप में की है, जो आज भी प्रमाण है।

इन्होने मतङ्ग के द्वादशस्वर-मूर्च्छनावाद का खण्डन किया है। इन्होंने लिखा है कि इनके समय के लक्ष्यवेदियो का कथन है कि मध्यमग्राम में पञ्चम के द्वारा परित्यक्त एक श्रुति का ग्रहण केवल धैवत ही करता हो, इस सम्वन्ध में कोई प्रमाण नही। इससे सिद्ध है कि इनके समय में ग्रामो का सश्लिष्ट प्रयोग होने लगा था। षड्जग्रामीय ऋपभ और अन्तर गान्धार क्रमश मध्यमग्रामीय पञ्चम और धैवत वनते हैं। षड्ज-ग्रामीय ऋपभ के पश्चात् और अन्तर गान्धार से पूर्व शुद्ध गान्धार विद्यमान है, प्रतीत होता है कि त्रिश्रुतिक पञ्चम के पश्चात् भी उसका प्रयोग अभिनवगुप्त के काल में होता था। इनके समय में श्रुत्युत्कर्प से द्विश्रुतिक एव त्रिश्रुतिक स्वर भी अधिक श्रुतियो से युक्त किये जाकर प्रयुक्त होते थे। काकली और अन्तर के प्रयोग से चतु -श्रुति एव त्रिश्रुति स्वर भी न्यूनश्रुति होते थे। अभिनवगुप्त के मत में सभी स्वरो का श्रुतिकृत वैचित्र्य सम्भव है।

अभिनवगुप्त का यह मत देशी रागो में प्रयोज्य स्वरो के सम्वन्ध में है, ग्रामरागो एव जातियो से इस मत का कोई सम्वन्ध नहीं।

शुद्ध रागो के निर्वचन के पश्चात् अभिनवगुप्त ने काश्यप एव दुर्गा इत्यादि के मत के अनुसार छियानवे रागो का वर्णन करके उनका रस और भाव में विनियोग वताया है।

'अभिनवभारती' का आतोद्यविधि भाग अभी तक अप्रकाशित है।

३०. महाराज भोज

प्रसिद्ध विद्याव्यसनी धारानरेश महाराज भोज का काल ९९८ ई० से १०६२ ई० तक है। इनका अलंकारशास्त्र-विपयक विशाल ग्रन्थ 'शृंगारप्रकाश' है, जिसमें छत्तीस 'प्रकाश' हैं।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' भी भोज का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। व्याकरण एव सङ्गीत पर भी इनकी रचनाओ की चर्चा मिलती है। शार्ङ्गदेव ने इनका स्मरण किया है।

महमूद गजनवी के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए सघटित एक राजसघ में इन्होने भी सहायता दी थी ।

३१ नान्यदेव

इनका काल १०८० ई० है । ये मिथिला के कर्णाटजातीय राष्ट्रकूट नरेश थे । इन्होने अपने भाई कीर्तिराज को नेपाल के राजसिंहासन पर अधिष्ठित किया था । इनकी उपाधियाँ 'मोहनमुरारि', 'क्षमापालनारायण' थी ।

नान्यदेव का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरस्वती हृदयालङ्कार' है । इसमें आपिशल, पाणिनि, विशाखिल, काश्यप, मतङ्ग, देवराज, शातातप तथा 'रत्नकोश' इत्यादि की चर्चा है। 'सरस्वतीहृदयालङ्कार' का दूसरा नाम 'भरतभाष्य' भी है ।

नान्यदेव ने गान्धारग्राम की चर्चा करते हुए उससे उत्पन्न रागो को लौकिक व्यवहार के लिए भी उपयुक्त बताया है ।

'ग्रन्थमहार्णव' नामक एक ग्रन्थ को भी नान्यदेव की कृति कहा जाता है ।

३२ त्रिभुवनमल्ल

पश्चिम चालुक्यचक्रवर्ती त्रिभुवनमल्ल का शासनकाल १०७६ ई० से ११२६ ई० तक है। इन्हें जयसिंह भी कहा जाता है। इतिहास में ये 'विक्रमाङ्कदेव' एव 'परमर्दी' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। महाकवि बिल्हण ने 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' नामक महाकाव्य की रचना इन्ही के गुणगान में की है ।

महाराज त्रिभुवनमल्ल की राजधानी 'कल्याण', दक्षिण हैदरावाद का कल्याणी नामक प्रदेश, थी। इनका ग्रन्थ उपलब्ध नही, परन्तु जगदेकमल्ल, शार्ङ्गदेव एव हम्मीर ने सादर इनके मत का उल्लेख किया है ।

३३ सोमेश्वर

ये महाराज त्रिभुवनमल्ल के प्रतापी पुत्र थे, इन्होने अपने पिता के यशोगान में 'विक्रमाङ्काभ्युदय' की रचना की है । इनके द्वारा रचित दूसरा ग्रन्थ 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' है, जिसे एक विश्वकोश समझा जाना चाहिए, इसमें पांच प्रकरण हैं और इन प्रकरणो में सौ अध्याय हैं । यह प्रधानतया राजविद्या का ग्रन्थ है, जिसकी रचना राजकुमारो को शिक्षा देने के लिए हुई है ।

इस ग्रन्थ के चौथे प्रकरण में एक हजार एक सौ सोलह श्लोक सङ्गीत हैं ।

भाषा, विभाषा, क्रियाङ्ग इत्यादि में विभक्त छियानवे देशी रागो का कथन सोमेश्वर ने किया है। उदाहरणो के द्वारा प्रबन्धो का स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ में है और यह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। अनेक आचार्यों ने आदरपूर्वक सोमेश्वरमत का उल्लेख किया है। महाराज सोमेश्वर को भूमल्ल भी कहा जाता है। ये 'कुण्डलीनृत्तम्' के आविष्कर्त्ता एव प्रवर्त्तक हुए हैं। इनका राज्यकाल ११२७–११३४ ई० है।

३४. जगदेकमल्ल

ये महाराज सोमेश्वर के पुत्र थे, इनकी उपाधि 'प्रतापचक्रवर्ती' थी। इनका राज्यकाल ११३४–११४५ ई० है।

इनके ग्रन्थ का नाम 'सङ्गीतचूडामणि' है, जिसमें परमर्दी, सोमेश्वर, पाण्डुसूनु एव 'बृहद्देशी' की चर्चा है। 'प्राकृतछन्द' के रचयिता स्वयम्भू की चर्चा भी इस ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ के पाँच अध्यायो में प्रबन्ध, ताल, राग, वाद्य एव नृत्य का वर्णन हुआ है। वाद्याध्याय और नृत्याध्याय असम्पूर्ण प्राप्त हुए हैं।

सङ्गीतसमयसार के रचयिता पार्श्वदेव (तेरहवी शती ई०) ने 'सङ्गीतचूडामणि' से अनेक श्लोक उद्धृत कर लिये हैं।

मलावार में 'सार' नामक एक ग्रन्थ उपलब्ध है, जो अनेक प्रतियो के आधार पर किया हुआ 'सगीतचूडामणि' का पुन सस्कारमात्र है।

जगदेकमल्ल-कृत एक ग्रन्थ 'नाट्यटिप्पणी' भी है, जिसे नाट्यशास्त्र की सक्षिप्त व्याख्या समझा जाना चाहिए।

जगदेकमल्ल ने जातियो के ध्यान भी दिये हैं।

३५. शारदातनय

इनके पिता का नाम कृष्णभट्ट एव गुरु का नाम दिवाकर था। इनका काल प्राय. ११५० ई० है। शारदातनय के दो ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' और 'शारदीय' हैं।

भावप्रकाशन नाट्य का ग्रन्थ है, परन्तु इनके एक अध्याय में सङ्गीत के सिद्धान्त सार रूप में दिये गये हैं, सङ्गीत के विषय में विस्तृत निरूपण इन्होंने 'शारदीय' में किया है, जिसकी चर्चा 'भावप्रकाशन' में है। 'शारदीय' आजकल अप्राप्य है।

अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, शृंगारप्रकाश, अभिलषितार्थचिन्तामणि, कल्पतरु, योगमाला इत्यादि ग्रन्थ एव मातृगुप्त, शकुक, व्यास, वासुकि इत्यादि आचार्यों

की चर्चा 'भावप्रकाशन' में है। रूपकलक्षण में ब्राह्मणमत एव बौद्धमत का स्मरणीय उल्लेख किया गया है।

३६. हरिपाल

महाराज हरिपाल चालुक्यवशीय सौराष्ट्रनरेश थे, इनकी राजधानी अभिनवपुर (नवानगर) थी। ये महाराज भीमदेव के पुत्र थे और इनकी उपाधि '(विचार-चतुर्म्मुख' थी। इनका काल ११७५ ई० है।

महाराज हरिपाल ने नाट्यविद्या-सम्बद्ध नारियो के लिए कावेरीतीर पर स्थित श्रीरङ्गम् में 'सङ्गीतसुधाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की।

यद्यपि महाराज हरिपाल भरत के अनुयायी प्रतीत होते है, तथापि इन्होने 'भरतार्णव' (नन्दिकेश्वर मत के ग्रन्थ) से भी कुछ सगृहीत किया है। शुद्ध, छायालग इत्यादि वर्गीकरण एव रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग इत्यादि वर्गीकरण भी इनकी चर्चा का विषय बने हैं और सत्तर रागो का निदर्शन इन्होने किया है। महाराज हरिपाल ने करण-प्रकरण में कीर्तिधर एव नन्दी का अनुगमन किया है।

सङ्गीतसुधाकर के प्रथम अध्याय में नृत्य, द्वितीय एव तृतीय में वाद्य और चतुर्थ में गीत का प्रतिपादन है।

३७ सोमराजदेव

इन्होने ११८० ई० में 'सगीत-रत्नावली' की रचना की। सोमराजदेव को सोमभूपाल भी कहा जाता है। ये सम्राट् अजयपाल और भीमपाल के वेत्राधिपति थे। ये स्वय को 'चौलुक्यनृपतिप्रतिहारचूडामणि' कहते हैं। इनकी उपाधि 'नाट्यवेद-विरिञ्चि' थी। सोमराजदेव अत्यन्त दानी थे, इनके पिता जगद्देव ने सिन्धु देश के राजा को पराजित किया था।

'सङ्गीत-रत्नावली' एक प्रौढ रचना है, इसमें नौ अध्याय हैं। इनमें क्रमश, वस्तु-सामान्य, स्वर और ग्राम, प्रबन्ध, दयालीस राग, देशी राग, ताल तथा अन्तिम तीन अध्यायो में वाद्य का वर्णन है।

इन्होने एकतन्त्री वीणा (ब्रह्मवीणा) एव आलापिनी वीणा के लक्षण भी दिये हैं और नवीन प्रबन्धो की रचना भी की है।

३८ शार्ङ्गदेव

बारहवी शती ई० में सम्भवत राजनीतिक अस्थिरता के कारण कश्मीर के एक विद्वान् ब्राह्मण श्रीभास्कर को दक्षिण में आश्रय लेना पडा।

श्रीभास्कर के पुत्र श्रीसोढल देवगिरि (दौलताबाद) के यादवनरेश भिल्लम और तत्पश्चात् उनके पुत्र सिंघण (राज्यकाल १२१०-१२१७ ई०) के आश्रय में रहे।

श्रीसोढल के पुत्र आचार्य शार्ङ्गदेव भी महाराज सिंघण के आश्रित थे। सिंहभूपाल (चौदहवी शती) का कथन है कि आचार्य शार्ङ्गदेव से पूर्व समस्त सङ्गीत-पद्धति बिखर गयी थी, जिसे स्पष्ट रूप से शार्ङ्गदेव ने सँजो दिया।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने जिन-जिनके मत का मन्थन करके अपनी अमर कृति 'सङ्गीत-रत्नाकर' का प्रणयन किया वे हैं—सदाशिव, शिवा, ब्रह्मा, भरत, काश्यप, मतङ्ग, याष्टिक, दुर्गा, शक्ति, शार्दूल, कोहल, विशाखिल, दत्तिल, कम्बल, अश्वतर, वायु, विश्वावसु, रम्भा, अर्जुन, नारद, तुम्बुरु, आञ्जनेय, मातृगुप्त, रावण, नन्दिकेश्वर, स्वाति, गण, बिन्दुराज, क्षेत्रराज, राहल, रुद्रट, नान्यदेव, भोज, परमर्दी, सोमेश्वर, जगदेक, नाट्यशास्त्र के व्याख्याता लोल्लट, उद्भट, शकुक, अभिनवगुप्त, कीर्तिधर तथा अन्य अनेक सङ्गीतपारङ्गत।

सङ्गीत-रत्नाकर उपलब्ध सङ्गीतग्रन्थो का मुकुट है। केशव, सिंहभूपाल तथा कल्लिनाथ ने सस्कृत में तथा विट्ठल ने तेलुगु में इस पर टीका की है। इनकी हिन्दी (ब्रजभाषा) टीका के कर्ता कोई गङ्गाराम हुए हैं।

रत्नाकर में प्राचीन एव सामयिक सङ्गीत का विस्तृत वर्णन है। सात अध्यायो में क्रमश स्वर, राग, प्रकीर्ण विषय, प्रबन्ध, ताल, वाद्य एव नृत्य का विशद वर्णन शार्ङ्गदेव ने किया है, इसी लिए इनका ग्रन्थ 'सप्ताध्यायी' कहलाता है।

रत्नाकर मूर्च्छना-पद्धति का ग्रन्थ है, फलत मेल-पद्धति या ठाठपद्धति की मान्यताओ से सर्वथा मुक्त होकर ही इस ग्रन्थ का समझा जाना सम्भव है।

शार्ङ्गदेव ने दुर्गा इत्यादि के मतो का आश्रय लेकर दो सौ चौंसठ रागो का निरूपण किया है।

मेल-पद्धति के विचारक सङ्गीतसुधाकार रघुनाथ ने रत्नाकर के विषय को न समझने के कारण शार्ङ्गदेव का उपहास किया है। षाड्जी जाति की मतङ्गनिर्दिष्ट द्वादशस्वर-मूर्च्छना धैवतादि को रघुनाथ 'मेल' समझे हैं, जब कि मतङ्ग या शार्ङ्गदेव के ग्रन्थो में 'मेल' शब्द की चर्चा तक नही है।

प्रो० के० वासुदेव शास्त्री का मत है कि पश्चाद्वर्ती रघुनाथ जैसे ग्रन्थकार सगीत-रत्नाकर तथा उससे पूर्व के ग्रन्थो को समझने में असमर्थ रहे हैं।

शार्ङ्गदेव द्वारा 'तुरुष्क गौड' एव 'तुरुष्क तोडी' चर्चा यह प्रमाणित करती है कि दक्षिण तक में उस समय मुस्लिम सङ्गीत का प्रभाव पड चुका था।

रत्नाकरवर्णित रागो में अनेक राग ऐसे हैं, जिनके साथ मालव, गौड, कर्णाट, वङ्गाल, द्रविड, सौराष्ट्र, दक्षिण, गुर्जर-जैसे शब्द सलग्न है, जो इन रागो का विभिन्न प्रदेशो के साथ सम्बद्ध होना सिद्ध करते हैं।

आचार्य्य शार्ङ्गदेव ने लिखा है कि मेरे समय में वङ्गाल, भैरव, वराटी, गुर्जरी, वसन्त, धन्नासी, देशी, देशाख्या इत्यादि रागाङ्गो, डोम्बक्री, प्रथममञ्जरी, कामोदा जैसे भाषाङ्गो, गौडकृति, देवकृति जैसे क्रियाङ्गो तथा भैरवी, मल्हार, कर्णाट गौड, तुरुष्क गौड, द्राविड गौड, ललिता इत्यादि उपाङ्गो के रूप में सर्वथा परिवर्तन हो गया है।

रागो के वर्तमान रूपो के आधार पर रागवर्गीकरण की कुछ पद्धतियो को असङ्गत समझनेवाले व्यक्तियो के लिए शार्ङ्गदेव का यह कथन आँख खोल देनेवाला है।

रत्नाकर के अनेक रागो का प्रत्यक्षीकरण करके 'वाक्' और 'गेय' की रचना हम कर चुके हैं।

३९ ज्याय सेनापति

ये वारङ्गल-नरेश महाराज गणपति के साले एव सेनाध्यक्ष थे। गणपति स्वय भी शास्त्रकार थे, परन्तु उनकी कृति उपलब्ध नही।

ज्याय सेनापति ने 'नृत्तरत्नावली' 'वाद्यरत्नावली' एव 'गीतरत्नावली' की रचना की। नृत्तरत्नावली के अतिरिक्त अन्य दोनो ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

नृत्तरत्नावली के पूर्वार्द्ध में 'मार्ग' एव उत्तरार्ध में 'देशी' नृत्त पर अच्छा विचार किया गया है। इसका रचना-काल १२४९ ई० है।

ज्याय सेनापति ने कीर्तिधर, तण्डु, अभिनवगुप्त एव सोमेश्वर के मतो में यत्र-तत्र कुछ सशोधन किये है। इनके ग्रन्थ में 'आत्मचरित' नामक किसी ग्रन्थ की चर्चा भी है।

४०. पाल्कुरिकि सोमनाथ

ये एक तेलुगु लेखक हैं। इनके ग्रन्थ 'पण्डिताराध्यचरितम्' का रचनाकाल प्राय· १२७० ई० है। इनके द्वारा उल्लिखित वीणाएँ वीणोत्तमा, ब्रह्मवीणा, कैलासवीणा, सारङ्गवीणा, कूर्मवीणा, आकाशवीणा, मार्गवीणा, रावणवीणा, गौरीवीणा, अम्बिका-वीणा, वाणवीणा, काश्यपवीणा, स्वयम्भूवीणा, भुजङ्गवीणा, भोगवीणा, किन्नरवीणा, त्रिस्वरी वीणा, सरस्वतीवीणा, मोल्लिवीणा, मनोरथवीणा, गणनाथवीणा, रावण-

हस्ता, चित्रिका, नाटयनागरिका, कुम्भिका, विपञ्ची, कसरि-वीणा, परिवारि-वीणा, स्वरमण्डल, घोषवती, औदुम्वरी, तन्त्रीसागर एव अम्वुज-वीणा हैं।

मृदङ्गो में समहस्त, वैसालम् इत्यादि की चर्चा है।

नन्दी के एक सौ आठ भङ्ग, वश के उनचास भेद, वाईस गमक, एक सौ आठ राग, वारह वाचक, पाँच स्वादु, तीन स्थान, वत्तीस गुद्ध ठाय, पन्द्रह सालग ठाय, अडतालीस लास्य रङ्ग, वीस अङ्गहार, इत्यादि वस्तुएँ इस ग्रन्थ के पर्वत-प्रकरण में उद्वृत हैं। इनमें से अधिकाश अन्यत्र अज्ञात हैं।

४१. महाराणा हम्मीर

'तिरिया तेल, हमीर-हठ, चढै न दूजी वार' लोकोक्ति में जिन स्वाभिमानी नरेश महाराणा हम्मीर की चर्चा है, वे प्रतापी योद्धा होने के अतिरिक्त सगीत के धुरन्धर आचार्य एव ग्रन्थकार भी थे।

ये 'शाकम्भरी' प्रदेश के अधिपति थे, इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शृङ्गारहार' की रचना १३०० ई० से पूर्व की।

शृङ्गारहार में ब्रह्ममत के 'गान्धर्वामृतसागर' से उद्धरण दिये गये हैं। अन्तिम अध्याय में रसो के उदाहरण 'अमरुकशतक', 'उत्तररामचरित', 'सप्तशती' (प्राकृत), 'मेघसन्देश', 'कुमारसम्भव', 'वीरचरित', 'नागानन्द' एव 'शकुन्तला' (नाटक) से लिये गये हैं।

महाराणा हम्मीर ने अन्य लेखको के अतिरिक्त अर्जुन, याष्टिक, रावण, दुर्गाशक्ति, अनिल, कोहल, कम्वल, जैत्रसिंह, रुद्रट, भोज, विक्रम, जगदेव, केशिदेव, सिंहण, गणपति एव जयसिंह की प्रशसा की है।

ये शैव थे। 'प्रसिद्धालकारो' का वर्णन इन्होंने किया है। इनका कथन है कि जातियो की उत्पत्ति सामवेद से हुई है। इन्होंने प्राचीन रागो के अतिरिक्त याष्टिक के वीस भाषारागो एव पन्द्रह जनक रागो का वर्णन भी किया है। तिरपन देशी राग भी इन्होंने दिये हैं। 'रूप' और 'गीत' पर पृथक्-पृथक् अध्याय लिखे हैं। मोक्षदेव ने इस ग्रन्थ से वहुत कुछ जैसा का तैसा ले लिया है।

हम्मीर ने तालाध्याय में एक सौ वीस ताल दिये हैं। एकतन्त्री, नकुला, किन्नरी और आलापिनी के विषय में इन्होंने लिखा है।

इन्होंने दृष्टियो का वर्णन किया है, फिर पुष्पाञ्जलि की चर्चा की है। इनके ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय नाट्य पर है।

४२· अल्लराज

ये महाराणा हम्मीर के पुत्र थे। इनकी रचना 'रसतत्त्व समुच्चय' में पाँच अध्याय हैं। आदिम चार अध्यायो में 'सगीत' एव अन्तिम अध्याय में साहित्य का वर्णन है। 'रसतत्त्वसमुच्चय' एक प्रौढ रचना है।

४३. पार्श्वदेव

पार्श्वदेव जैनमतावलम्वी आचार्य थे। इनके पिता ब्राह्मण थे। पार्श्वदेव का काल प्राय १३०० ई० है। इनके ग्रन्थ 'सङ्गीतसमयसार' में दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे वेदमूलक 'सङ्गीत' है, द्वितीय अध्याय में नाडी से सम्बद्ध विचार हैं। अवशिष्ट अध्याय देशी सङ्गीत से सम्बद्ध है।

सिहभूपाल ने 'रत्नाकर' की टीका में पार्श्वदेव के ग्रन्थ से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।

पार्श्वदेव ने जाति-गान को मार्गसगीत कहा है। इन्होने छियासठ श्रुतियो के नाम दिये हैं, जो 'कोहल' के अनुसार हैं।

तानयज्ञो पर विचार करते हुए पार्श्वदेव ने कहा है कि गायको को तानो के द्वारा यज्ञफल की प्राप्ति होती है।

तृतीय अध्याय में पार्श्वदेव ने रागो पर विचार किया है। इनके ग्रन्थ को प्रामाणिक रचना समझा जाता है।

४४ गोपाल नायक

तेरहवी शती ई० में ये सङ्गीत के प्रामाणिक आचार्य, रचनाकार एव कलाविद् हुए हैं। कुछ लोगो के अनुसार ये देवगिरि के राजा के आश्रित थे, परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ प्रमाण नही।

हमारी दृष्टि में ये उत्तर-भारतीय आचार्य थे। कारण निम्नलिखित हैं —

(१) इनके प्रसिद्ध गुरु 'वैजू' थे। वैजनाथ का सक्षेप 'वैजू' हो जाना उत्तर-भारतीय भापाओ तथा व्रज-प्रदेश की विशेपता है।

(२) अनेक प्रामाणिक ध्रुवपदो में वैजू गोपाल को 'गुपला' कहकर सम्वोधित करते हैं। 'गुपला' अपभ्रश भी हिन्दी की विशेपता है।

(३) दक्षिण से मलिक काफूर के द्वारा जो सङ्गीतज्ञ वलात् लाये गये, उनमें इनका नाम नहीं।

(४) इनके कुछ सुरक्षित ध्रुवपदो से साक्ष्य मिलता है कि इन्होंने नान्यदेव मिथिलानरेश की कृति से प्रभाव ग्रहण किया।

(५) इनके एक ग्रन्थ 'तौर्य्यत्रिकसार' का पता हमें चला है, जो ब्रजभाषा में है। उसके अनेक ध्रुवपद तत्कालीन स्थिति एव यवनो द्वारा सङ्गीत में किये जानेवाले परिवर्तनो की चर्चा करते हैं।

इनके सम्बन्ध में डागुर वश के एक वृद्धतम प्रतिनिधि के पास सुरक्षित ध्रुवपदो से ये तथ्य प्रमाणित होते हैं —

गोपाल, वैजू के प्रिय एव होनहार शिष्य थे। इन्हें गान्धार स्वर पर जब विलक्षण अधिकार हो गया तब इन्हें अभिमान हुआ और ये निकल खडे हुए। दिल्ली आये, और इनकी चर्चा अलाउद्दीन खिलजी तक पहुँची। खिलजी के समक्ष इन्होंने सस्कृत का ध्रुवपद गाया, जब वह उस ध्रुवपद को नही समझा, तब इन्होंने हिन्दी में ध्रुवपद गाये।

मुसलमानो ने षड्ज-मध्यम-भाव का विनाश करके षड्ज-पञ्चम-भाव की स्थापना की। मूर्च्छना-पद्धति के स्थान पर एक और पद्धति (मुकाम-पद्धति) अपनायी। वीणा में सारें अचल कर दी। फलतः एक राग की दो 'सरगम' हो गयी। स्वरो के नाम बदल गये, सात प्रकट रहे और सात गुप्त।

उधर अपने प्रतिभाशाली शिष्य के वियोग में वैजू 'बावरे' हो गये और ढूंढते-ढूंढते उन्होंने यवनो में फँसे हुए गोपाल को पाकर डाँटा और कहा कि तूने केवल एक गान्धार सिद्ध किया और तुझे इतना अभिमान हो गया, तेरे अवशिष्ट स्वरो की स्थिति क्या है? तू यवनो में आ फँसा, तूने विद्या दी नही, छिना दी। इन लोगो को श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना इत्यादि का भेद न बता। शत्रुओ पर नागपाश डाल, जब कोई गुणी इस जाति मे उत्पन्न होगा, तब यह भेद खुलेगा।

एक सहस्र वैजू के और एक सहस्र अपने ध्रुवपदो का संग्रह गोपाल ने किया। नान्यदेव के भरतभाष्य का अध्ययन करनेवाले गोपाल नायक का पाण्डित्य असन्दिग्ध है।

कल्लिनाथ एव वेंकट मखी ने इनकी चर्चा सम्मानपूर्वक की है।

४५. अमीर खुसरो

इस महान् प्रतिभाशाली कूटनीतिज्ञ, विद्वान्, कवि एव सगीतज्ञ का जन्म १२५४ ई० में हुआ। इन्होंने दिल्ली के सिंहासन पर क्रमश ग्यारह सम्राटो को देखा था।

ये तुर्की, फारसी, अरवी एव हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वान् थे, सस्कृत का भी कुछ ज्ञान इन्हें था। हिन्दी साहित्य के इतिहास, सूफी परम्परा, इतिहास, फारसी साहित्य एव

सङ्गीत के विद्यार्थियो के लिए इनका नाम विस्मरणीय नही। निस्सन्देह इन जैसी प्रतिभाओ से ससार कही शताब्दियो में सुशोभित होता है।

ये सूफी थे और प्रसिद्ध सूफी सन्त हजरत निजामुद्दीन के मुरीद। इनमें नकल करने की प्रवृत्ति वहुत अधिक थी। फारसी रचनाओ को सम्मुख रखकर वैसी ही रचना करने में इनको आनन्द आता था।

ईरानी सङ्गीत का इन्हें सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक ज्ञान था और भारतीय सगीत का केवल व्यावहारिक। भारतीय सिद्धान्तो से इन्हें परिचय न प्राप्त हो सका।

मुसलमान इनका नाम 'हजरत अमीर खुसरो रहमतुल्ला अलेह' कहकर लेते हैं।

इन्होने अपने समय दिल्ली के आसपास प्रचलित रागो का सम्भवत मुकाम-पद्धति से वर्गीकरण किया। मूर्च्छना-पद्धति का ज्ञान इन्हें नही था।

ये ईरानी और भारतीय सगीतज्ञो में विवाद कराते और सार-ग्रहण की चेष्टा करते थे।

ईरानी सङ्गीत पर प्रागैतिहासिक काल से भारतीय प्रभाव था, इसी लिए वह भारतीय रागो में घुल-मिल गया।

इन्होंने नये सकीर्ण रागो, नये तालो की रचना की। कौल और तराना की रचना इन्होने अवुलफज्ल के कथनानुसार 'समित' और 'तातार' की सहायता से की। सम्भव है 'समित' शव्द भारतीय गायको को किसी 'समिति' का वाचक हो।

खयाल के प्रवर्तक भी यही कहे जाते हैं।

सितार और तवले की चर्चा खुसरो के किसी ग्रन्थ में कही नही है। ईरानी सगीत ने खुसरो के वहुत पूर्व से 'सहतार' की चर्चा है, जो भारतीय 'त्रितन्त्री' शव्द का ठीक-ठीक पर्याय है।

वाजिदअली शाह ने कहा है—"खुसरो ने अपने आविष्कारो से उन नियमो एव वाद्यो का विनाश कर दिया, जो सहस्रो वर्षों से चले आते थे। खुसरो के शिष्यो ने अपनी धृप्टता में आकर उन कलावन्तो से झगडा किया, जो महादेव के समय से चली आनेवाली परम्पराओ के प्रतिनिधि थे। खुसरो ध्रुवपद के नही, खयाल के नायक थे।"

औरगजेवकालीन लेखक फकरुल्लाह ने एक जनश्रुति के रूप में कहा है—"खुसरो ने छिपकर अलाउद्दीन के दरवार में निमन्त्रित गोपाल नायक का सगीत सुना, फिर उन्ही रागो की 'नकल' करके गोपाल नायक को चकित कर दिया और कहा कि मैं पहले ही इन रागो का आविष्कार स्वय कर चुका हूँ।"

अमीर खुसरो के अधिकाश आविष्कार आज काल के गर्भ में समा चुके हैं।

४६ शृङ्गारशेखर

ये वारङ्गल तैलङ्गाना के निवासी थे। इनकी रचना 'अभिनयभूषण' है। प्रताप-रुद्र (१३३० ई०) के सभासद् वीरभल्लट को इन्होंने अपना गुरु कहा है।

'अभिनयभूषण' पर तामिल टीका भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का भरत-पद्धति से सम्बन्ध खोजना कठिन है। इसमें शुक्राचार्य, स्कन्द, बृहस्पति, कोहल, दुर्वासा, अर्जुन, वायुसूनु, भरतार्णव, नन्दिकेश्वर, याज्ञवल्क्य इत्यादि के उद्धरण हैं।

शृङ्गारशेखर ने नक्षत्रों एवं राशियों का साङ्गीतिक वर्णन किया है।

पुरुष एवं स्त्री-रागों की चर्चा भी इन्होंने की है। इनके अनुसार पुरुष राग आठ हैं, जिनके नाम भूपाल, भैरव, श्री, कलपञ्जर, वसन्त, वङ्गाल, मालव एवं टक है।

भूपाल की पत्नियाँ—
वेलाकुली, मलहरी और मौलि,
भैरव की पत्नियाँ—
देवक्रिया, मेघरञ्जी और करञ्जी,
श्रीराग की पत्नियाँ—
हिन्दोली और माहुरी,
कलपञ्जर की पत्नियाँ—
शकराभरण, देशी और ललिता,
वसन्त की पत्नियाँ—
रामक्रिया, वराली और कौलिका,
मालव की पत्नियाँ—
गुण्डक्रिया और गुर्जरी,
वङ्गाल की पत्नियाँ—
वन्यासिका, काम्भोजी एवं कर्णाटगौडिका,
नाटक या नाट की पत्नियाँ—
नारायण, गौड, देशाक्षी और आहिरी हैं।

कुछ लोग राग-रागिनी-वर्गीकरण को केवल उत्तर भारत की विशेषता मानते हैं, परन्तु दाक्षिणात्य शृङ्गारशेखर का उपर्युक्त वर्गीकरण इस धारणा को भ्रान्त सिद्ध करता है।

४७ शम्भुराज

ये काञ्चीनरेश थे। इनका काल १३५० ई० है। इनका ग्रन्थ है 'शम्भुराजीय'। पण्डित-मण्डली ने अपने उपजीव्य ग्रन्थो मे 'शम्भुराजीय' की चर्चा की है।

४८. मदनपाल

ये दिल्ली के सम्राट् थे और १३७५ ई० में दिल्ली पर इनका अधिकार था। ये एक तेलुगु राजकुमार थे और इन्होने धर्म्मशास्त्र, निघण्टु एव सङ्गीत पर कई ग्रन्थ लिखे थे। विश्वेश्वर नामक एक महाविद्वान् इनके सहायक थे। इनके ग्रन्थ 'आनन्द-सञ्जीवन' की चर्चा कुम्भकर्ण ने 'नृत्यरत्नकोश' एव पण्डितमण्डली ने 'सङ्गीत-शिरोमणि' में की है।

मदनपाल के ग्रन्थ का आरम्भ तालाध्याय से है, जिसमें एक सौ तीस ताल और तत्पश्चात् प्रस्तार हैं। दूसरे अध्याय में राग और तीसरे अध्याय में प्रबन्ध हैं, जो अकस्मात् समाप्त हो जाता है।

यह ग्रन्थ सक्षिप्त है। रागलक्षणो में रागो की तानें दी गयी हैं। रचना-काल १३५० ई० है।

४९ विद्यारण्य

ये अनेक शास्त्रो के प्रकाण्ड पण्डित एव उद्धारक थे। इन्ही की सहायता से १३३६ ई० में तुङ्गभद्रा नदी के तट पर विजयनगर साम्राज्य की आधारशिला रखी गयी। विद्यारण्य माधवाचार्य इस साम्राज्य के महामन्त्री थे और हरिहर प्रथम नरेश।

नवस्थापित विजयनगर में देश भर के विद्वान् एव गुणियो को आकृष्ट करने का श्रेय श्री विद्यारण्य को है।

के० वासुदेव शास्त्री का कथन है कि अत्यन्त प्रयत्न करने पर श्री विद्यारण्य को प्रचलित पचास राग मिले, जिनका वर्गीकरण उन्होने पन्द्रह मेलो में किया।

हमारी दृष्टि में मेल-पद्धति ईरानी मुकाम-पद्धति का रूपान्तर है, जो सारिकाओ का अचल रूप लिये उत्तर भारत से पहुँची, विद्यारण्यजी के पन्द्रह मेलो में 'हेजुज्जी-मेल' भी ईरानी 'हिजाज' का प्रभाव विद्यारण्यजी की मेल-पद्धति पर प्रमाणित करता है।

मूर्च्छना-पद्धति उन समय सुबोध नही रही थी, फलत वादको के लिए सुकर मेल-पद्धति चल पडी।

मेल शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विद्यारण्यजी ने किया है, उनका ग्रन्थ 'सगीत-सार' था, जो आज उपलब्ध नही।

रघुनाथ ने विद्यारण्यजी के मत का वर्णन किया है।

विद्यारण्यजी के पन्द्रह मेल (१) नट्टा, (२) गुर्जरिका, (३) वराटिका, (४) श्री (५) भैरविका, (६) शकराभरण, (७) आहरिका, (८) वसन्तभैरवी, (९) सामन्त, (१०) काम्बोदिका, (११) मुखारिका, (१२) शुद्धरामक्रिया, (१३) केदारगौड, (१४) हीजुज्जी, (१५) देशाक्षिका नामक रागो मे प्रयोज्य है, इन्ही में अन्य प्रचलित राग भी आ जाते थे।

५०. भुवनानन्द

ये बङ्गाल-निवासी थे। इनका काल १३५० ई० है। ये जन्मना मैथिल थे और इनकी उपाधि 'कविकण्ठाभरण' थी। इनका ग्रन्थ 'विश्वप्रदीप' है, जिसमें विविध विषय हैं। सङ्गीतभाग का नाम 'सङ्गीतालोक' है, जिसमें २६०० श्लोक हैं। सगीतालोक के छ अध्यायो में क्रमश नाद, राग, ताल, गीत, प्रकीर्णक एव वाद्य का वर्णन है।

भुवनानन्द ने शिव, नन्दिकेश्वर, शिवा, तुम्बुरु, वायु, नारद, कम्बल, अश्वतर, विश्वावसु, काश्यप, शार्दूल, परमर्दी, कुण्डिन, कोहल, शक्ति, श्रीभरत, याष्टिक, दशग्रीव, उद्भट, लोल्लट, शकुक, अभिनवगुप्त, विशाखिल, श्रीभूवल्लभ, अनिलज, लाटक (?) मातृगुप्त इत्यादि का स्मरण किया है।

५१. देवेन्द्रभट्ट

ये महाकवि रुद्राचार्य के शिष्य एव ग्वालियर के निवासी थे। इनका काल १३५० ई० है। इनकी रचना 'सङ्गीतमुक्तावली' में शार्ङ्गदेव इत्यादि की भी चर्चा है। पण्डितमण्डली ने अपने सहायक ग्रन्थो में 'सगीतमुक्तावली' की चर्चा की है।

मुक्तावली में नवीन नृत्यप्रक्रिया पर भलीभाँति विचार किया गया है। आन्ध्र, महाराष्ट्र, कर्णाटकी शैलियाँ भी दी गयी हैं।

५२. भट्टमाधव

ये वाराणसी–निवासी थे। इन्होंने 'सङ्गीत-दीपिका' या 'सङ्गीतचन्द्रिका' की रचना की है। नन्द्यावर्त, जीमूत और सौभद्र ग्राम इनके द्वारा चर्चा का विषय बने हैं और इनके द्वारा राग-रागिनी-वर्गीकरण अपनाया गया है। इनके ग्रन्थ का रचना-काल प्राय १४०० ई० है। रघुनाथ ने सगीतसुधा में इनकी चर्चा की है।

५३. विप्रदास

इनकी उपाधियाँ शुक्लपण्डित, सत्यवाक्, शिववल्लभ, विचित्रक, विचित्रवाक्, करणाग्रणी और प्रभुसूरि थी। इनके पिता 'निधिकर' थे।

विप्रदास के ग्रन्थ का नाम 'सङ्गीतचन्द्र' है, जिसका भाग 'नृत्यप्रकाश' ही उपलब्ध है। विप्रदास ने सिंगण, माधव, शार्ङ्गदेव तथा अन्य कुछ पूर्ववर्ती आचार्यो की चर्चा की है। इनकी शैली प्रौढ एव सक्षेपप्रिय है। इन पर अभिनवगुप्त का पर्याप्त प्रभाव है।

५४ वेम

ये कोण्डवीटि नगर के रेड्डिवशीय राजा थे। इनकी रचना 'सङ्गीतचिन्तामणि' है। इस ग्रन्थ के वही खण्ड उपलब्ध है, जिनमें वाद्य एव नृत्य का वर्णन है। इन दोनो खण्डो में छ सहस्र श्लोक है।

इनका आनुमानिक काल चौदहवी शती ई० है।

५५. सिगणार्य

ये वेम तथा प्रौढ देवराय इत्यादि राजाओ के आश्रय में रहे थे। इन्होने 'भरत-मिति' नामक ग्रन्थ लिखा, जो नाट्यशास्त्र की व्याख्या मात्र है। इनके पौत्र विट्ठल ने तेलुगु में सङ्गीतरत्नाकर की टीका की है।

विप्रदास, वेम, हम्मीर इत्यादि ने एक और सिंगणार्य की चर्चा की है।

५६ सिगभूपाल या सिहभूपाल

इनका समय चौदहवी शती ई० है। ये सगीतरत्नाकर के सर्वप्रथम टीकाकार है। अपनी एक अन्य रचना 'रसार्णवसुधाकर' में इन्होने अपने वश का परिचय दिया है।

ये शूद्र जातीय राजा थे। इनके पिता अनपोत (उपनाम अनन्त) और पितामह दाचन थे, जिन्होने पाण्ड्यनरेश को पराजित करके 'खड्गनारायण' उपाधि धारण की।

सिहभूपाल के अग्रज देवगिरीश्वर का स्वर्गवास शीघ्र ही हो गया। विन्ध्यपर्वत एव श्रीशैल के मध्य में स्थित 'रागाचल' सिहभूपाल की राजधानी थी।

रत्नाकर की टीका 'सगीत-सुधाकर' में सिंहभूपाल ने कहा है कि शार्ङ्गदेव के उदय से पूर्व भरत इत्यादि के ग्रन्थ दुर्बोध हो गये थे और सगीतपद्धति बिखर गयी थी। शार्ङ्गदेव ने उन्हे एकत्र एव सुबोध कर दिया। सगीतरत्नाकर के मर्म को गिने-चुने

लोग ही जानते हैं, सिंहभूपाल ही उसकी व्याख्या करने में समर्थ है, क्योंकि उसने ही चिरन्तन अभ्यास से भरत इत्यादि के दुर्बोध ग्रन्थो को समझा है।

सिंहभूपाल की टीका सुबोध एव महत्त्वपूर्ण है। इसमें 'सङ्गीतसमयसार', 'नन्दिकेश्वर', मतङ्ग, नैषध, वेदान्तकल्पतरु, विचार-चिन्तामणि, दत्तिल पर प्रयोग-स्तवक व्याख्या इत्यादि की चर्चा है।

सिंहभूपाल ने लिखा है कि लोक में वैणिक यथेच्छ स्थानो पर स्वरो की स्थापना करते हैं।

५७. पण्डितमण्डली

जौनपुर के सुलतान इब्राहीम शर्की (१४००-१४४० ई०) के समय मलिक सुलतान कड़ा का अधिपति था। इसके पुत्र बहादुर मलिक ने सङ्गीत एव नाट्य पर अनेक ग्रन्थ एकत्र किये तथा भारत के प्रत्येक भाग से अनेक शास्त्रो के पण्डितो को बुलाकर इकट्ठा किया।

उस पण्डित-मण्डली के समक्ष बहादुर मलिक ने कहा कि पण्डितवृन्द मेरा ग्रन्थ-सग्रह देखें और उसके आधार पर एक ऐसे ग्रन्थ की रचना करें, जिसमें सङ्गीत-सम्बन्धी मतभेदो का निर्णय हो। गम्भीर चिन्तन एव विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप इस ग्रन्थ में सङ्गीतसम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त एव निष्कर्ष होने चाहिए।

बहादुर मलिक के विद्या-प्रेम के परिणामस्वरूप उन समस्त पण्डितो के सम्मिलित प्रयत्न के द्वारा 'सङ्गीतशिरोमणि' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ की रचना १४२९ ई० में हुई।

सगीत-शिरोमणि की प्रति खण्डित रूप में उपलब्ध हुई है, फलत इसके कर्ताओ के नाम तो नही मिलते, आधारग्रन्थो के नाम प्राप्त हैं। वे आधारग्रन्थ, सगीतसागर, रागार्णव, सङ्गीतदीपिका, सङ्गीतचूडामणि, वादिमत्तगजाकुश, सगीतरत्नाकर, सङ्गीतदर्पण, तालार्णव, सङ्गीतकल्पवृक्ष, सङ्गीतरत्नावली, नृत्यरत्नावली, सङ्गीत-मुद्रा, सगीतोपनिषत्सार, सगीतसारकलिका, सङ्गीतविनोद, आनन्दसञ्जीवन, मुक्ता-वली तथा अन्य अनेक ग्रन्थ हैं।

'सङ्गीतशिरोमणि' में सम्भवत पाँच या छ प्रकाश रहे होंगे, अब केवल प्रथम एव चतुर्थ उपलब्ध हैं।

प्रथम अध्याय का परिशीलन बताता है कि इस ग्रन्थ के सग्राहक व्यर्थ विस्तार से बचे हैं। जिस विषय मे मतभेद है, वहाँ सभी सम्प्रदायो की चर्चा की गयी है।

'सगीतशिरोमणि' का प्रबन्ध भाग भी पृथक् मिला है, जिसमें परमर्दी, अर्जुन, सोमेश्वर, प्रताप पृथ्वीपति आदि की चर्चा है।

	ग्रन्थ	लेखक	संस्करण
			सस्करण (द्वितीय)
२०	सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित	तत्त्वबोधिनी सहित, बम्बई-सस्करण
२१	सङ्गीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव	अड्यार-सस्करण एव आनन्दाश्रम-सस्करण
२२	सुधाकर	सिहभूपाल	,, ,, ,,

अनुक्रमणिका

ध

भ

म